संघर्ष या सहयोग ?

[प्रिंस क्रोपाटकिन की Mutual Aid नामक पुस्तक का अनुवाद]

अनुवादक

श्री शोभालाल गुप्त

प्रकाशक

सस्ता-साहित्य-मण्डल,

अजमेर ।

दो शब्द

सन् ३० की बात है। मैं सविनय अवज्ञा आन्दोलन के सम्बन्ध में स्थानीय जेल में क़ैद था। उस समय मुझे रूस के क्रान्तिकारी लेखक प्रिंस क्रोपाटकिन की यह रचना पढ़ने का अवसर मिला। मुझे प्रतीत हुआ कि यह पुस्तक एक अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न पर नई रोशनी डालती है। प्रकृति में जो संघर्ष का तत्त्व है उसपर अब तक इतना अधिक ज़ोर दिया गया है कि उसने हमारी सारी विचार-सरणि को ही दूषित बना दिया है। आप इतिहासों के पन्ने उलट जाइये, आपको युद्धों के वर्णन के अलावा उनमें और कुछ दृष्टिगोचर न होगा। किन्तु यह सिक्के की एक बाज़ू है। प्रकृति में एक और तत्त्व है और वह है पारस्परिक सहयोग का तत्त्व, जिसका कि सृष्टि के विकास में संघर्ष की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भाग रहा है। संसार में हमें जितनी भी रचनात्मक प्रतिभा दिखाई देती है उसका कारण पारस्परिक सहयोग के तत्व में निहित है। इस तथ्य को अपने गहरे अध्ययन और प्रत्यक्ष अनुभव के बल पर प्रिंस क्रोपाटकिन ने इस खूबी के साथ प्रतिपादित किया है कि मैं उनकी इस रचना को हिन्दी पाठकों के सम्मुख रखने के लोभ को संवरण न कर सका और उसका अनुवाद करने में जुट गया।

यद्यपि मूल पुस्तक को प्रकाशित हुए क़ाफी समय बीत चुका है, फिर भी मेरी मान्यता है कि उसके महत्त्व में कोई कमी नहीं आई है। अवश्य ही बाद की घटनाओं के आधार पर सहयोग के तत्त्व की पुष्टि में और बहुत कुछ लिखा जा सकता है, किन्तु इस कारण जो कुछ लिखा गया है वह निरर्थक नहीं हो जाता। लेखक ने कीड़ों-मकोड़ों, पशु-पक्षियों, जलचरों-थलचरों, प्रारम्भिक मनुष्यों, बर्बर जातियों, मध्यकालिक नगरों और आधुनिक युग के उदाहरण इतनी प्रचुर संख्या में देकर अपने मत का प्रतिपादन किया है कि उसकी सार्वभौमिकता में सन्देह करने की कोई गुंजाइश ही

नहीं रह जाती। शुष्क विषय होते हुए भी यह मनोरंजक और विचारोत्तेजक सामग्री है।

यदि हमको समाज की पुनर्रचना करनी है तो हमें अपने पुराने विश्वासों को भी बदलना होगा। मूलभूत सिद्धान्तों के विषय में शुद्ध कल्पना हुए बिना हम आदर्श समाज की रचना न कर सकेंगे। उसी पर वांछित नीति और सदाचार की नींव क़ायम की जा सकती है। यदि हम प्रारम्भिक और बर्बर कहलाने वाली जातियों की नैतिकता की अपनी सभ्यता से तुलना करें तो हमारा सिर लज्जा से नीचे हुए बिना न रहेगा, उनकी साम्यवादी प्रथायें संकेत कर रही हैं कि हमको किस दिशा में जाना है। प्रिंस क्रोपाटकिन ने पारस्परिक सहयोग के तत्त्व को आगे लाकर जन-समाज का महान् उपकार किया है और उनकी इस कृति का समाज के भावी-निर्माण में महत्त्वपूर्ण भाग होगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

किसी अंग्रेज़ी पुस्तक के अनुवाद करने का मेरा यह पहला ही प्रयास है। इसमें प्रकृत्तः अनेक स्थानों पर त्रुटियाँ रह गई हैं। सार्वजनिक जीवन की झंझटों में फँसे रहने के कारण उनको ठीक करने का अवकाश ही नहीं मिला। आशा है कृपालु पाठक इसके लिए मुझे क्षमा करेंगे।

अन्त में मैं अपने अनन्य मित्र श्री मदनमोहन चतुर्वेदी का उल्लेख किये बिना अपने दो शब्द पूर्ण नहीं कर सकता, जो मेरे जेल-जीवन के निकटतम साथी रहे हैं और जिनसे मुझे इस प्रयास में बहुत सहायता मिली है। और अपने स्नेही बन्धु श्री रामनारायणजी चौधरी का तो मैं उल्लेख ही क्या करूँ जिन्होंने इस अनुवाद को दो मर्तबा देखा और जिनकी प्रेरणा के बिना शायद मैं इसको पाठकों के सामने भी न रख पाता।

अजमेर
ता० २६ दिसम्बर १९३२ } शोभालाल गुप्त

विषय-सूची

१. विषय—प्रवेश (मूल लेखक की भूमिका) १—१२

संघर्ष या सहयोग

१. प्राणियों में पारस्परिक सहयोग १५—५४

(जीवन के लिए संघर्ष; 'जीवन-संघर्ष' शब्द का दुरुपयोग; जीवन-संघर्ष सिद्धान्त की दुर्दशा; भूल; संघर्ष के साथ सहयोग भी है; केसलर का विवेचन; रूसी प्रकृतिवादियों के समर्थन का कारण; सहयोग सिद्धान्त की व्यापकता; कुछ उदाहरण; चींटियों का उदाहरण; मधुमक्खियों का उदाहरण; पशुओं में सहयोग की भावना; साइबर्ट सोफ़ के अनुभव; शिकारी पक्षियों में सामाजिकता; तोता)

२. प्राणियों में पारस्परिक सहयोग (उत्तरार्द्ध) ५५—११०

(संगठन का एक दृश्य; सहयोग के उदाहरण; प्रवास-काल में सहयोग; दूध-पिलाने वाले पशुओं में; चौपायों का उदाहरण; उच्च श्रेणी का पारस्परिक सहयोग; खरगोशों के उदाहरण; घोड़ों में—; हिरनों में—; हाथियों में सहयोग; बन्दरों में सामाजिकता; सहयोग का आम नियम; सामाजिक भावना प्राकृतिक है; पक्षियों में नाच-गान; जीवन-संघर्ष में सामाजिकता का उपयोग; सामाजिक भावना का महत्त्व; जीवन-संघर्ष की सीमा;

दूसरा कारण भी संभव है; स्वभाव-परिवर्तन का कारण; नई क़िस्में कैसे बनती हैं ?; दूसरा उदाहरण; विनाश का कारण; प्रतिस्पर्द्धा कारण नहीं; प्राकृतिक परिवर्तन मुख्य कारण है; प्रतिस्पर्द्धा प्राकृतिक नियम नहीं; प्रकृति का उपदेश)

३. प्राकृत मनुष्यों में पारस्परिक सहयोग १११—१६४

(मानवी विकास-विषयक भ्रम; मानव-समाज का प्रारंभिक संगठन; कुछ निश्चित प्रमाण; कुटुम्ब का जन्म; झड़वासियों का जीवन-क्रम; होटेनटोट लोगों का उदाहरण; आस्ट्रेलिया के मूल निवासी; पापुआ लोग; कुछ और उदाहरण; एलियोट लोगों में; बाल-हत्या का कारण; पितृ-हत्या का कारण; ग़लतफ़हमी; बदले की भयंकर प्रथा; सामाजिकता ही विकास का कारण है; प्रारंभिक मनुष्य की विशेषता)

४. बर्बर (असभ्य) जातियों में पारस्परिक सहयोग १६५–२१३

(प्राकृत मनुष्य की सामाजिकता; ऐतिहासिकों की भ्रामक विचार-पद्धति; विचार की ठीक पद्धति; उस महान् प्रवास का कारण; कुटुम्बों का जन्म; ग्राम-पंचायत का आरंभ; ग्राम-पंचायतों की व्यापक प्रथा; व्यक्तिगत स्वतंत्रता की मर्यादा; ग्राम पंचायतों के अधिकार; भोजन की अलग व्यवस्था; सहयोग से यह संभव हुआ; सामाजिकता के कई पहलू; न्याय-प्रणाली नीति-सम्बन्धी बातें; एक और विशेषता; सैनिक जाति के जन्म का कारण, इतिहासकार की कठिनाइयाँ; कुछ नमूनों पर विचार; एकता की भावना;कृषि-कार्य में;पंचायत ही मुख्य संस्था है;धनी और दरिद्र;दो अन्य विशेषतायें;अन्य बर्बर जातियों में; अफ्रीका की बर्बर जातियाँ; अमेरिका की बर्बर जातियाँ; विकास का क्रम)

५. मध्यकालिक नगरों में सहयोग — २१४–२५४

(सहयोग मानवी स्वभाव है; सहयोग की नींव पर; सत्ता का आविर्भाव; ग्राम-पंचायतों की समस्या; न्याय-पद्धति के सामयिक परिवर्तन; दण्ड और सार्वजनिक कोष; स्वतंत्रता की लहर; फूल या तलवार; नगर-संगठन का आरंभ; व्यवसाय-संघों का उदय; भ्रातृ-संघों की कार्य-प्रणाली; भ्रातृ-संघों का बाहुल्य; दो मुख्य विशेषताएं; हर प्रकार के भ्रातृ-संघ; आरंभिक अन्वेषकों का भ्रम; घोषणापत्रों में; स्वतंत्रता की लहर; स्वातंत्र्य-संघों की विशेषता; क्रम-विकास; नगरों का मुख्य उद्देश्य; क़ीमत का निश्चय; कुछ और उदाहरण)

६. मध्यकालिक नगरों में सहयोग (उत्तरार्द्ध) — २५५–२९९

(परिस्थितियों की भिन्नता; आधार की एकता; एक महत्व-पूर्ण अंग; व्यापार का संरक्षण; श्रम और व्यापार का समन्वय; मालिक और मज़दूर का भेद; वेतन का हिसाब; काम का आदर्श और समय; कारीगरों की देख-भाल; कुछ और विशेषतायें; एक नवीन युग का उदय; कठोर संघर्ष; घोषणा-पत्रों में–; दीर्घ अशान्ति का काल; किसानों के हितों की उपेक्षा; एक और दुष्परिणाम; संघर्ष में भी सहयोग; गाँवों में भी संघ थे; संघ की व्यापकता; एकता की व्यापक भावना; महत्वपूर्ण परिणाम; मानव-बुद्धि का विकास; सफलता का कारण; सहयोग का आधार; ह्रास के कारण; धर्म भी गिरा; एक खास बुराई; नगरों और गाँवों में दलबंदी; नगरों की घातक भूल; एक और कारण; घृणित अमानुषिक विचार)

७. वर्तमान समाज में पारस्परिक सहयोग — ३००–३४७

(सहयोग की प्रवृत्ति की प्राचीनता; ग्राम्य संघों का काल; उसके बाद भी; घातक प्रहार; विशृंखलता का प्रवाह; फिर भी

सहयोग का वही भाव; पतन का क्रम; पंचायतों की समाधि पर; सामुदायिक ज़मीनों का बँटवारा; सर्वत्र एक ही चक्र; अन्य देशों में भी; युरोप के अन्य देशों में; स्पष्ट निष्कर्ष; बहुरंगी संस्थाओं की उत्पत्ति; श्रमिक का सहारा; सहयोग की प्रथा का अवशेष; कुछ उदाहरण; जर्मनी में भी; दो महत्त्वपूर्ण परिणाम; प्रगति का एक नमूना; सहयोग की भावना; सामुदायिक प्रेरणा; अन्य सुधार; अन्य देशों एवं जातियों के उदाहरण; यह तत्त्व स्थायी है)

८. वर्तमान समाज में पारस्परिक सहयोग (उत्तरार्द्ध) ३४८-३९०

(विपरीत परिस्थिति के बीच; ब्रिटेन में; मजदूरी के नियमन की असफल चेष्टा; नवीन प्रेरणा, मजदूरों की कठिनाइयाँ; सहयोग की भावना; समाजवादियों का त्याग; आवश्यक लक्षण; सहयोग-संस्थाओं की व्यापकता; साख; अन्य उदाहरण; मानवी प्रेरणा; संस्कार की भित्ति; सामुदायिक जीवन का आनन्द; जर्मनी के एलपाइन क्लब; सामुदायिक संस्थाओं से लाभ; सहयोग की वही वृत्ति; परोपकारी संस्थायें; स्वार्थ और सहयोग; टूटे बन्धनों के बीच; माताओं का संगठन; कुछ और उदाहरण; श्रमिकों में पारस्परिक सहयोग; सहयोग का आम नियम; धनिकों की निष्ठुरता; सहयोग की प्रेरणा; 'एकता' की भावना अमर है)

९. उपसंहार ३९१-४०१

(प्राणी-जगत् में; मानव-प्राणी में; सभ्यता का नवीन पहलू; व्यक्तिगत आग्रह; सहयोग तत्त्व की उपेक्षा; संघर्ष में भी सहयोग; श्रम; नैतिक क्षेत्र में; नीति का आधार)

रचयिता (१८४२-१९२१):

प्रिंस पीटर एलेक्जेविच क्रोपाटकिन, क्रान्तिकारी और वैज्ञानिक, एक प्राचीन सम्पन्न रूसी सरदार घराने में पैदा हुआ था पर ३० वर्ष की अवस्था में उसने मानव-जाति की सेवा में अपना जीवन अर्पण करने का निश्चय किया और न केवल अपने देश के वरन् संसार के समाज-विद्रोहियों में सम्मिलित हो गया। शीघ्र ही वह अराजक साम्यवाद का बौद्धिक नेता बन गया। उसने मजदूरों के आंदोलन में भाग लिया; अनेक पुस्तकें एवं पुस्तिकायें लिखीं; जेनेवा और लन्दन से पत्र निकाले; इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में लेख दिया; अपनी उग्र कार्रवाइयों के कारण दो बार जेल गया और दो बार अमेरिका की यात्रा की। बोल्शेविक क्रान्ति के बाद वह रूस को लौट गया, पर सोवियट सरकार की कार्रवाइयों से अलग रहा। उसने अन्त तक अपने सिद्धान्तों को निवाहा। उसकी भाषा में जोर है, विचारों में प्रामाणिकता है; समाज का निर्माण फिरसे किस आधार पर किया जाय, इस पर विचार करने के लिए उसकी रचनायें अत्यन्त उपयोगी हैं।

रचना:

'संघर्ष या सहयोग' (Mutual Aid) इस बात को पूर्णतः प्रमाणित करता है कि मानव-समाज का विकास सहयोग के आधार पर हुआ है। जो लोग कहते हैं कि संघर्ष ही जीवन है और संघर्ष से ही समाज एवं व्यक्ति का विकास होता है, वे गलती पर हैं। क्योंकि हम देखते हैं कि संघर्ष की सफलता के लिए भी सहयोग को आवश्यकता पड़ती है। लेखक ने इसमें दिखलाया है कि पशु वा पक्षियों से लेकर मनुष्य तक सब के जीवन का आधार सहयोग है।

विषय-प्रवेश

मैंने अपनी युवावस्था में पूर्वी साइबेरिया और उत्तरी मनचूरिया की यात्रा की थी । उसमें प्राणी जीवन के दो पहलुओं पर मेरा विशेष रूप से ध्यान गया । एक तो अपने अस्तित्व के लिए निर्दयी प्रकृति के साथ उनका घोर संग्राम। समय-समय पर प्रकृति उनके एक बड़े भाग को विनष्ट करती रहती थी । यही कारण था कि मुझे वहाँ बहुत कम प्राणी नजर आये। दूसरी ओर उन थोड़े से स्थानो पर पर भी जहाँ जीव-जन्तुओं की बहुतायत थी मुझे विकासवादियों (यद्यपि स्वयं डार्विन ने सदा इसे नहीं माना) के इस मुख्य सिद्धान्त के समर्थन में कोई उदाहरण देखने को नहीं मिला कि 'एक ही जाति के प्राणियों में आपस में अपने अस्त्व को क़ायम रखने के लिए संघर्ष चलता है।' और बड़े ध्यान से देखने पर भी उन में वह संसर्ग मुझे नजर नहीं आया

शीतकाल के उत्तरार्द्ध में यूरोप और एशिया के उत्तरी हिस्सों में बर्फ के भीषण तूफान आते हैं। इसके बाद वहाँ बहुधा कुहरा फैल जाता है जिसपर बर्फ की पुट चढ़ी होती है। प्रति वर्ष मई के तीसरे-चौथे सप्ताह में जब वृक्ष फूलों और फलों से लदे रहते हैं और हर जगह कीड़ों-मकोड़ों की भरमार होती है उस समय भी बर्फ और कुहरे के ये दौरे आते हैं । इस कुहरे और जुलाई तथा अगस्त में कभी-कभी भारी बर्फ के गिरने के कारण लाखों

कीड़े और जंगली पक्षियों की नस्ल बात की बात में नष्ट हो जाती है। अगस्त और सितम्बर के महीनों में सम-शीतोष्ण स्थानों में जब मूसलाधार पानी बरसता है तो अमेरिका और पूर्वी एशिया की भांति पृथ्वी जलमय हो जाती है। और यूरोपीय राष्ट्रों जितने लम्बे-चौड़े पठारों (प्लेटो) पर दलदल ही दलदल हो जाता है। अक्टूबर के शुरू में भी बहुत बर्फ गिरती है। ये सब बातें हैं जिनसे फ्रांस और जर्मनी जितना भू-भाग पशुओ के रहने के सर्वथा अयोग्य बन जाता है। और वे हजारों की तादाद में नष्ट हो जाते हैं। मैंने उत्तरी एशिया में प्राणियों को प्रकृति के साथ लड़ते देखा है। डार्विन ने दो बातें कही हैं। एक तो यह कि एक ही जाति के प्राणियों में जो संघर्ष होता है, वह अपने-अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए होता है। और दूसरी बात यह है कि यह संघर्ष अत्यधिक उत्पत्ति को रोकता है। परन्तु मैंने जो-कुछ अवलोकन किया है उससे मुझे बहुत पहले ही प्रकृति के स्वभाव में यह दूसरी बात अधिक महत्वपूर्ण मालूम हुई। जीवन संग्राम जहाँ-तहाँ, थोड़ा-बहुत भले ही दिखाई दे, परन्तु इसका महत्व डार्विन की दूसरी बात के बराबर नहीं हो पाता। यद्यपि डार्विन के अनुगामियों का यह विश्वास है कि एक ही जाति में खाने और जीवित रहने के लिए भीषण प्रतिस्पर्द्धा मौजूद है और वही नई-नई जाति के प्राणियों के विकास-क्रम से मुख्यतया मदद करती है, तथापि जब मैंने देखा कि उत्तरी एशिया में जीवों का अभाव यानी आबादी की कमी, न कि अधिकता, वहाँ की एक खास विशेषता है तभी से मुझे उक्त कथन की सत्यता में शंका होने लगी है। मेरी यह शंका आगे चल कर और भी दृढ़ हुई है।

दूसरी ओर जहाँ कहीं मैंने अपनी यात्रा में जीवों की बहुतायत देखी वहाँ मैंने देखा कि झीलों के आसपास बीसों क़िस्म के प्राणी और लाखों जीव अपनी नस्ल का पालन-पोषण करने के लिए इकट्ठे होते हैं। मैंने चूहे, गिलहरी इत्यादि कतरने वाले प्राणियों के समूह बसे हुए देखे। इसके अलावा मैंने पक्षियों को एक बड़ी तादाद में असुरी नदी के किनारे-किनारे थोड़े समय के लिए अपने घर बनाते हुए पाया। खास तौर पर मैंने उन विलायती हिरनों का बर्त्ताव भी देखा जो बर्फ के तूफान से अपने को बचाने के लिए झुण्ड के झुण्ड सबसे तंग स्थान पर अमूर नदी को पार करने के लिए एकत्र होते हैं।

इन सब दृश्यों से पता चलता है कि प्राणियों में पारस्परिक सहयोग और एक-दूसरे की सहायता करने की भावना कितना काम करती है। इससे मैं समझ सका कि प्राणियों की उत्पत्ति, रक्षण और भावी विकास के लिए वह भावना सबसे अधिक महत्व रखती है। ट्रान्सबेकालिया के अर्द्धजंगली पशुओ और घोड़ों तथा जुगाली करने वाले जंगली जानवरों में, जो सब कहीं मिलते हैं, मैंने देखा कि प्राकृतिक कोपों के कारण जब खाद्य-सामग्री का अभाव हो जाता है तो पशुओ को उसके लिए लड़ना पड़ता है। उस समय पशु-समाज का जो अंग प्रकृति के कोप का शिकार होता है, वह इतना शक्तिहीन और क्षीण हो जाता है कि उससे यह आशा नही की जा सकती कि वह तीव्र प्रतिस्पर्धा के ऐसे काल में प्रगतिशील विकास कर सके।

आगे चलकर डार्विन और समाजशास्त्र के सिद्धान्तों के सम्बन्धों की ओर भी मेरा ध्यान आकर्षित हुआ किन्तु मैं इस

महत्वपूर्ण विषय पर लिखे गये साहित्य से सहमत न हो सका। उस साहित्य में यही साबित करने की चेष्टा की गई है कि चूँकि मनुष्य में अधिक बुद्धि और ज्ञान है इसलिए शायद उनके कारण मनुष्य जाति के भीतर जीवन के लिए चलने वाले संघर्ष की भीषणता कम हो जाती है। किन्तु साथ ही उन सब की यह भी मान्यता है कि अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए प्रत्येक प्राणी और मनुष्य का अपनी-अपनी जाति के विरुद्ध संघर्ष करना क़ुदरत का एक क़ानून है। मैं इस मत को स्वीकार नहीं कर सकता। क्योंकि प्रत्येक प्रकार के प्राणियों में जीवन के लिए भीतरी संघर्ष चलता रहता है और उसी में उन्नति का मूल निहित है; यह मान लेना किसी ऐसी बात को मान लेना है जो न तो अब तक साबित ही हुई है और न प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा उसकी पुष्टि ही हुई है।

इसके विपरीत सन् १८८० ई० में पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध प्राणिशास्त्र विशेषज्ञ प्रोफेसर केसलर ने रूसी प्रकृतिवादियों की कांग्रेस में 'पारस्परिक सहयोग का क़ानून' विषय पर एक भाषण दिया था। मुझे यह भाषण इस सारे विषय पर नई रोशनी डालने वाला प्रतीत हुआ। प्रोफेसर केसलर का मत था कि प्रकृति में आपसी संघर्ष के अलावा पारस्परिक सहयोग का भी एक नियम है। यह नियम जीवन-संग्राम की सफलता और विशेषकर प्राणियों के प्रगतिशील विकास के लिए आपसी संघर्ष के नियम की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। डार्विन ने अपनी पुस्तक (The Descent of Man) में जो विचार प्रकट किये हैं, वास्तव में प्रोफेसर केसलर ने उन्हीं विचारों को अधिक स्पष्ट-

रूप से अपने भाषण में रखा है। प्रो० केसलर के ये विचार मुझे इतने ठीक और महत्वपूर्ण मालूम हुए कि मैं तुरन्त ही उनको पुष्ट करने के लिए सामग्री जुटाने में लग गया।

केवल एक बात थी कि जिसमें मैं प्रो० केसलर के विचारों के साथ पूर्णतः सहमत न हो सका। प्राणियों में एक-दूसरे के प्रति जो झुकाव दिखाई देता है, प्रो० केसलर के मतानुसार उसका कारण उनकी 'पैतृक भावना' और नसल को कायम रखने की चिन्ता है। फिर भी सामाजिक प्रवृत्ति के विकास में इन दोनो भावनाओ का कितना असर पड़ा है, अथवा इनके अलावा अन्य बातो ने इस सम्बन्ध में कितना काम किया है, यह एक बहुत बड़ा प्रश्न है। अभी हम इसका विवेचन नहीं कर सकते। यह तो हम तभी कर सकते हैं जब हम जानवरो की भिन्न-भिन्न श्रेणियों में पारस्परिक सहयोग और उनके विकास के लिए उसकी आवश्यकता को पहले भलीभांति सिद्ध कर लें। सामाजिकता के विकास का श्रेय पैतृक भावना को कितना और अपने आप मिल-जुलकर रहने की भावना को कितना है, इसका निश्चय भी तभी हो सकता है। कारण कि मिल-जुल कर रहने की भावना तो पशु-समाज के विकास की प्रारम्भिक अवस्था से ही पाई जाती है। इसलिए मैंने विकास के लिए पारस्परिक सहयोग का महत्त्व स्थापित करने की ओर ही विशेष ध्यान दिया है और प्रकृति में वह कब से शुरू हुई यह खोजने का काम भावी अन्वेषकों पर छोड़ दिया है।

यदि यह साबित किया जा सके कि पारस्परिक सहयोग एक आमनियम है तो यह कहा जा सकता है कि प्रकृतिवादियों की

नजर से भी उसका महत्व छिपा न रहा। उदाहरण के लिए जर्मन तत्ववेत्ता गेटी की रचनायें इस विषय से भरी पड़ी हैं। एक वार सन् १८२७ में प्राणि-विशेषज्ञ एकरमेन ने गेटी से कहा कि मेरी चिड़िया के दो वच्चे उड़कर चले गये। दूसरे दिन मैंने उनको दूसरे ही किस्म के परिन्द के घोसले में पाया। वह परिन्द अपने बच्चों के साथ-साथ उनको भी खिला रहा था। गेटी को इस पर बड़ा आश्चर्य हुआ। इस घटना में उसे अपने इस विचार का समर्थन प्रतीत हुआ कि 'ईश्वर सर्वव्यापी है।' उसने कहा–"यदि प्रकृति का यह एक आम नियम हो कि एक प्राणी दूसरे अपरिचित प्राणी को खिला-पिलाकर बड़ा करे तो बहुत-सी जटिल समस्याये हल हो जॉय।" दूसरे दिन गेटी ने एकरमेन से प्रार्थना की कि वह इस विषय का अध्ययन करे तो एक बहु-मूल्य खजाना उसके हाथ लगेगा। दुर्भाग्यवश एकरमेन यह कुछ न कर सका। पर सम्भव है ब्रेम को गेटी के उक्त कथन से प्रेरणा मिली हो। इस लेखक ने जानवरों में पारस्परिक सहयोग के प्रश्न पर बड़ी उपयोगी सामग्री इकट्ठी की है।

सन् १८७२ से लगाकर १८८६ तक, पशुओं की बुद्धि और उनके मानसिक जीवन के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुईं, किन्तु फिर भी मुझे एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता प्रतीत होती है जिसमें पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्त को दो तरह से सिद्ध किया जाय। एक तो यह कि मनुष्य जाति की उत्पत्ति के पहले ही प्राणियों में नैतिक भावनायें पैदा हो चुकी थीं; दूसरे यह कि वह प्रकृति और विकास का एक नियम है। जर्मन लेखक वुकनर ने भी इस विषय पर एक अच्छी पुस्तक

लिखी है किन्तु मैं उसके मुख्य विचार से सहमत नहीं हूँ। पुस्तक में जो उदाहरण दिये गये हैं, उनके द्वारा यह साबित करने की कोशिश की गई है कि पशु प्रेम और सहानुभूति से प्रेरित होकर काम करते हैं। पशुओ की सामाजिकता को प्रेम और सहानुभूति का नाम देना उनकी सामाजिकता की व्यापकता और उसके महत्व को घटाना है। हमने यह मान रक्खा है कि मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों का आधार भी प्रेम और सहानुभूति है किन्तु इसका नतीजा यह हुआ है कि मानवीय नैतिकता बहुत संकुचित हो गई है। जब मेरे किसी पड़ौसी के घर में आग लगती है तो चाहे वह मेरा परिचित भी न हो—मैं पानी की बाल्टी लेकर उसे बुझाने को दौड़ता हूँ। इसका कारण उस पड़ोसी के प्रति मेरा प्रेम और सहानुभूति नहीं है बल्कि मानवीय संगठन और सामाजिकता की वह भावना है जो अस्पष्ट होते हुए भी कहीं अधिक उदार है। जब जुगाली करने वाले जानवर या घोड़े भेड़ियों के आक्रमण का मुक़ाबला करने को गोलाकार बनाते हैं, शिकार के लिए भेड़िए झुण्ड बनाकर बाहर निकलते हैं, बकरी के बच्चे और मेमने साथ-साथ खेलते हैं, अनेक प्रकार के छोटे-छोटे पक्षी वसन्त में एक जगह अपने दिन बिताते हैं तब पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति का विचार उन्हे प्रेरित नहीं करता। यही बात उन हजारों विलायती हिरनों के बारे में कही जा सकती है जो एक विस्तृत भू-भाग में फैले होने पर भी अलग-अलग बीसियों झुण्ड बनाकर एक साथ नदी को पार करने के लिए स्थान-विशेष पर एकत्र होते है। इन सबका मूल तो वह भावना है जिसका मनुष्यों और पशुओं मे लाखो वर्षों से धीरे-धीरे विकास हुआ है

और जो प्रेम और सहानुभूति की प्रेरणा से कहीं अधिक विस्तृत है। इसी भावना ने मनुष्यों और पशुओं दोनों को पारस्परिक सहयोग और सहायता से पैदा होनेवाली शक्ति का परिचय कराया है जिससे कि वे सामाजिक जीवन में आनन्द अनुभव करते हैं।

जिन्होंने पशु-मनोविज्ञान का अध्ययन किया है, वे इस सूक्ष्म भेद को आसानी से समझ लेंगे। मानव-नीति-शास्त्र के विद्यार्थियो के लिए तो यह और भी सरल है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारा प्रगतिशील नैतिक विकास सहानुभूति और त्याग पर बहुत हद तक निर्भर है। किन्तु न तो प्रेम और न सहानुभूति ही मानव-समाज का आधार है। उसका आधार तो मानवीय एकसूत्रता का ज्ञान है। फिर चाहे वह प्रारंभिक अवस्था में हो। जब मनुष्य यह समझता है कि एक-दूसरे की मदद करने से उसको ताकत मिलती है, सबके सुख के साथ व्यक्ति के सुख का घनिष्ट सम्बन्ध है और न्याय तथा समानता का भी यही तक़ाजा है, तभी वह अपने अधिकारो के बराबर दूसरों के अधिकारों को स्वीकार करता है। इसी विस्तृत और आवश्यक नींव पर नीति की ऊँची इमारत खड़ी की जाती है। किन्तु यह विषय प्रस्तुत पुस्तक के क्षेत्र के बाहर का है।

पशुओं की विभिन्न श्रेणियों में पारस्परिक सहयोग का महत्त्व बता चुकने के बाद मेरे लिए यह आवश्यक हो गया कि मनुष्य के विकास के सम्बन्ध में भी मैं उसका ज़िक्र करूँ। यह इसलिए और जरूरी था कि बहुत से ऐसे उत्क्रांतिवादी लोग हैं जो पशुओं में पारस्परिक सहयोग का महत्त्व तो स्वीकार करते हैं किन्तु हर्बर्ट स्पेन्सर की भांति मनुष्यों के लिए उसे लागू नहीं समझते। वे

मानते हैं कि व्यक्ति का प्रारंभिक काल में समाज के विरुद्ध संघ करना जीवन का एक नियम था। योरोपीय तत्त्ववेत्ता होब्स के ज़माने से यह बात बिना किसी छान-बीन के समय-समय पर कही जा रही है। मानव-विकास की शुरू की स्थिति के सम्बन्ध में हमारी जो-कुछ जानकारी है उसके यह कथन कहाँ तक अनुकूल है, इसकी मैंने एक अलग अध्याय में चर्चा की है।

मानव-जाति के इतिहास को हम कई भागों में विभक्त कर सकते हैं। बहुत शुरू में मनुष्यों का एक ही खानदान था। बाद में ज्यों ज्यों उनकी संख्या बढ़ने लगी, वे अलग-अलग समुदायों में गाँवों में रहने लगे। उस समय के असभ्य और अर्द्ध-सभ्य जन-साधारण ने पारस्परिक सहयोग के महत्त्व को समझा और ऐसी अनेक संस्थाओं का विकास किया जिनसे उसके रचनात्मक कौशल का पता चलता है। शुरू की इन संस्थाओं ने मानव-जाति के बाद के विकास पर गहरा असर डाला है। आधुनिक युग पर भी उसकी छाप है। इसी बात को ध्यान में रखकर इतिहास के अन्य कालों का भी मैंने अन्वेषण किया। मैंने खास तौर पर मध्यकालीन स्वतंत्र नगर-पंचायतों के अत्यन्त मनोरंजक युग का भी अध्ययन किया। इस युग की सार्वत्रिकता और हमारी आधुनिक सभ्यता पर उसके असर का हम ठीक-ठीक अनुमान नहीं कर पाये हैं। आखीर में, मैंने संक्षेप में यह भी बताने की चेष्टा की है कि पारस्परिक सहयोग की भावना, जो युगों से मनुष्य-जाति में चली आती है, हमारे आज-कल के समाज में कितना महत्वपूर्ण काम करती है। विशेष कर उस अवस्था में जब कि समाज का आधारभूत सिद्धान्त यह माना जाता है—"व्यक्ति अपनी चिन्ता करे और राष्ट्र सब की।"

किन्तु समाज न तो अब तक इस सिद्धान्त पर चलने में सफल हुआ है और न भविष्य में ही सफल होगा।

इस पुस्तक के विषय मे यह एतराज किया जा सकता है कि उसमें पशु और मनुष्य-समाज को अत्यन्त अच्छे रंग में रँगा गया है। उनके सामाजिक गुणों पर तो जोर दिया गया है किन्तु उनमें लड़ने-भिड़ने और व्यक्तिगत आग्रह की जो प्रवृत्ति पाई जाती है, उसके बारे में जरा भी जिक्र नहीं किया गया। परन्तु यह तो अनिवार्य था। एक अर्से से हम यह सुनते आ रहे हैं कि पशु दूसरे पशुओं के साथ और "जंगली" मनुष्य अपने ही भाई-बन्धुओं के साथ जीवन के लिए कठोर और निर्दयतापूर्ण संग्राम करता है। यहाँ तक कि सभ्य मनुष्य भी इस संग्राम से बचा नहीं है। लोगों का इस पर अन्ध-विश्वास-सा हो गया है। इसलिए उसका खण्डन करने को पशु और मनुष्य-जीवन पर दूसरे ही दृष्टिकोण से विचार करना मुझे सबसे पहले आवश्यक प्रतीत हुआ। यह भी जरूरी था कि प्रकृति में और पशु तथा मनुष्यजाति के प्रगतिशील विकास के लिए सामाजिकता जितनी अधिक मात्रा में काम करती है, उसका महत्व बताया जाय और सिद्ध किया जाय कि वह (सामाजिकता) पशुओं को अपने शत्रुओं से संरक्षण, भोजन तथा प्रवास की सुविधा, और दीर्घ जीवन प्रदान करती है। इसी से उन्हे बौद्धिक विकास के लिए और भी अच्छा मौक़ा मिलता है। सामाजिकता से मनुष्यो को ये सुविधाये तो मिली ही हैं जो पशुओ को मिली है। साथ ही उसके द्वारा उन्होंने ऐसी संस्थाओं को चलाया है जिनके कारण कि मानव-जाति प्रकृति से लड़ते-पड़ते भी अब तक जीवित रह

सकी है और समय-समय पर होनेवाले उलट-फेरों की परवाह न कर उसने तरक्की की है। इस पुस्तक में मैं यह मानकर चला हूँ कि पारस्परिक सहयोग का क़ानून विकास का एक मुख्य कारण है। मैंने इसमें विकास के सभी कारणों और उनके अपने महत्व पर विचार नहीं किया है। मैं ऐसा कर भी नहीं सकता था, जब-तक कि प्रस्तुत पुस्तक जैसी कोई पुस्तक न लिखी ली जाती।

मानव-जाति के विकास में व्यक्तिगत आग्रह का जो महत्व रहा है, उसका मूल्य मैं घटाना नहीं चाहता। मेरी समझ मे तो इस विषय पर जो-कुछ कहा गया है, वह बहुत कम है। इसमें तो और भी अधिक गहरा उतरने की जरूरत है। अनेक लेखक जिसे व्यक्तिवाद और स्व-आग्रह कहते हैं, वह केवल तुच्छ मूर्खतापूर्ण संकुचितता ही है। मानव-जाति के इतिहास में जिस व्यक्तिगत आग्रह ने बहुधा काम किया है और जो अब भी बराबर कर रहा है, वह तो उक्त संकुचितता से बिलकुल भिन्न है, उससे कहीं अधिक विस्तृत और गहरा है। इतिहासकार ने जिन व्यक्तियों को शूरवीर कहा है, उनके अलावा भी अनेक इतिहास के निर्माता हुए हैं। यदि मुझे अवसर मिला तो व्यक्तिगत आग्रह ने मानव-जाति के प्रगतिशील विकास के लिए जो काम किया है, उसकी एक अलग पुस्तक मे चर्चा करूँगा। यहाँ तो मै इतना ही कह सकता हूँ कि जब जाति, ग्राम और नगर पंचायतें जैसी पारस्परिक सहयोग की संस्थाओं में उनके प्रारंभिक गुण कम होने लगे और उनमें दूसरो के परिश्रम पर मौज उड़ाने वाले लोगों की वृद्धि होने लगी तो उन्नति का मार्ग रुक-सा गया। उस समय इन संस्थाओ के विरुद्ध जिन-जिन व्यक्तियो ने बग़ावत की उनके

सदा दो रूप रहे हैं। कुछ लोगों ने तो पुरानी संस्थाओं में ही सुधार करने की कोशिश की। अपने उसी पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्त पर एक ऊँचे दर्जे का संघ बनाना चाहा, मसलन पहले तो उन्होंने अपराधी को सजा देने के स्थान में पीड़ित व्यक्ति को मुआविजा देने का सिद्धान्त समाज में जारी करने की चेष्टा की और बाद में कहा कि अपराधों को क्षमा कर दिया जाय या इस से भी बढ़कर बदले की प्रथा की जगह मानव अन्तःकरण समानता का उच्च आदर्श स्वीकार कर ले अर्थात् अपराधी क्षमा का नहीं दया और सहानुभूति का पात्र समझा जाय। किन्तु साथ ही विद्रोहियों का एक भाग ऐसा भी निकला जो पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्त पर स्थापित समाज की रक्षा करने वाली संस्थाओं को स्वयं धनवान और शक्तिशाली बनने की नीयत से तोड़-फोड़ देना चाहता था। इस प्रकार बागियों की इन दो श्रेणियों और उन संस्थाओं के तत्कालीन रूप के समर्थकों मे त्रिकोण युद्ध चलता रहा। यही वास्तव में इतिहास की दुःखान्त घटना है। किन्तु इस युद्ध का पूरा-पूरा वर्णन करने के लिए और मानव-जाति के इतिहास में इन तीनों तरह की शक्तियों ने जो काम किया है उसका ठीक-ठीक अध्ययन करने के लिए कम से कम उतने वर्ष तो अवश्य चाहिए जितने मुझे प्रस्तुत पुस्तक लिखने में लगे हैं।

जिस विषय की मैंने इस पुस्तक में चर्चा की है, उस पर अन्य कई विद्वानों ने भी लिखा है। इसका निर्णय मैं अपने साहित्य के पाठकों पर ही छोड़ देता हूँ कि उनके और मेरे विचारों में कितनी प्रतिकूलता अथवा अनुकूलता है।

ब्रोमले, केण्ट
१९०२

क्रोपाटकिन

संघर्ष या सहयोग ?

[१]

प्राणियों में पारस्परिक सहयोग

डार्विन और वालेस ने वैज्ञानिक संसार को यह नई बात बताई कि जीवन-संघर्ष विकास का एक कारण है। इस एक ही व्यापक नियम के जरिये प्रकृति की अनेक विचित्र बातें हमारी समझ में आ जाती हैं। तत्वज्ञान तथा बनस्पति, प्राणी और समाज विज्ञान के सम्बन्ध मे जो अनुमान बाँधे गये हैं, शीघ्र ही यह नियम उन सब का आधार मान लिया गया। यह देखा जाता है कि सेन्द्रिय प्राणियो का अपने आप-पास की स्थिति के अनुसार ढाँचा और व्यवहार बन जाता है। उनकी शारीरिक बनावट बदलती रहती है। हम उनमें बौद्धिक उन्नति और नैतिक विकास तक के चिन्ह देखते हैं। इस प्रकर की अनेक विभिन्न बातों के मूल में पहले हम तरह-तरह के कारण ढूँढ़ा करते थे, किन्तु डार्विन ने इन सब को एक ही विचार-सूत्र में गूँथ दिया। तब हमारी समझ में आया कि प्राणियो में जो परिवर्तन होता रहता है, वह उनके प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ने का फल है। प्राणियों का इस प्रकार संघर्ष करना इस बात की लगातार कोशिश का द्योतक है कि व्यक्तियों, जातियों, विभिन्न किस्मों और समाजों का पूर्ण विकास हो; वे खूब मजबूत बनें; उनमें तरह-तरह की क़िस्में पैदा हों और उनकी तादाद में भी खूब वृद्धि हो। जब प्राणियों की क़िस्में

जीवन के लिए संघर्ष

बनने लगती है, तो उनमें ख़ास-ख़ास तरह की बहुत-सी विविधतायें पैदा हो जाती हैं। उन विविधताओं-सम्बन्धी एक ही तरह की बातों को समझाने के लिए डार्विन ने जो सिद्धान्त निकाला था सम्भव है, उसकी व्यापकता का शुरू में खुद उसको भी पता न रहा हो। लेकिन डार्विन यह जानता था कि उसने जो वैज्ञानिक सिद्धान्त खोज निकाला है, यदि उसका यह संकुचित अर्थ किया जायगा कि "अलग-अलग प्राणियों में आपस में केवल अपना अस्तित्व क़ायम रखने के लिए ही संघर्ष होता है।" तो उसका तात्विक और एक-मात्र असली अर्थ जाता रहेगा। उसने अपनी प्रसिद्ध रचना (Origin of Species) के शुरू में ही अपने सिद्धान्त का व्यापक और गूढ़ अर्थ किये जाने पर जोर दिया है। उस सिद्धान्त में डार्विन ने यह माना है कि एक प्राणी का जीवन दूसरे प्राणी पर निर्भर है। इतना ही नहीं, सन्तति की उत्पत्ति भी एक-दूसरे के सहयोग पर आधार रखती है।

जीवन-सघर्ष का दुरुपयोग

यद्यपि खुद डार्विन ने विशेष हेतु से उस सिद्धान्त का अधिकतर संकुचित अर्थ ही किया है, फिर भी उसने अपने अनुयायियों को चेतावनी दी कि वे उस संकुचित अर्थ को आवश्यकता से अधिक महत्व देने की ग़लती न करें। उसने (The Descent of Man नामक अपनी पुस्तक में) इस सिद्धान्त का व्यापक और असली मतलब बताने को कुछ सारगर्भ पृष्ठ लिखे हैं। उसने बताया है कि किस प्रकार असंख्य प्राणि-समूहों में पृथक्-पृथक् प्राणियों का आपसी जीवन-संघर्ष मिट जाता है; संघर्ष की जगह

सहयोग ले लेता है, और उसके फल-स्वरूप किस प्रकार उनका बौद्धिक और नैतिक विकास होता है। इस विकास से ही उन प्राणियों का अस्तित्व बने रहने के लिए अत्यन्त अनुकूल अवस्था पैदा होती है। उसने यह भी कहा है कि ऐसे समुदायों में योग्यतम वे नहीं गिने जाते जो सब से अधिक बलवान या चालाक हों। उनमें योग्यतम वे गिने जाते हैं जो अपने समाज के हित के लिए क्या निर्बल और क्या बलवान सभी की शक्ति को इस तरह संगठित करना जानते हैं कि वह एक-दूसरे की पोषक हो। जिन समुदायों में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति रखने वाले प्राणियों की अधिकता होगी, वे ही सब से अधिक उन्नत होंगे और फूलें-फलेंगे। इस प्रकार हर प्राणि-समुदाय में होने वाली प्रतिस्पर्द्धा का जो सिद्धान्त इङ्गलैण्ड के राजनैतिक अर्थ-शास्त्री मालथस ने निकाला था, उसकी संकीर्णता का खण्डन प्रकृति-विज्ञान के विशेषज्ञ डार्विन के उक्त कथन से हो जाता है।

डार्विन के इन विचारों के आधार पर बड़ी लाभदायक खोज हो सकती थी, किन्तु उसने जीवन की असली प्रतिस्पर्द्धा को बताने के लिए जो बहुत-सी सामग्री इकट्ठी की, उस सामग्री ने डार्विन के पारस्परिक सहयोग-सम्बन्धी विचारों को ढक-सा दिया। इसके अलावा पशु-समाज में जीवन-संघर्ष के जो दो पहलू दिखाई देते हैं, डार्विन ने उनके तुलनात्मक महत्व की ध्यानपूर्वक कभी समीक्षा नहीं की। उसने वह पुस्तक भी नहीं लिखी, जो वह बहूत्पत्ति को रोकने वाले प्राकृतिक बन्धनों के विषय में लिखना चाहता था। वास्तव में उसी पुस्तक के द्वारा व्यक्तिगत संग्राम

के असली तात्पर्य को हम समझ सके होते। इतना ही नहीं, जिन पृष्ठों में इङ्गलैण्ड के राजनैतिक अर्थ-शास्त्री मालथस के जीवन संघर्ष-सम्बन्धी संकुचित विचारों का खण्डन किया गया है, उन्ही में मालथस के पुराने विपरीत विचार फिर आ घुसे हैं। कहा जाता है कि सभ्य समाज में जो लोग मन और शरीर से कमजोर होते हैं, उनकी रक्षा करने में कठिनाइयाँ होती है। इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक में डार्विन ने जो उद्गार प्रकट किये हैं, उनमें वे ही मालथसी विचार दिखाई देते हैं। एक ओर तो डार्विन का कहना है कि समाज के लिए वे हजारों निर्बलकाय कवि, वैज्ञानिक, अविष्कारक और सुधारक तथा 'मूर्ख' और उत्साही किन्तु कमजोर कहे जानेवाले व्यक्ति बहुत उपयोगी नही है, दूसरी ओर खुद उसी डार्विन ने अपनी पुस्तक 'मनुष्य के अव-तरण' (The Descent of Man) के उन्हीं अध्यायों में इन कमजोर बुद्धिवादी और 'मूर्ख' जीवों के सम्बन्ध में यह माना है कि मानव-जाति की आत्म रक्षा के लिए वे बौद्धिक और नैतिक शस्त्र रहे हैं।

'जीवन-सघर्ष' के सिद्धान्त की दुर्दशा

मनुष्यो के पारस्परिक सम्बन्धों से जरा भी ताल्लुक रखने वाले सिद्धांतों की जो दशा होती है, वही डार्विन के सिद्धान्त की भी हुई। बजाय इसके कि डार्विन के अनुयायी उसके अदेशानुसार उसके सिद्धान्त को व्यापक बनाते, उन्होंने उसको और भी संकीर्ण बना दिया। हर्बर्ट स्पेन्सर ने "योग्यतम कौन हैं ?" इस बड़े प्रश्न पर व्यापक छानबीन करने की कोशिश की। उसकी खोज की विधि

स्वतंत्र थी, किन्तु थी वह डार्विन की विधि से मिलती-जुलती ही। परन्तु डार्विन के अनुयायियो ने उसकी कोई परवाह नहीं की। उन्होने जीवन-संघर्ष के विचार को अत्यन्त संकीर्ण रूप देकर ही दम लिया। पशु-संसार को उन्होने ऐसा संसार मान लिया, जिसमे अध-भूखे प्राणी एक-दूसरे के खून के प्यासे होते हैं और सदा आपस मे लड़ते रहते है। "जीवन-संघर्ष में हार जानेवालों पर लानत है" के युद्धनाद से उन्होने तात्कालिक साहित्य को गुंजा दिया, मानो उनकी दृष्टि से प्राणिशास्त्र की यही अन्तिम खोज हो। उन्होने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए होने वाले 'निर्दयी' संग्राम को प्राणि-शास्त्र के सिद्धान्त का ऊँचा स्थान दिया और कहा कि मनुष्य को उसे मानना ही होगा, अन्यथा एक-दूसरे को हड़प-जाने के सिद्धान्त पर स्थापित दुनिया मे उसका कहीं ठिकाना न लगेगा। उन अर्थशास्त्रियो की बात तो छोड़िए जो इधर-उधर के कुछ शब्द इकट्ठे कर प्रकृतिवेत्ता बन बैठते है, किन्तु खुद डार्विन के विचारो को अधिकारपूर्वक प्रकट करने वालो तक ने इन भ्रान्त विचारों को क़ायम रखने को भरसक चेष्टा की है। उदाहरण के लिए हक्सले को लीजिए जो विकास के सिद्धान्त का योग्यतम विवेचक माना जाता है। 'जीवन-संघर्ष और मनुष्य पर उसके प्रभाव' शीर्षक अपने निबन्ध मे क्या उसने हमे यह नहीं बताया है कि "नीतिवादी की दृष्टि से पशु-संसार एक सरकस है। उसमें पहले तो पशु खिला-पिलाकर मोटे-ताजे बनाये जाते हैं और फिर लड़ाये जाते है। जो सब से अधिक मजबूत, तेज और चालाक होते हैं, वे ही दूसरे दिन लड़ने को बच रहते हैं।

दर्शक को निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं, कारण कि जब दो प्राणी लड़ते है तो एक जीतता और एक नष्ट होता ही है।"

आगे चलकर हक्सले उसी निबन्ध में कहता है कि पशुओं की भांति प्रारम्भिक मनुष्यों में भी "जो सब से अधिक कमजोर और मूर्ख हुए, वे नष्ट हो गये और अन्य अच्छाइयों के न होते हुए भी जो सब से अधिक मजबूत और चालाक हुए और परिस्थितियो का भली भाँति मुक़ाबला कर सके, वे बच रहे। उस समय संघर्ष ही जीवन था। कुटुम्ब की थोड़ी-सी अस्थायी शान्ति को छोड़ कर और सब जगह व्यक्ति का समाज के साथ संग्राम चलता ही रहता था।"

प्रकृति के सम्बन्ध में हक्सले के ये विचार वास्तविकता के कहाँ तक अनुकूल हैं, इसका पता पाठकों को उस सामग्री से लग जायगा, जो पशुओं और प्रारम्भिक मनुष्यों के विषय में आगे चल कर इस पुस्तक में दी गई है, किन्तु इतना तो तुरन्त कहा ही जा सकता है कि प्रकृति-विषयक हक्सले के मत को विज्ञान-सम्मत मानने के लिए हमारे पास उतने ही कम आधार हैं, जितने कि उससे विपरीत रूसो के मत के लिए। रूसो का कहना है कि प्रकृति में प्रेम, शान्ति और सहयोग कूट-कूट कर भरा है, जिसे मनुष्य नष्ट करता है। वास्तव में यदि कोई प्रकृति-वेत्ता एक बार भी जंगल में चला जाय और किसी पशु-समाज को देखे या किसी ऐसी पुस्तक को ही पढ़े जिसमें पशु-जीवन पर चर्चा की गई हो तो पशुओं की सामाजिकता के विषय

भूल

में वह बिना सोचे रह ही नही सकता। वह प्रकृति में न तो केवल एक कसाईखाना ही पायगा और न केवल एकता और शान्ति ही। रूसो और हक्सले दोनों ने ही इस सम्बन्ध में ग़ल्ती की है। रूसो ने तो संघर्ष की सर्वथा उपेक्षा की है और हक्सले ने उसको बहुत अधिक महत्व दिया है। किन्तु न तो रूसो के आशावाद को और न हक्सले के निराशावाद को ही प्रकृति के नियमों का निष्पक्ष विवेचन कहा जा सकता है।

संघर्ष के साथ सहयोग भी है!

ज्यों ही हम रसायन-शालाओ और अजायबघरों से बाहर निकल कर जङ्गलों और मैदानो तथा नीची धरती और पहाड़ों पर रहने वाले प्राणियों का अध्ययन शुरू करेंगे, त्यों ही हमें पता चलेगा कि प्राणियो की भिन्न-भिन्न क़िस्मों और जातियो मे काफ़ी संघर्ष चलता है जिसके फल-स्वरूप प्राणियो का नाश होता रहता है। किन्तु इसके साथ ही हम यह भी देखेंगे कि प्राणियों की एक ही क़िस्म मे पारस्परिक समर्थन, सहयोग और आत्म-रक्षा के भाव भी उतने ही मिलेंगे। सम्भव है उसकी मात्रा अधिक भी निकले। यह बात कम से कम एक साथ रहने वाले प्राणियों के बारे मे तो निश्चयात्मक रूप से कही जा सकती है। एक-दूसरे के साथ मिल-जुल कर रहना प्रकृति का वैसा ही क़ानून है, जैसा कि पारस्परिक संघर्ष। हॉ, इन दोनो क़ानूनो में से कौन अधिक व्यापक रूप में काम करता है, इस का मोटे तौर से भी अनुमान लगाना बड़ा मुश्किल होगा। किन्तु यदि हम परोक्ष रीति से देखना चाहे और प्रकृति से ही पूछें—"सब से योग्य कौन हैं—वे जो आपस में

लड़ते हैं या वे जो एक-दूसरे की मदद करते हैं ?" तो हमें तुरन्त ही पता लग जायगा कि निस्सन्देह सब से योग्य वे ही होते हैं जिनका एक-दूसरे की मदद करने का स्वभाव बन गया हो। उनके लिए जीवन-संघर्ष मे विजय प्राप्त करने की अधिक सम्भावना है। वे अपनी-अपनी जाति मे शारीरिक और बौद्धिक उन्नति की सब से ऊँची सीढ़ी पर चढ़ जाते हैं। यदि हम इस मत के समर्थन करने वाले असंख्य उदाहरणों की ओर ध्यान दें तो हम बिना किसी संकोच के कह सकते हैं कि पारस्परिक संघर्ष की भाँति पारस्परिक सहयोग भी प्राणि-जीवन का नियम है। लेकिन बहुतांश में पारस्परिक सहयोग विकास के लिए संघर्ष की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके द्वारा प्राणियों को अपना ऐसा स्वभाव और व्यवहार बनाने में मदद मिलती है जिस से उनकी जातियों का रक्षण और विकास हो सके और व्यक्ति को कम से कम शक्ति खर्च करके अधिक से अधिक जीवन का सुख मिल सके।

केसलर का विवेचन

जहाँ तक मैं जानता हूँ, डार्विन के वैज्ञानिक अनुयायियों में पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्त के पूरे तात्पर्य को समझने वाला पहला व्यक्ति रूसी प्रोफेसर केसलर था। उसने माना है कि सहयोग प्रकृति का नियम और विकास का मुख्य अङ्ग है। जनवरी १८८० मे अपनी मृत्यु के कुछ ही दिन पूर्व उसने रूसी प्रकृतिवादियो की परिषद् के सम्मुख एक भाषण में अपने विचार प्रकट किये थे। किन्तु अनेक दूसरी अच्छी बातों की तरह उसके ये विचार भी रूसी भाषा में

होने के कारण आज तक क़रीब-क़रीब अंधेरे में ही रहे हैं।

एक पुराने प्राणी-विशेषज्ञ के नाते प्रो० केसलर ने 'जीवन-संघर्ष' शब्द के दुरुपयोग का विरोध करना अपना कर्तव्य समझा। चूँकि यह शब्द प्राणिशास्त्र से लिया गया है, इसलिए वह उसको अनावश्यक महत्व देने के विरुद्ध था। उसका कहना था कि प्राणि-शास्त्र और मनुष्य-सम्बन्धी अन्य दूसरे शास्त्र सदा उस नियम पर जोर देते हैं जिसे वे अपनी भाषा में जीवन-संघर्ष का निष्ठुर नियम कहते है। किन्तु वे एक-दूसरे नियम के अस्तित्व को भूल जाते है, जिसे हम पारस्परिक सहयोग का नियम कह सकते हैं। कम से कम जहाँ तक प्राणियों का सम्बन्ध है, यह नियम पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा आवश्यक है। प्रो० केसलर ने बताया कि किस प्रकार बच्चे पैदा करने के लिए प्राणियों को एक साथ रहना पड़ता है। इस प्रकार जब वे साथ-साथ रहते है, तो स्वभावतः एक-दूसरे की सहायता करने लगते है। साथ-साथ रहने से यह भावना दिन प्रति दिन बढ़ती है, जिस से प्राणी जातियो के बने रहने की सम्भावना अधिक हो जाती है और उनके बौद्धिक विकास में भी उत्तरोत्तर वृद्धिहोती है। सभी प्रकार के प्राणी और खासकर ऊँचे दर्जे के प्राणी पारस्परिक सहयोग से काम लेते है। केसलर ने अपने इस विचार को गोबर के भीतर पैदा होने वाले कीड़ों के जीवन से और पक्षियो तथा दूध देने वाले जानवरों के सामाजिक जीवन से उदाहरण लेकर सिद्ध किया है। इसमें कोई शक नहीं कि उदाहरण थोड़े थे। परन्तु एक छोटे से प्रारम्भिक भाषण मे अधिक उदाहरण दिये भी कैसे जा सकते थे। हाँ,

ख़ास-ख़ास बातें उसमें साफ तौर से रख दी गई थीं। मानव-जाति के विकास में पारस्परिक सहयोग का कितना भाग रहा है, यह बता चुकने के बाद प्रो० केसलर ने अपने भाषण को यों समाप्त किया:—

"स्पष्ट है कि मैं जीवन-संघर्ष के अस्तित्व से इन्कार नहीं करता, किन्तु मेरा कहना तो यह है कि पारस्परिक संघर्ष की बनिस्बत पारस्परिक सहयोग के द्वारा प्राणि-संसार और मानव-जाति का कहीं अधिक प्रगतिशील विकास होता है। .... सब सेन्द्रिय प्राणियों की दो मुख्य आवश्यकतायें होती हैं। एक तो यह कि उन को खाने को मिले, दूसरी यह कि वे अपनी जातियों की वृद्धि कर सकें। पहली बात उनको पारस्परिक संघर्ष और एक-दूसरे को नष्ट करने की ओर ले जाती है और अपनी जातियों को बनाये रखने की जरूरत उन को एक-दूसरे से मिलने और एक-दूसरे की सहायता करने को बाध्य करती है। किन्तु मुझे यह मानना पड़ता है कि सेन्द्रिय प्राणियों के विकास के लिए, यानी उनके शरीर की क्रमिक घटा-बढ़ी के लिए, पारस्परिक सहयोग उनके आपसी संघर्ष की अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व रखता है।"

रूसी प्रकृति-वेत्ताओं की उपर्युक्त परिषद् में जो प्राणी-विशेषज्ञ उपस्थित थे, उनको प्रोफेसर केसलर के ये विचार बिल्कुल ठीक प्रतीत हुए। साइवर्टसोफ ने कुछ और उदाहरण देकर उनका समर्थन किया। पक्षी-विशेषज्ञों और भौगोलिकों में कौन ऐसा होगा जो साइवर्टसोफ की रचनाओं से परिचित न हो। उसने अपने भाषण में शिकरा (बाज) पक्षियों की कुछ क़िस्मों का

ज़िक्र किया, जिन में लूट-खसोट करने के लिए आदर्श संगठन बताया जाता है। इतना होने पर भी उनका नाश होता चला जा रहा है। उन्हीं शिकरा पक्षियो की कुछ ऐसी किस्में भी होती हैं, जो आपस मे एक-दूसरे की मदद करती हैं और फूलती-फलती हैं। यह तो हुई बाज नामक पक्षी की बात। उसके विपरीत साइ-वर्टसोफ ने बतख़ पक्षी का उदाहरण दिया जो सामाजिक पक्षी कहा जा सकता है। यद्यपि इस किस्म में कोई अच्छा संगठन नही होता, किन्तु वह पारस्परिक सहयोग से काम लेती है। इस का नतीजा यह है कि आप दुनिया के किसी हिस्से मे चले जाइए, आपको यह पक्षी नज़र आये बिना न रहेगा, उसकी नाना भांति की किस्मे आपको देखने को मिलेंगी।

रूसी प्राणी-विशेषज्ञो ने प्रोफेसर केसलर के विचारों को इसलिए इतना जल्दी ग्रहण कर लिया कि उनमें से क़रीब-क़रीब सभी को उत्तरी एशिया और पूर्वी रूस के आबादी-शून्य लम्बे-चौड़े भागों के प्राणि-संसार की गति-विधि देखने के अवसर मिल चुके थे। एक ही प्रकार के क्षेत्रो के निरीक्षण का और क्या परिणाम हो सकता था ? अपने मित्र प्राणी-विशेषज्ञ पोलियाकोफ के साथ जब मैंने साइबेरिया के विटिम नामक भू-भाग की जांच-पड़ताल की, उस समय वहाँ के प्राणि-संसार की गति-विधि का मुझ पर जो असर पड़ा, उसका मुझे यहाँ स्मरण हो आता है। हम दोनों पर डार्विन (के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ Origin of Species) का नया-नया असर था। डार्विन की पुस्तक पढ़कर

रूसी प्रकृति-वादियों के समर्थन का कारण

हम यह आशा लगा बैठे थे कि हमें एक ही जाति के प्राणियों में आपस में ही तीव्र प्रतिस्पर्द्धा देखने को मिलेगी, किन्तु वहाँ इसका कहीं नामोनिशान भी न था। हमने देखा कि विपरीत जलवायु और अपने शत्रुओं का मुक़ाबला करने के लिए बहुधा प्राणी एक से ही तरीके इख्तियार करते हैं। पोलियाकोफ ने तो अलग-अलग स्थानों के मांसाहारी हिंसक जीवों, जुगाली करने वाले जानवरों और कुतरने वाले प्राणियों के विषय में बहुत-कुछ लिखा है। उसमें उसने बताया है कि ये प्राणी आपस में एक-दूसरे के सहयोग पर कितना आधार रखते हैं। हमने खास कर पक्षियों और जुगाली करने वाले जानवरों में उनके प्रवास के समय पारस्परिक सहायता के अनेक उदाहरण देखे। अमूर और असुर जैसे स्थानों मे भी, जहाँ जीवों की अत्यधिक बहुतायत है, मुझे एक ही जाति के ऊँचे दर्जे के प्राणियो में संघर्ष और प्रतिस्पर्द्धा की मात्रा क्वचित् ही नजर आई। मैंने तो उसको तलाश करने में कोई कसर बाक़ी न रखी थी। अधिकांश रूसी प्राणि-विशेषज्ञों की पुस्तकों मे हमे ऐसे ही विचार देखने को मिलते हैं। डार्विन के रूसी अनुयायियों ने प्रोफेसर केसलर के विचारों का क्यों स्वागत किया और पश्चिम यूरोप मे रहने वाले उसके अनुयायियों में उन विचारों का प्रचार क्यों नहीं है, उक्त विवेचन से इसका कारण हमारी समझ में आ जायगा।

जब हम जीवन-संघर्ष के प्रत्यक्ष और व्यापक दोनों पहलुओं का अध्ययन करने लगते हैं, तो सब से पहले पारस्परिक सहयोग के उदाहरण ही बहुतायत से हमारे सामने आते हैं। ये उदाहरण

नस्ल के पालन-पोषण सम्बन्धी ही नहीं होते, जैसा कि बहुत से उत्क्रान्तिवादियों का मत है, बल्कि व्यक्ति के रक्षण और उसके लिए आवश्यक खाद्य-सामग्री जुटाने के सम्बन्ध में भी मिलते है। प्राणियों की अनेक जातियो में तो पारस्परिक सहयोग एक आम नियम है। छोटे से छोटे प्रणियो तक में पारस्परिक सहयोग पाया जाता है। कीचड़ के सूक्ष्म जीवाणुओ का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी आगे चलकर किसी दिन हमें यह बता देंगे कि ये सूक्ष्म जीवाणु भी अनजान मे एक-दूसरे की सहायता करते रहते है। इसमें सन्देह नही कि दीमक, चींटी और शहद की मक्खी को छोड़ कर शेष बिना रीढ़ वाले प्राणियो के बारे मे हमारा ज्ञान बहुत मर्यादित है, तो भी हम उनके सहयोग के विषय में कुछ प्रामाणिक उदाहरण दे सकेंगे। टिड्डियो, तितलियों, भौंरो आदि अनेक क़िस्म के प्राणियों की जमायतो का तो हमने क़रीब-क़रीब कुछ भी अध्ययन नही किया है। किन्तु उनमे जमायतो का होना ही इस बात का द्योतक है कि जिन सिद्धान्तो पर प्रवास के लिए चीटियों और शहद की मक्खियो के अस्थायी संघ बनते है, उन्ही पर उन जमायतो का भी संगठन हुआ होगा। हमारे पास चौपंखुड़ी वाले कीड़ों के बारे मे भी पारस्परिक सहायता के उदाहरण हैं। ये कीड़े मृत-जीवों और सड़न को खाकर जीते है। इनको अपने अण्डे देने के लिए कोई ऐसी चीज चाहिए, जो सड़ी हुई तो हो किन्तु जल्दी ही नष्ट होने वाली न हो और जिसको खाकर उनके छोटे-छोटे बच्चे जिन्दा रह सकें। इसके लिए वे छोटे-छोटे मरे हुए प्राणियों

सहयोग सिद्धान्त की व्यापकता

को चुन-चुन कर जमीन में गाड़ देते हैं। आम तौर पर वे अलग-अलग रहते हैं, किन्तु उन में से जब किसी को कोई मरा हुआ चूहा या पत्ती मिल जाता है, जिसे वह खुद नहीं गाड़ सकता, तो वह मदद के लिए अपने पाँच-दस साथियों को बुला लेता है। यदि वह जगह सख्त हुई तो वे उस मुर्दा प्राणी को खींचकर नरम जगह पर ले जाते हैं और बड़ी होशियारी से गाड़ देते हैं। वे इस बात पर झगड़ा नहीं करते कि उस मुर्दा प्राणी की लाश पर अण्डे देने का हक़ किसे मिलेगा। प्राणी-विशेषज्ञ ग्लेडिश ने एक-दो लकड़ियों के बीच मरे हुए पत्ती को बाँध दिया था और जमीन में एक डण्डा गाड़ कर उस पर एक-एक मृत मेंढक को लटका दिया था। ये छोटे-छोटे प्राणी मिल-जुलकर बड़ी चतुराई के साथ उनको उठा ले गये। मिल-जुल कर काम करने की यही प्रवृत्ति गोबर के कीड़ों में भी पाई जाती है।

जिन जानवरो में इतना अच्छा संगठन नहीं होता, उनमें भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। पश्चिमी टापुओं और उत्तरी अमेरिका की धरती पर रहने वाले कुछ क़िस्म के केकड़े बड़ी तादाद में इकट्ठे होकर समुद्र के किनारे अण्डे देने के लिए जाते है। ऐसा प्रवास बिना एकसूत्रता, सहयोग और पारस्परिक सहायता के नहीं हो सकता। प्राणि-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए इंग्लैंड के ब्राइटन नामक स्थान में कुछ तालाब खास तौर पर बनाये गये हैं जिन में पानी के जीवों को रखा जाता है। सन् १८८२ में मैं वहाँ गया था। उस समय

कुछ उदाहरण

मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि पानी में रहने वाले बड़े केकड़े जरूरत पड़ने पर अपने साथी की कितनी सहायता करते हैं। मैंने देखा कि एक केकड़ा तालाब के एक कोने में उल्टा पड़ा हुआ है। बहुत कोशिश करने पर भी उसकी भारी पीठ उसे सीधा न होने देती थी और दूसरी ओर एक लोहे की सलाख उसके मार्ग को अधिक कठिन बना रही थी। ऐसे अवसर पर उसके साथी उसकी मदद करने को दौड़े आये। कोई एक घण्टे तक मैं उनकी कोशिशों को देखता रहा। दो केकड़ों ने आकर नीचे से उसको धक्का दिया और बड़ी मेहनत के बाद उसे करवट के बल करने में सफल हुए, किन्तु लोहे की सलाख उसे सीधा न होने देती थी और केकड़ा फिर जोर से अपनी पीठ के बल गिर पड़ता था। इस प्रकार कई प्रयत्न करने के बाद एक केकड़ा पानी में ग़ोता लगाकर दो केकड़ों को और लिवा लाया। ये सब मिल कर अपने असहाय साथी को ऊपर उठाने की फिर कोशिश करने लगे। हम वहाँ दो घण्टे तक घूमते रहे और लौटते समए उस तालाब पर जा कर देखा तो केकड़ों की कोशिश उस समय भी जारी थी। साधारण केकड़ों के बारे में डार्विन ने जो कुछ कहा है, इस घटना के बाद मैं उस की सत्यता से इन्कार नहीं कर सकता। उसने लिखा है कि "जब केंचुली बदलने का मौसम आता है तो ये केकड़े अपने एक सख़्त झिल्ली वाले साथी को जिसने केंचुली नहीं उतारी है, इस बातके लिए मुक़र्रर कर देते हैं कि वह केंचुली उतरे हुए केकड़ों की उनके शत्रुओं से रक्षा करे।"

दीमकों, चीटियों और शहद की मक्खियों में पारस्परिक सहयोग को बताने वाले उदाहरण तो इतने प्रसिद्ध हैं कि मैं उन के बारे में थोड़े से शब्द लिख कर ही संतोष कर लूंगा। रोमेनस, एल. बुकनर और सर जान लुबोक के ग्रन्थों में विशेष रूप से इस की चर्चा की गई है।।

चींटियों का उदाहरण

उदाहरण के लिए चीटियों का एक विल लीजिए। हम देखेंगे कि वहाँ अण्डों की परवरिश करने, खाद्य-सामग्री इकट्ठी करने, बिल को लम्बा-चौड़ा बनाने, नवजात चीटियो का पालन-पोषण करने आदि के सब काम स्वेच्छापूर्वक पारस्परिक सहयोग द्वारा होते हैं। यही नहीं, प्राणि-विशेषज्ञ फोरल की तरह हमें मानना होगा कि चीटियो की कई किस्मो मे उनके जीवन की यह मुख्य विशेषता होती है कि यदि कोई चींटी भूखी हो, तो जिस चींटी का पेट भरा हुआ है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह भूखी चीटी को, निगले हुए या अधपचे खाने में से हिस्सा दे। जिन चींटियों में आपस में दुश्मनी होती है, वे अलग-अलग बिलों में रहती है। ऐसे दो अलग-अलग बिलो मे रहने वाली अथवा दो भिन्न क़िस्म की चींटियाँ इधर-उधर जाती हुई जब एक जगह इकट्ठी होती है तो एक दूसरी से बचकर निकलने की कोशिश करती हैं। किन्तु जब एक ही विल अथवा बस्ती में रहने वाली दो चीटियाँ एक जगह मिलती है तो मूँछो के इशारे से कुछ बातचीत करती हैं। अगर उन में से कोई चींटी भूखी या प्यासी हुई और दूसरी का पेट भरा हुआ हो तो भूखी चींटी दूसरी से खाना माँगेगी। इस प्रकार जिस चींटी से खाना

माँगा जाता है, वह खाना देने से कभी इन्कार नहीं करती। वह ऊपर के अथवा सामने के दोनों जबड़ों को खोल कर ठीक ढंग से खड़ी होती है और एक बून्द स्वच्छ रस की बाहर टपका देती है। इस रस को भूखी चींटी चाट जाती है। मिल-जुल कर रहने वाली चीटियों का आपस मे एक-दूसरे को इस प्रकार खिलाना उनके जीवन का एक विशेष अङ्ग है। उन मे यह प्रथा इतनी अधिक मात्रा में प्रचलित होने के कारण फोरल का कहना है कि चीटियो की पाचन-क्रिया करने वाली नली के दो भाग होते है। इस नली के पिछले हिस्से मे जो खाना चला जाता है, वह तो खुद के काम आता है और अगले हिस्से मे रहने वाला खाना दूसरी चीटियो तथा बच्चो को खिलाने के लिए होता है। यदि कोई चीटी, जिस का पेट भरा हो, स्वार्थवश भूखी चीटी को खाना देने से इन्कार करे तो उसके साथ अन्य चीटियाँ दुश्मन से भी बुरा बर्ताव करती है। अगर ये चीटियाँ उस समय किसी दूसरी किस्म की चीटियो से लड़ रही हो, तो लड़ना छोड़कर वे दूने वेग से उस लालची चीटी पर टूट पड़ती है। इसके विपरीत अगर कोई शत्रु पक्ष की किसी चीटी को खाना खिला देती है, तो वह पक्ष उस चीटी को अपना मित्र समझने लग जाता है। पूरी छानबीन और निश्चयात्मक प्रयोगो द्वारा इन सब बातों की पुष्टि हो चुकी है।

चीटियों की हज़ारों क़िस्मे होती हैं। उनकी तादाद भी बहुत अधिक होती है। ब्रेज़िल-निवासी तो कहते हैं कि ब्रेजिल हमारा नहीं चींटियो का देश है। इतना बड़ा समाज होते हुए भी उन

चींटियों में हमें प्रतिस्पर्द्धा देखने को नहीं मिलती जो एक ही बिल में अथवा आस-पास रहती है । चीटियों की विभिन्न जातियों में चाहे जैसी भीषण लड़ाई क्यो न होती रहे और उस लड़ाई मे चाहे जैसी ज्यादतियाँ क्यो न हों, उनके समाज-विशेष के भीतर तो पारस्परिक सहयोग, एकसूत्रता और बहुधा त्याग का ही बोलबाला रहता है । चींटियों और दीमको ने आपसी लड़ाई को छोड़ कर फायदा ही उठाया है । आप उनके बिलों को देखें तो आप को आश्चर्य हुए बिना न रहेगा। उनकी अपनी इमारतें होती हैं जो उनके और हमारे डील-डोल को देखते हुए हमारे मकानो से बड़ी ही निकलेंगी। उनमें आप पक्की सड़कें, महराबदार बरामदे, बड़े बड़े कमरे और अनाज के गोदाम पायँगे। वहाँ एक तरफ नाज के खेत होगे तो दूसरी तरफ उसी नाज का सत्व खीचे जाने की क्रिया होती होगी । वे अपने अण्डो और छोटे-छोटे बच्चो की परवरिश बिल्कुल वैज्ञानिक ढंग से करती हैं। इसके लिए वे विशेष घर बनाती है। प्राणिविशेषज्ञ लिनियास ने इन छोटे-छोटे बच्चों को 'चींटियो की गाय' के सुन्दर नाम से पुकारा है। सबसे बढ़ कर तारीफ तो उनकी हिम्मत की करनी पड़ेगी। इस सब का मूल कारण पारस्परिक सहयोग ही है । वे अपने व्यस्त और मेहनती जीवन के हर क्षण में उसका व्यवहार करती है। इस प्रकार के जीवन का अनिवार्य नतीजा यह हुआ कि चींटियो में एक और आवश्यक गुण का विकास हुआ। उनमें व्यक्तिगत सूक्ष्म-शक्ति की खूब वृद्धि हुई। सूक्ष्म-शक्ति के बढ़ने से प्रकटतः उनमें ऊँची और नाना भांति की बुद्धि का इतना विकास

हुआ कि ध्यानपूर्वक देखने वाले किसी भी मनुष्य को आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता ।

दीमक और चींटियों के बारे में हमारी जितनी जानकारी है उससे अधिक प्राणी-जीवन के बारे में हम न भी जानते हों तो भी हम यह विश्वास के साथ कह सकते हैं कि पशु-समाज के विकास के लिए पारस्परिक सहयोग और व्यक्तिगत सूझ पारस्परिक संघर्ष की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है । पारस्परिक सहयोग से आत्म-विश्वास पैदा होता है जो कि साहस की सब से पहली शर्त है। व्यक्तिगत सूझ को तो बौद्धिक प्रगति की जननी ही कहना चाहिए । जो प्राणी एकान्तिक जीवन बिताते है, उनको अपनी रक्षा के लिए प्रकृति किसी न किसी तरह की ढाल अवश्य दे देती है । बिना। उसके वे काम नहीं चला सकते । किन्तु चींटियों के पास कोई ऐसी ढाल न होते हुए भी वे फलती-फूलती रहती हैं । उनका रंग ही ऐसा होता है कि शत्रु के लिए उनको पहचान लेना कुछ मुश्किल नहीं होता । उनकी कुछ क़िस्मो के ऊँचे-ऊँचे घर चरागाहो और जंगलो में ऐसी जगह पर बने होते हैं, जो दूर से ही अलग दिखाई दे जाते हैं । वैसे देखा जाय तो चींटी की रक्षा करने के लिए न तो उसके शरीर पर कोई सख्त झिल्ली ही होती है और न उसका डंक ही बहुत काम देता है ।। (हां जब सैकड़ो चीटियाँ एक साथ मिलकर किसी मरे हुए जानवर के गोश्त को अपने डंकों से नोचने लगती है तो उस समय उनके डंक अवश्य खतरनाक बन जाते है ।) इसके अलावा जंगल में रहने वाले बहुत से दूसरे प्राणी इनके अण्डों और बच्चों

को अपनी सब से बढ़िया खुराक समझते हैं। यह सब कुछ होते हुए भी वे हजारों की तादाद में एक साथ रहती हैं, किन्तु न तो परिन्द ही उनको बहुत नष्ट कर पाते हैं और न चींटी-चोर ही, उल्टे उनसे बहुत से बलवान कीड़े भय खाते रहते हैं। प्राणी-विशेषज्ञ फ़ोरल ने एक बार चींटियों को थैले में भर कर एक चरागाह में छोड़ दिया, जहाँ बहुत से पतङ्गे और अकफुट्टों (Grasshoppers) के बिल बने हुए थे। नतीजा यह हुआ कि पतङ्गे और अकफुट्टे अपने-अपने बिल छोड़ कर चारों ओर भाग गये और चींटियों ने उन पर क़ब्जा कर लिया। मकड़ियाँ और गुबड़ीले कीड़े इस डर से कि कहीं खुद वे ही शिकार न बन जायँ, अपने-अपने शिकार छोड़कर चलते बने। चींटियों और बर्रों में लड़ाई हुई जिसमें अपने संघ की रक्षार्थ कई चींटियों की जानें गईं। किन्तु अन्त में बर्रें हारे और उनके बिलों पर चींटियों का अधिकार हो गया। तेज से तेज कीड़े भी चींटियों के आक्रमण से नहीं बच सकते। प्राणी-विशेषज्ञ फोरल ने चींटियों को कई बार देखा कि वे तितलियों, झिंगुरों, मक्खियो आदि जीवों पर एकाएक आक्रमण करके उन्हे मार डालती हैं। पारस्परिक सहयोग और एक-दूसरे पर विश्वास ही उनकी शक्ति है। इन दीमकों की क़िस्म को जाने दीजिए जो अधिक विकास कर चुकी है। पहले चींटियों को ही लीजिए; बौद्धिक योग्यता की दृष्टि से सब प्रकार के कीड़ों में उनका सर्व-प्रथम स्थान है। उनके साहस की बराबरी बहुत साहसी रीढ़दार कीड़े ही कर सकते हैं। डार्विन के शब्दों में "सृष्टि के अत्यन्त आश्चर्य-जनक परमाणुओं द्वारा उनके मस्तिष्क

की रचना हुई है, शायद मनुष्य के मस्तिष्क में भी वैसे परमाणु न हों !" क्या यह इस बात का परिणाम नहीं है कि चीटियों के समुदाय में पारस्परिक संघर्ष का स्थान पारस्परिक सहयोग ने पूर्णतया ग्रहण कर लिया है ?

मधुमक्खियों का उदाहरण

यही बात शहद की मक्खियों के विषय में भी कही जा सकती है। ये मक्खियाँ इतनी छोटी होती है कि बहुत से पक्षी उनको आसानी से अपनी खुराक बना सकते हैं। गुबड़ीले-जैसे छोटे कीड़े से लेकर रीछ तक सभी तरह के जानवर उनके शहद के ग्राहक होते हैं। रंग बदल कर अथवा अन्य प्रकार से रक्षा करने के साधन भी उनके पास नहीं हैं जिनके बिना अलग रहने वाला कोई कीड़ा सर्वनाश से शायद ही बच सके। फिर भी पारस्परिक सहयोग से काम लेने के कारण ही वे तमाम दुनिया में फैली हुई है और उनकी बुद्धि की हमें प्रशंसा करनी पड़ती है। मिलकर काम करने से उनकी शक्तियाँ कई गुनी हो जाती है। हरेक मक्खी जरूरत पड़ने पर चाहे जैसा काम कर सकती है। किन्तु वैसे साधारणतया थोड़े समय के लिए वे काम का बँटवारा कर लेती हैं। इससे वे इतनी सुरक्षित और मौज में रहती है कि अलग रहने वाला कोई कितना ही बलवान अथवा साधनसपन्न प्राणी क्या रहेगा। हम पारस्परिक सहयोग की सोच-विचार कर कोई योजना बनाते हैं किन्तु उसका लाभ नहीं उठाते। शहद की मक्खियो के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। वे तो बहुधा एक-दूसरे के साथ मिलकर काम करने में मनुष्य से भी बढ़-चढ़कर साबित हुई हैं।

जब शहद की मक्खियों के किसी जत्थे को पुराना छत्ता छोड़कर नया छत्ता बनाना होता है तो उनमें से कुछ पहले पास-पड़ोस में जगह तलाश करने को जाती हैं। यदि उनको पुरानी बाँस की टोकरी या वैसा ही कोई सुविधा-जनक स्थान मिल गया तो वे उस पर क़ब्जा कर लेती हैं, उसकी सफ़ाई करती हैं और जब-तक उनका पूरा जत्था वहाँ न पहुँच जाय, उसकी रक्षा करती रहती हैं। दूसरी ओर हमारा मनुष्य-समाज है जो अभी पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता को पूरी तरह नहीं समझ पाया है। इसका यह नतीजा है कि जब वह नये देशों में बसने जाता है तो यों ही बहुत से मनुष्य मर-खप जाते हैं। किन्तु शहद की मक्खियाँ बिलकुल असाधारण और अनायास ही पैदा हो जाने वाली प्रतिकूल परिस्थितियों का मुकाबला भी एक बुद्धि होकर कर लेती हैं। पेरिस की प्रदर्शिनी में खुलने और बन्द होने वाले रोशनदान को मोम से अच्छी तरह बन्द करके उन्होंने वहाँ अपना छत्ता बनाया था। इसके अलावा न तो वे खूनी प्रवृत्तियों का ही परिचय देती हैं न उन्हें खामख्वाह लड़ने ही से प्रेम है। हरेक शहद के छत्ते पर कुछ मक्खियाँ सन्तरी का काम करती हैं। यदि चोर मक्खियाँ कभी किसी छत्ते में घुसने की कोशिश करती हैं तो ये सन्तरी उन्हे बेदर्दी से मार डालते हैं। इसके विपरीत अगर कुछ दूसरी जगह की मक्खियाँ ग़लती से दूसरे छत्ते पर चली जायँ और ख़ास कर उनके पास फूलों का रस मौजूद हो तो छत्ते के सन्तरी उन्हें नहीं छेड़ते। इसी तरह आसानी से रास्ता भूल जाने वाले छोटे बच्चों को भी कुछ नुक़सान नहीं पहुँचाया जाता। कहने का

मतलब यह कि उनमें अनिवार्य प्रसङ्गों पर ही संघर्ष होता है।

शहद की मक्खियों की सामाजिकता इसलिए भी अधिक शिक्षाप्रद है कि उनमें संचित सामग्री के भरोसे वैठे रहने की भावना और आलस्य दोनों ही बराबर बने रहते है। जब कभी किसी परिस्थिति-वश उनकी तादाद बढ़ती है, ये अवगुण उनमें विशेष रूप से प्रकट होते है। यह सब जानते हैं कि शहद की मक्खियों में से कुछ ऐसी होती हैं जो दिन भर मेहनत करने की अपेक्षा चोरी करके पेट भरना अधिक पसन्द करती हैं। दुष्काल और सुकाल दोनो में ही इन चोर मक्खियो का पन्थ वढ़ जाता है। जब फ़सल काट ली जाती है और खेत व चरागाह सूने हो जाते हैं, उस समय चोर मक्खियाँ और भी वढ़ जाती हैं। पश्चिमी टापुओ में जहाँ गन्ने की खेती होती है और युरोप में जहाँ-जहाँ शक्कर बनाने के कारखाने हैं, वहाँ की अधिकांश मक्खियाँ चोर, सुस्त और बहुधा उन्मत्त होती हैं। इस प्रकार हमने देख लिया कि शहद की इन मक्खियो में समाज-विरोधी प्रवृत्तियाँ होती है। किन्तु यह सम्भव नहीं कि प्रकृति इन प्रवृत्तियो को कम न करे। कारण कि स्वार्थी व्यक्तियों की अपेक्षा जो जातियाँ संगठन से काम लेती हैं, अन्त में जाकर उनको ही बहुत अधिक लाभ पहुँचता है। जो प्राणी सामाजिक जीवन और पारस्परिक सहयोग के लाभ समझते हैं, वे वच रहते हैं और जो सब से अधिक चालाक और होशियार होते हैं, किन्तु जिनमें पारस्परिक सहयोग नहीं होता, उन्हें प्रकृति नष्ट कर देती है।

इसमें सन्देह नहीं कि न तो चींटियाँ, न शहद की मक्खियाँ और न दीमक ही संगठन की ऊँची सीढ़ी तक पहुँच सके हैं। संगठन का ऊँचा आदर्श तो यह है कि पूरी की पूरी जाति एक सूत्र में बँधी हो। किन्तु यह बात तो हमारे राजनैतिक, वैज्ञानिक और धार्मिक नेताओं में भी हमे नही मिलती। उपर्युक्त प्राणियों का समाज-प्रेम आम तौर पर उनके छत्तों और घरों तक ही मर्यादित रहता है। कहीं-कहीं पारस्परिक सहयोग के इस से व्यापक उदाहरण भी मिले हैं। प्राणी-विशेषज्ञ फोरल ने टेंडर और सालेव नामक दो पहाड़ी जगहों का अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है। वहाँ उसे दो अलग-अलग जातियों के कीड़ों की दो-दो सौ बिलो की बस्तियाँ मिलीं। फोरल का कहना है कि इन बस्तियों का हरेक नागरिक एक दूसरे को पहचानता था और वे सब मिल कर अपना बचाव करते थे। मि० मेक कोक ने पेन-सिलवेनिया में मिट्टी खोदने वाले कीड़ों की एक जाति को देखा, जो १६००–१७०० बिलों में मिलकर बड़ी बुद्धिमानी के साथ रहते थे। मि० वेट्स ने किसी श्मशान भूमि में दीमकों के घरों की क़तारें देखीं। उन में कुछ घर ऐसे थे जिनमें दो-दो तीन-तीन क़िस्म के दीमक साथ-साथ रहते थे और जो एक-दूसरे से महराबों द्वारा जुड़े हुए थे। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि बिना रीढ़ वाले कीड़े पारस्परिक रक्षण के लिए बड़ी तादाद में एक-दूसरे के साथ सहयोग करते है।

कीड़ों-मकोड़ों आदि के विषय में इतना लिख चुकने के बाद जब हम उनसे बड़े प्राणियो का अध्ययन शुरू करते हैं, तो हमें

कीड़ों-मकोड़ों की अपेक्षा उनमें पारस्परिक सहयोग के कहीं ज्यादा उदाहरण मिलते है। पारस्परिक सहयोग की उपयोगिता को निश्चयात्मक रूप से जानते हुए वे प्रायः सभी तरह के कामों में उसका व्यवहार करते हैं। यहाँ हमें यह तो तुरन्त स्वीकार कर ही लेना चाहिए कि उनके विषय में हमारी जानकारी बहुत अधूरी है। कुछ प्रथम श्रेणी के अन्वेषण-कर्ताओं ने उनके बारे में बहुत से उदाहरण इकट्ठे किये हैं, किन्तु पशु-समाज की बहुत-सी पूरी की पूरी जातियाँ ऐसी हैं, जिनके विषय में हम कुछ भी नहीं जानते। कुछ तो अन्वेषण का मार्ग कठिन होने के कारण और कुछ उचित ध्यान न दिये जाने के कारण मछलियो के बारे में विश्वसनीय सामग्री का बड़ा अभाव है। जैसा कि प्रो० केसलर कह चुके हैं, अपने बच्चो को दूध पिलाने वाले जानवरों के बारे में भी हम कितना कम जानते हैं! उनमें से बहुतों की निशाचरी वृत्ति होती है, कुछ अपने को जमीन के भीतर छिपाये रखते हैं और कुछ जुगाली करनेवाले ऐसे जानवर हैं जो मनुष्य को अपने झुण्ड के पास तक नहीं फटकने देते। इनका सामाजिक जीवन और प्रवास-वृत्तान्त बहुत मनोरंजक है। पक्षी ही एक ऐसा प्राणी है, जिसके बारे में हमारा ज्ञान सब से अधिक है, किन्तु उसकी भी अनेक ऐसी क़िस्में है जिनके विषय में हम बहुत थोड़ा जानते हैं। फिर भी जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे, हमारे पास इस सम्बन्ध में प्रामाणिक उदाहरणो की कमी नही है।

पशुओं में सहयोग की भावना

अपने बच्चों का पालन-पोषण करने, उनकी प्रारम्भिक अवस्था में उनको खाना खिलाने, अथवा मिलकर शिकार करने के उद्देश्य से वनी हुई नर और मादों की जमायतो के वारे में मुझे कुछ लिखने की आवश्यकता नही है। प्रसंग-वश इतना जरूर कहा जा सकता है कि कम से कम मिल-जुलकर रहने वाले मांसाहारी और शिकारी पक्षियों मे भी आमतौर पर ऐसी जमायतें होती है। इन जमायतो का इसलिए भी खास महत्व है कि उनके द्वारा निर्दयी से निर्दयी जानवरो में भी कोमलतर भावनाओं का विकास होता है। फिर मांसाहारी और शिकारी पक्षियों मे कुटुम्ब से वड़ी संस्थाओं की कमी का कारण वहुतांश में उनका पेट भरने का तरीक़ा ही है। मनुष्यों की तेजी के साथ होने वाली वढ़ती से पशु-समाज में जो परिवर्तन हुआ है, कुछ हद तक उसको भी इस कमी के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। कुछ भी हो यहाँ यह वात ध्यान देने योग्य है कि कुछ क़िस्में ऐसी हैं जो घनी वस्ती मे रहती हुई भी एकान्तिक जीवन विताती हैं। दूसरी ओर वे ही क़िस्में या विलकुल उनकी जैसी ही दूसरी किस्में जन-शून्य देशों में मिल-जुलकर रहती है। भेड़िये, लोमड़ियाँ और शिकारी परिन्द ऐसी ही किस्मों में से हैं।

साइवर्ट सोफ के अनुभव

हमारे विषय के लिए ऐसी जमायतो के उदाहरण जिनका दायरा कुटुम्ब से वड़ा नही होता, वहुत महत्व के नहीं हैं विशेष कर इसलिए भी कि हम वहुत-सी ऐसा जमायतो को जानते हैं जिनका उद्देश्य कहीं अधिक व्यापक होता है और जिनके द्वारा शिकार

खेलने, एक-दूसरे की रक्षा करने और मनोरंजन आदि सभी काम होते हैं। प्राणि-विशेषज्ञ ओडुदन ने लिखा है कि उकाब पत्ती बहुधा साथ मिलकर शिकार खेलते है। अमेरिका की मिसिसिपी नदी के किनारे एक नर और एक मादा दो उकावों के शिकार का उसने जो वर्णन किया है, वह तो प्रसिद्ध ही है। किन्तु इस विषय में सब से अधिक निश्चयात्मक अन्वेषण करने का श्रेय तो रूसी प्राणि-विशेषज्ञ साइबर्ट सोफ को ही देना पड़ेगा। जब वह रूस के मैदानो के जानवरो का अध्ययन कर रहा था, तो उसने एक सफेद पूँछ वाले उकाब को आकाश में बड़े ऊँचे उड़ते देखा। यह उकाब उस जाति का था, जो मिल-जुलकर रहती हैं। क़रीब आध घण्टे तक यह उकाब चुपचाप मँडराता रहा। इतने मे एका-एक उसकी तेज आवाज सुनाई दी, जिसको सुनते ही एक दूसरे उकाब ने आवाज की ओर वहाँ आ मौजूद हुआ। एक-एक करके इसी तरह ९-१० उकाब इकट्ठ हो गये। फिर थोड़ी देर बाद वहाँ से ग़ायब हो गये। साइबर्टसोफ दुपहर को फिर उसी जगह गया। वहाँ उसने आस-पास उकावों को उड़ते हुए पाया। टीवों की ओट में छिप-छिप कर वह उनके नजदीक गया तो उसे मालूम हुआ कि वे एक घोड़े की लाश पर जमा थे। उनमें ऐसा रिवाज है कि वुड्ढे उकाब पहले भोजन शुरू करते हैं। इस रिवाज के अनुसार वे भोजन समाप्त कर चुके थे और पास में घास के टूलो पर बैठे निगरानी रख रहे थे। छोटे उकाब कौवो से घिरे हुए खाना खा रहे थे। ऐसे ही अन्य दृश्यो द्वारा भी साइबर्ट सोफ इस नतीजे पर पहुँचा कि सफेद दुम वाले उकाव साथ मिलकर शिकार खेलते हैं। दस

उकाव आकाश में ऊँचे उड़कर २५ वर्ग मील जमीन की देख-भाल कर सकते हैं और ज्यों ही उनमें से किसी को कोई चीज़ दिखाई देती है, वह दूसरे उकावों को चेता देता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि एक उकाव की आकस्मिक आवाज सुन-कर या उसके मंडराने को देख कर ही वहुत से उकाव शिकार पर जमा हो सकते हैं, लेकिन उक्त घटना में तो इस वात का दृढ़ प्रमाण मिलता है कि उकावों ने एक दूसरे को चेताया। शिकार पर उतरने के पहले वे दसों उकाव साथ इकट्ठे हुए थे। इस घटना के वाद भी साइवर्ट सोफ को यह मालूम करने के कई मौके मिले कि सफेद दुम वाले उकाव हमेशा किसी मरे हुए जानवर को खाने के लिए ही इकट्ठे होते हैं और उनमें से कुछ निग-रानी रखते हैं और कुछ भोजन करते हैं। निगरानी करने का काम पहले छोटे उकाव करते हैं। असल में, सफेद दुम वाला उकाव विलकुल मिल-जुलकर रहने वाला पक्षी है। इसकी गिनती वहादुर और अच्छे शिकार खेलने वाले पक्षियों में की जाती है। प्राणि-विशेषज्ञ ब्रेहम का कहना है कि अगर यह पक्षी पाला जाय तो पालने वाले से वड़ी जल्दी हिल जाता है।

शिकारी पक्षियों में सामाजिकता

शिकार खेलने वाले वहुत से दूसरे पक्षियों में भी सामाजि-कता आमतौर से पाई जाती है। ब्रेजिल की चील लूट-खसोट करने में वड़ी ढीठ गिनी जाती है, फिर भी वह वड़े मेल-जोल से रहती है। डार्विन और दूसरे प्रकृति-वेत्ताओं ने उसके शिकारी गिरोह का वर्णन किया है। यह विलकुल सही वात है कि जव कोई वहुत वड़ा

शिकार उसके हाथ लग जाता है तो उसे उठा ले जाने के लिए वह अपने पाँच-छः साथियों को बुला लेती है। प्राणी-विशेषज्ञ दी ओरबिग्नी का कहना है कि दिन-भर दौड़-धूप करने के बाद चीलें जब किसी पेड़ या झाड़ी मे रात को विश्राम करने के लिए जाती हैं तो समूह बना कर जाती हैं। कभी-कभी वे बसेरा लेने के लिए दस-दस मील की दूरी से साथ-साथ आती है। बहुधा गिद्ध भी उनके साथ हो लेते है। प्राणी-विशेषज्ञ जरुदनई के मतानुसार ट्रांसकेसपियन रेगिस्तानो में भी चीलें इसी प्रकार विश्राम लेती हैं। एक प्रकार के बलिष्ठ गिद्ध का उसके समाज-प्रेम के कारण ही, 'सामाजिक गिद्ध' नाम पड़ गया है। वे बहुत से झुण्ड बना कर रहते हैं और समाज का सुख भोगते है। मनोरंजन के लिए उनमें से कई साथ-साथ ऊँचे उड़ने को चले जाते है। प्राणि-विशेषज्ञ लेवेलियण्ट का कहना है कि उनमें आपस मे बड़ी गाढ़ी मित्रता होती है। उसने कई दफे एक ही गुफा में तीन-तीन घोंसले पास-पास पाये। ब्रेजिल देश के उरुबु गिद्ध कौवों जितने या शायद उनसे भी अधिक समाज-प्रेमी होते हैं। मिश्र के छोटे गिद्ध भी बड़े मैत्री-भाव से रहते हैं। वे हवा में झुण्ड बना-कर खेलते हैं, रात में बसेरा करने के लिए साथ-साथ आते हैं और सुबह साथ ही साथ खाने की तलाश में निकलते हैं। उनमें आपस में कभी जरा भी झगड़ा नहीं होता। प्राणी-विशेषज्ञ ब्रेहम ने बहुत अध्ययन करने के बाद मिश्र के इन गिद्धों के बारे में यह राय दी है। ब्रेज़िल के जंगलों में लाल रंग के गले वाले बाजो के भी अनेक समूह मिलते हैं। केस्ट्रल (एक निम्न क़िस्म

का बाज) पक्षी जब सर्दी के मौसम में युरोप से एशिया के मैदानों और जंगलो मे रहने को चला आता है तो वह अपने अलग-अलग गिरोह बना लेता है। प्राणी-विशेषज्ञ नॉरडमेन ने दक्षिण रूस में दूसरे बाज़ पक्षियो के साथ इनके कई समूह देखे थे। वे तीसरे पहर चार बजे रोज़ साथ-साथ बाहर निकलते और रात में देर तक उड़ते रहते थे। किसी निश्चित स्थान को लक्ष्य में रखकर वे एक सीधी क़तार में उड़ते थे और वहाँ पहुँच कर उसी मार्ग से वापस लौट आते थे।

सभी क़िस्म के पक्षियों में केवल उड़ने का आनन्द लूटने के लिए ही झुण्ड बनाकर उड़ना आम बात है। चार्ल्स डिक्सन् लिखता है कि "अगस्त के अख़ीर में विशेषकर इंग्लैण्ड के हम्बर जिले में समुद्र के किनारे कई तरह के रंग-बिरंगे पक्षी बड़ी तादाद में उड़ते हुए दिखाई देते हैं और सर्दी भर वहीं बने रहते हैं। ......इन पक्षियों का इधर-उधर उड़ना बड़ा मनोरंजक होता है। ये एक बड़े झुण्ड में इस तरह मँडरा-मँडरा कर फैलते और वापस इकट्ठे होते हैं कि मानों कोई फ़ौज क़वायद कर रही हो।

पक्षियों के अनेक तरह के शिकारी गिरोहों की यहाँ गिनती कर सकना बिल्कुल असम्भव है, लेकिन पनडुब्बों का शिकारी गिरोह अवश्य उल्लेखनीय है। ये छोटे-छोटे पक्षी बड़ी नियमबद्धता और समझदारी का परिचय देते हैं। वे हमेशा बहुत से झुण्ड बनाकर मछलियो का शिकार करने जाते हैं। कोई ठीक-सी खाड़ी चुन लेने के बाद वे किनारे की तरफ मुँह करके एक चौड़ा अर्द्ध-गोलाकर बनाते हैं। फिर वे धीरे-धीरे किनारे की ओर बढ़ते हैं

और गोलाकार को तंग बनाते जाते हैं। इस प्रकार उस गोलाकार की सब मछलियों को पकड़ लेते हैं। तंग नदियों और नहरों पर वे दो दलों में बंट कर भी शिकार खेलते हैं। प्रत्येक दल एक-एक अर्द्धगोलाकार बनाकर एक दूसरे की ओर बढ़ता है। जब दोनों दल मिलते हैं उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो मछुओं के दो दल दो लम्बे जालों को खींचते हुए उनमें फँसी हुई सब की सब मछलियो को पकड़ने के लिए एक दूसरे की तरफ बढ़ रहे हों। रात पड़ने पर वे बसेरा लेने की अपनी-अपनी जगहों पर चले जाते हैं। हर झुण्ड का सदा एक ही विश्राम-स्थान होता है। किन्तु आज तक किसी ने उनको बसेरे की जगह या खाड़ी के चुनाव के लिए लड़ते नहीं देखा। दक्षिण अमेरिका में इनके झुण्ड के झुण्ड इकट्ठे होते हैं। इन झुण्डों में पक्षियों की तादाद ४० से ५० हजार तक होती है। उनमें से कुछ सोते हैं, कुछ निगरानी रखने का काम करते हैं और शेष मछलियाँ पकड़ने चले जाते हैं। अन्त में, यदि मैं बहुत दुत्कारी जाने वाली गोरैया चिड़िया का उल्लेख न करूँ तो उनके साथ बड़ा अन्याय होगा। इस चिड़िया को जो भी खाना मिलता है, उसको वह अपने समाज के दूसरे सदस्यों के साथ ईमानदारी से बाँट कर खाती है। यूनानी लोग इस बात को जानते थे। एक यूनानी वक्ता ने इन चिड़ियों का उदाहरण देते हुए एक बार यों कहा था:—"एक चिड़िया दूसरी चिड़ियों से जाकर कहती है कि अमुक स्थान पर एक आदमी नाज की बोरी डाल गया है, और वे सब तुरन्त ही उस नाज को चुँगने चली जाती हैं। इससे तुम भी शिक्षा लो।"

मि० गुर्ने ने हाल ही में जो पुस्तक लिखी है, उसमें भी उसने लिखा है कि जहाँ नाज चुँगा जा सकता हो तो गोरैया उसकी सूचना अपने साथियों को कर देती है। उसने यह भी लिखा है कि 'घर के चौक से कितनी ही दूर नाज क्यों न फटका जाता हो, गोरैया अपना पेट भर ही लेती है।" यह सच है कि अजनबी चिड़ियों को गोरैया अपने राज्य में प्रवेश नहीं करने देती, किन्तु अपने समुदाय में वह पूरी तौर पर पारस्परिक सहयोग से काम लेती है। वैसे थोड़ा-बहुत झगड़ा तो घनिष्ट मित्रों तक में हो जाया करता है, उसकी बात जाने दीजिए।

पक्षियों के मिलकर शिकार खेलने और खाने के सम्बन्ध में और उदाहरण देना अनावश्यक होगा। हमें निश्चित रूपसे यह मान ही लेना चाहिए कि वैसा करना उनके स्वभाव में दाखिल हो गया है। इस प्रकार मिल-जुलकर रहने से उनको जो ताकत मिलती है, वह तो प्रकट ही है। हमारे छोटे-छोटे पालतू पक्षियों के समूह के आगे बलवान् से बलवान् शिकारी पक्षियों की भी बस नहीं चलता। ऐसे-ऐसे उकाब भी होते हैं जो अपने मजबूत और खतरनाक पँजों में खरगोश और हिरन के बच्चों तक को उठा ले जा सकते हैं। उन उकाबों का भी जब कोई चीलों का झुण्ड पीछा करता है तो उन्हे अपना पकड़ा हुआ शिकार छोड़ देना पड़ता है। चीलें मछली पकड़ने वाले तेज बाज का भी पीछा करती हैं, और उससे पकड़ी हुई मछली छुड़ा लेती हैं किन्तु अभी तक किसी ने इस प्रकार छीनी हुई खुराक के लिए चीलों को आपस में लड़ते नहीं देखा। डा० कुई ने करगुलेन टापू में जल मुर्गाबियों को समुद्री

चिड़ियों से उनका खाना छीनने के लिए उनका पीछा करते देखा। दूसरी ओर खासतौर पर जब घोंसले बनाने का वक्त होता है, उस समय समुद्री चिड़ियों की दो किस्में मिलकर जल मुर्गाबियों को अपने घोंसलो से दूर भगा देती हैं। कबूतर-जैसी छोटी किन्तु बहुत तेजी के साथ फुदक-फुदक कर उड़ने वाली लेपविंग नाम की चिड़िया बड़ी बहादुरी से शिकारी परिन्दों पर आक्रमण करती है। किसी बाज, चील, कौवे या उकाब पर जब वह आक्रमण करती है, तो देखते ही बनता है। दर्शक को उनमे जीत की निश्चिन्तता और शिकारी परिन्द मे क्रोध देखने को मिलता है। ऐसे अवसरो पर वे एक-दूसरे की पूरी सहायता करती हैं और उनकी तादाद बढ़ने के साथ ही साथ उनका साहस भी बढ़ता जाता है। यह चिड़िया अन्य समुद्री चिडियों को उनके शत्रुओं से बचाने में कभी पीछे नहीं रहती। इसीलिए यूनानियों ने इसको 'सुमाता' का योग्य नाम दिया है। एक सफेद दुम चटकाने वाली ममोला नाम की चिड़िया, जिसकी लम्बाई ८ इंच से अधिक नहीं होती और जो अक्सर बाग-बगीचो में पाई जाती है, छोटे बाज को उसके शिकार का पीछा नहीं करने देती। वृद्ध ब्रेहम लिखता है कि "मैंने बहुधा उसको हिम्मत और फुर्ती की तारीफ़ की है। मुझे यह मानना पड़ता है कि उसको सिवाय बड़े बाज के और कोई दूसरा शिकारी परिन्द पकड़ ही नहीं सकता। जब इन का एक झुण्ड किसी शिकारी परिन्द को हरा देता है तो ये जीत की खुशी में खूब चिल्लाती हैं और इसके बाद बिखर जाती हैं।" वे खास तौर पर शत्रु का पीछा करने के लिए इस तरह इकट्ठी होती

हैं जिस तरह कि किसी निशाचर पक्षी का दिन में आना सुनकर जंगल के सब परिन्द इकट्ठे हो जाते हैं। गाने वाली अहिंसक और हिंसक, सब प्रकार की चिड़ियाँ मिलकर अजनबी पक्षी का पीछा करती हैं जिसके फलस्वरूप उसको वापस छिप जाना पड़ता है।

एक चील या बाज की ताकत में और चरागाह की ममोला-जैसी छोटी चिड़ियों की ताक़त में कितना गहरा अन्तर है, फिर भी ये छोटी चिड़ियाँ अपनी एकता और साहस के द्वारा मजबूत पर वाले तथा हिंसक पक्षियों के मुक़ाबले में बाजी मार ले जाती है। युरोप में दुम चटकाने वाली ये चिड़ियां उन शिकारी परिंदों का ही पीछा नहीं करतीं जो उनके लिए ख़तरनाक हों, बल्कि वे मछली पकड़ने वाले बाज का भी मनोरंजन के लिए पीछा करती हैं, उसको नुक़सान पहुँचाने की उनकी नीयत नहीं होती। डा० जेरडान का कहना है कि भारतवर्ष में बड़े कौवे गोविन्दा चील का केवल खेल करने के लिए पीछा करते हैं। राजकुमार वीड़ ने ब्रेजिल देश की उकाब को तरह-तरह की चिड़ियों के झुण्डों द्वारा घिरे हुए देखा जो उसकी खिल्ली उड़ाते थे। उकाब यह सब चुपचाप सहन करता था, किन्तु कभी-कभी वह एक-दो चिड़ियों को पकड़ भी लेता था। इस प्रकार के क़रीब-क़रीब सभी मौक़ों पर छोटे पक्षी शिकारी परिन्दों से बहुत कम ताक़तवर होते हुए भी मिल कर काम करने के कारण उनसे अधिक प्रबल साबित होते हैं।

व्यक्ति को संरक्षण मिले, वह जिन्दगी का सुख भोग सके और उसकी बौद्धिक योग्यता का विकास हो, ये तीन बातें बहुतांश में सहयोगात्मक जीवन पर अवलम्बित होती हैं । सारस और तोते पक्षियो की ये दो किस्मे ऐसी हैं जिन पर सहयोगात्मक जीवन का बहुत अधिक असर देखने में आता है । सारस बड़े समाज-प्रेमी जीव होते हैं । अपनी जाति के साथ ही उनके अच्छे सम्बन्ध नहीं होते, बल्कि बहुत से दूसरे जल-पक्षियों के साथ भी वे मिल-जुलकर रहते हैं । उनकी दूरदर्शिता वास्तव में आश्चर्य-जनक होती है । यही हाल उनकी बुद्धि का भी है । नवीन स्थिति को वे एक क्षण में समझ जाते हैं और तदनुसार आचरण करते हैं । जब सारसों का कोई झुण्ड आराम कर रहा हो अथवा खा रहा हो तो कुछ सन्तरी उसके चारों ओर निगरानी करते रहते हैं । शिकारी यह अच्छी तरह से जानते हैं कि उन तक पहुँच सकना कितना कठिन है । यदि कोई मनुष्य धोखे से किसी सारस को पकड़ ले तो फिर सारस तबतक उस जगह नहीं जाते, जबतक कि उन्हे यह विश्वास न हो जाय कि वहाँ जाने में कोई खतरा नही है । यह देखने के लिए पहले वे एक सारस को वहाँ भेजते हैं, बाद में उनका एक दल जाता है । जब यह दल लौट आता है तो एक दल फिर उनकी दी हुई रिपोर्ट की सत्यता की जाँच करने के लिए जाता है । इस तरह खूब जाँच-पड़ताल करने के बाद ही सारसों का सारा झुण्ड उस जगह जायगा, जहाँ पहले वह एक बार धोखा खा चुका हो । उनके जैसे स्वभाव वाले पक्षियों की क़िस्मों से सारसों की सची मित्रता हो जाती है । तोतों

के अलावा सारस ही एक ऐसा पक्षी है जो कैद की अवस्था में मनुष्य के साथ मैत्री कर लेता है। अपने व्यापक अनुभव के आधार पर प्राणी-विशेषज्ञ ब्रेहम ने यह नतीजा निकाला है कि सारस मनुष्य को स्वामी नहीं बल्कि मित्र समझता है और इस भाव को प्रदर्शित करने की चेष्टा भी करता है। सारस बड़े सवेरे से लगाकर रात तक बराबर कुछ न कुछ करता रहता है। अपना भोजन—मुख्यतः शाक-भाजी तलाश करने के लिए वह सिर्फ सुबह के कुछ ही घण्टे खर्च करता है, दिन का शेष भाग सामाजिक जीवन में बिताता है। वह लकड़ी के छोटे टुकड़े या कङ्कर चुगता है, अपनी गर्दन झुकाता है, पंखों को खोलता है, नाचता, कूदता और इधर-उधर दौड़ता है और हर प्रकार से मन की सद्प्रवृत्तियो को दिखाने की कोशिश करता है। वह सदा खुशमिजाज और खुशनुमा बना रहता है। चूँकि वह सामाजिक जीवन व्यतीत करता है, प्रायः उसका कोई शत्रु नहीं होता। प्राणी-विशेषज्ञ ब्रेहम ने भी लिखा है कि मैंने सिवाय मगर के सारस का और दुश्मन नहीं देखा। अपनी प्रसिद्ध दूरदर्शिता के आगे वह किसी को अपना शत्रु नहीं बनने देता और आम तौर पर यह बड़ी उमर पाकर मरता है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं, यदि अपनी किस्म को बनाये रखने के लिए वह बहुत बच्चे पैदा नहीं करता; वह बहुधा केवल दो ही अण्डे सेता है। उसकी ऊँचे दर्जे की बुद्धिमत्ता के विषय में तो इतना कह देना काफी होगा कि सभी अन्वेषक इस बात से सहमत हैं कि वह बहुत-कुछ मनुष्य की बुद्धि से मिलती-जुलती होती है।

सारस के अलावा दूसरा पक्षी तोता है जो बहुत अधिक समाज-प्रेमी होता है। परिन्दों की दुनिया में बौद्धिक विकास की दृष्टि से उसका सर्वप्रथम स्थान है। ब्रेहम ने उसके रहन-सहन के तरीक़ो का सार इतनी अच्छी तरह से लिखा है कि मैं उसको यहाँ उद्धृत किये बिना नहीं रह सकता। वह यों लिखता है :—

तोता

"गर्भाधान की ऋतु को छोड़ कर वे सदा बहुसंख्यक समूहों अथवा झुण्डों में रहते हैं। जंगल में अपने रहने के लिए एक जगह निश्चित कर लेते हैं और वहाँ से रोज सुबह खाने की तलाश में निकलते हैं। हरेक पक्षी अपने झुण्ड के प्रति वफ़ादार रहता है, और वे सुख-दुःख में एक दूसरे का साथ देते है। वे सुबह मिल-कर या तो किसी खेत या बाग में चले जाते हैं या किसी पेड़ पर जा बैठते हैं और फल खाते रहते हैं। वे अपने झुण्ड की निग-रानी के लिए सन्तरी नियुक्त करते हैं और उनकी चेतावनी पर तुरन्त ध्यान देते है। ख़तरे के मौक़े पर सब एक-दूसरे की मदद करते हैं और उड़कर अपने विश्रामस्थान को चले जाते हैं। कहने का मतलब यह कि वे सदा बहुत मिल-जुल कर रहते हैं।"

तोते दूसरे पक्षियों के साथ मिलकर रहने का भी आनन्द लेते हैं। भारतवर्ष में कोयल और कौवे तोतों के साथ रात बिताने के लिए मीलों का सफ़र कर बाँस के जंगल में इकट्ठ होते हैं। शिकार करते समय तोते बड़ी आश्चर्यजनक बुद्धिमत्ता, दूर-दर्शिता और परिस्थितियों का मुक़ाबला करने की शक्ति का परिचय देते हैं। उदाहरण के लिए, आस्ट्रेलिया के किसी सफ़ेद तोतों के झुण्ड

को ही ले लीजिए। किसी नाज के खेत पर धावा बोलने के पहले, उनका एक दल इधर-उधर की देख-भाल करने के लिए खेत के आस-पास के सब से ऊँचे वृक्षों पर जा बैठता है। कुछ तोते खेत और जंगल के बीच के पेड़ों पर अपना आसन जमाते हैं और ऊँचे पेड़ों पर बैठे हुए तोतों से जो सन्देश आता है, उसे अपने झुण्ड तक पहुँचाते रहते हैं। यदि ऐसी रिपोर्ट मिली कि "सब ठीक है" तो तोतों का एक समूह झुण्ड से अलग होकर पहले एक बार हवा मे उड़ता है और फिर खेत के सब से नजदीक के वृक्षों पर क़ब्जा कर लेता है। वहाँ पास-पड़ोस की बड़ी देर तक पूरी तरह देख-भाल कर लेने के बाद वह सारे झुण्ड को आने का सन्देश देता है। उस समय सारा झुण्ड तुरन्त रवाना हो जाता है और बात की बात में खेत के नाज को खा डालता है। आस्ट्रेलिया-वासियो को इन तोतो की दूरदर्शिता का मुक़ाबला करने में बड़ी कठिनाई होती है। अगर मनुष्य अपने सारे कौशल और हथियारों से काम लेकर उन तोतो में से कुछ को मार डालने में सफल भी हो जाता है तो आगे वे इतने सतर्क और सावधान हो जाते है कि आदमी के सारे हथकण्डों को विफल कर देते हैं।

निस्सन्देह तोतों में जो क़रीब-क़रीब मनुष्यों-जैसी उच्च कोटि की बुद्धि और भावनायें दिखाई देती हैं, वह उनके सामाजिक जीवन का ही फल है। उनकी इस उच्चकोटि की बुद्धि को देखकर ही अच्छे-अच्छे प्रकृति-वेत्ताओं ने उनकी कुछ क़िस्मों को—खासकर हरे रंग के तोतों को 'पक्षी-मनुष्य' कहा है। जैसा कि प्राणि-

विशेषज्ञ ओडुबन ने कहा है, जब कोई तोता किसी शिकारी के हाथों मारा जाता है तो दूसरे तोते अपने साथी की लाश के इर्द-गिर्द उड़ते हैं और चीखते-चिल्लाते हैं तथा स्वयं भी मित्रता की बलि-वेदी पर चढ़ जाते है। जब भिन्न-भिन्न क़िस्म के दो कैदी तोतों में मित्रता हो जाती है तो कभी-कभी एक के शोक में दूसरे तोते की भी मृत्यु हो जाया करती है। इन बातो से उनके एक दूसरे के प्रति स्नेह का पता चलता है। यह भी प्रकट है कि संघर्ष-शक्ति के अच्छे से अच्छे विकास में भी उनकी इतनी रक्षा नहीं हो सकती, जितनी आज उनके समाज बनाकर रहने से होती है। बहुत ही कम शिकारी पक्षी और दूध पिलानेवाले जानवर ऐसे हैं जो तोतो की छोटी क़िस्मों को छोड़कर उनकी अन्य किसी क़िस्म पर आक्रमण करने का साहस कर सकें। ब्रेहम ने बिलकुल ठीक कहा है कि "सारसों और मिल-जुलकर रहनेवाले बन्दरों की भांति तोतों के मनुष्य को छोड़कर शायद ही और कोई शत्रु हों। अधिकांश तोते शत्रुओ के पंजो से नहीं, मुख्यतया वृद्ध होकर मरते हैं, यह कथन बहुत-कुछ सत्य प्रतीत होता है।" केवल मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो बुद्धि और हथि-यार बल में बढ़ा-चढ़ा होने के कारण उनके थोड़े-बहुत भाग को नष्ट करने में सफल होता है। किन्तु उसकी इस सफलता का मूल भी उसका पारस्परिक सहयोग ही है। इस प्रकार तोतों की दीर्घायु उनके सामाजिक जीवन का ही परिणाम दिखाई देती है। यही बात क्या हम उनकी आश्चर्यजनक स्मरण शक्ति के विषय में नहीं कह सकते? बचपन से लगाकर बहुत वृद्धावस्था तक

शारीरिक और मानसिक शक्तियों के पूर्ण उपयोग के साथ-साथ सामाजिक जीवन और दीर्घायु उनकी स्मरण-शक्ति के विकास में मदद पहुँचाती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हर व्यक्ति का अन्य सब व्यक्तियों के साथ संघर्ष करना ही प्रकृति का नियम नहीं है। पारस्परिक सहयोग प्रकृति का वैसा ही क़ानून है जैसा कि पारस्परिक संघर्ष। यह नियम और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा, जब हम पशु-पक्षियों और दूध देनेवाले जानवरों की कुछ और क़िस्मों का विश्लेषण कर चुकेंगे। समाज-विकास के लिए पारस्परिक सहयोग के महत्व को बताने वाले कुछ उदाहरण हम पिछले पृष्ठों में दे चुके हैं; किन्तु कुछ और उदाहरण देकर जब हम उन से पैदा होनेवाले परिणामों की विवेचना करेंगे तो उनका तात्पर्य हमें और भी अच्छी तरह से विदित हो जायगा।

[२]

प्राणियों में पारस्परिक सहयोग

पृथ्वी के सम-शीतोष्ण स्थानों में ज्यों ही वसन्त का आगमन होने लगता है, त्यों ही दक्षिणी गरम प्रदेशों में फैले हुए, हजारों-लाखों पक्षी अनेक झुण्डो में इकट्ठे होकर सन्तति-पालन के लिए उत्तर की ओर प्रयाण करते हैं। वे शक्ति और आनन्द से भरे होते हैं। उस समय उत्तरी यूरोप, उत्तरी अमेरिका और उत्तरी एशिया की झाड़ियों, पेड़ों के झुर-मुटों, समुद्री चट्टानों, झीलों और तालाबों पर जहाँ-कहीं आप दृष्टि डालिए आपको पता चलेगा कि पारस्परिक सहयोग पक्षियों के लिए क्या अर्थ रखता है। कोई प्राणी चाहे कितना ही कमजोर और आत्म-रक्षा के साधनो से शून्य क्यों न हो, उसको भी वह कितनी शक्ति, उत्साह और संरक्षण प्रदान करता है। उदाहरण के लिए रूस और साइबेरिया की पहाड़ी तराइयों की झीलों को ही ले लीजिए। उनके किनारों पर कम से कम बीसों विभिन्न क़िस्मों के लाखों जल-पक्षी बसे होते हैं। ये सब बड़े अमन-चैन से रहते हैं और सब एक दूसरे की रक्षा करते हैं।

वहीं आपको मजबूत से मजबूत और चालाक से चालाक लूट-खसोट करने वाले पक्षी मिलेंगे—ऐसे पक्षी जो लूट-खसोट के लिए आदर्श रूप से संगठित होते हैं। आप को उनकी भूखी, क्रोधपूर्ण और डरावनी चिल्लाहट सुनने को मिलेगी। पक्षियों के उस बड़े झुण्ड में से किसी अरक्षित प्राणी को झपट ले जाने का वे घण्टों पहले से मौक़ा ताका करते हैं। किन्तु ज्यों ही वे नज़दीक जाते हैं, दर्जनों सन्तरी स्वयंसेवकों द्वारा उनके आगमन की सूचना कर दी जाती है और सैकड़ों जल-पक्षी उस लुटेरे का पीछा करना शुरू कर देते हैं। भूख से पागल होकर वह लुटेरा साधारण सतर्कता को शीघ्र ही छोड़ बैठता है और एकाएक पक्षियों के समूह में जा घुसता है, किन्तु जब चारों तरफ से आक्रमण होने लगता है तो विवश होकर उसे वापस भागना पड़ता है। निराश होकर वह जंगली बतखों पर टूट पड़ता है, किन्तु आक्रमणकारी यदि कोई जल-उकाब हुआ तो बतखें जल्दी से इकट्ठी होकर उड़ जाती हैं; यदि कोई बाज हुआ तो जल में डुबकी लगा जाती हैं और यदि कोई चील हुई तो पानी उछालकर आक्रमणकारी को भौंचक्का कर देती हैं। इस प्रकार झीलों पर जल-पक्षियों की तादाद बढ़ती रहती है और लुटेरा पक्षी क्रोधपूर्ण चिल्लाहट करता हुआ उड़ जाता है और किसी सड़े हुए मांस के लोथड़े या किसी ऐसे छोटे पक्षी या खेत के चूहे की तलाश करता है जो अपने साथियों की चेतावनी पर समय के भीतर अमल करना नहीं जानता हो। बहुसंख्यक पक्षियों के संगठित बल के आगे

संगठन का एक दृश्य

उसे मृत पक्षियों का मांस खाकर ही सन्तुष्ट हो जाना पड़ता है।

उत्तर में और आगे आर्कटिक टापुओं के किनारे आप मीलो चले जाइए, आपको पहाड़ी स्थल, चट्टानें और पहाड़ियो के इधर-उधर के कोने दो सौ से पाँच सौ फुट ऊँचे तक समुद्री पक्षियों से ढके मिलेंगे। इन पक्षियों की सफेद-सफेद छातियाँ काली-काली चट्टानों के बीच ऐसी दिखाई देती हैं मानों उन चट्टानों पर जगह-जगह खड़िया मिट्टी के नुक़ते ही नुक़ते लगा दिये गये हों। यों कह लीजिए कि दूर-दूर तक वायु-मण्डल इन पक्षियों से भरा रहता है।

सहयोग के उदाहरण

इस प्रकार का हरेक 'चिड़ियों का पहाड़' पारस्परिक सहयोग का एक जीवित उदाहरण है। सामाजिक जीवन के फल-स्वरूप पक्षियो के स्वभाव में नाना भाँति की जो विविधतायें पैदा होती हैं, वे भी वहाँ खूब देखने को मिलती हैं। जो जल-पक्षी घोघों को पकड़ता है, उसकी शिकारी पक्षियों पर आक्रमण करने की तत्परता प्रसिद्ध है। मोरपंखी (Barge) की सावधानी मशहूर है, वह बड़ी सरलता से शान्त पक्षियों का सरदार बन जाता है। पत्थरचट्टा अपने से अधिक चुस्त पक्षियों के साथ तो डरपोक बन जाता है, किन्तु जब छोटे-छोटे पक्षी उसके साथ होते है तो वह अपने संघ की सुरक्षितता के लिए निगरानी रखने का भार अपने सिर ले लेता है। एक ओर से बड़े-बड़े हंस हैं और दूसरी ओर मिल-जुलकर रहनेवाली छोटी-छोटी जल-चिड़ियाँ, किन्तु उनमें प्रायः झगड़ा नहीं होता। यदि कभी होता भी है तो वह जल्दी ही खत्म हो जाता है।

ध्रुव प्रदेशों से आनेवाली तैराकू चिड़िया आपस में एक-दूसरे के साथ लाड़-प्यार किया करती हैं। अगर कोई घमण्डी राजहंसिनी अपने किसी मरे हुए साथी के अनाथ बच्चों के रक्षण का भार लेने से इन्कार कर देती है, तो उसकी बग़ल की ही दूसरी मादा उनको अपना लेती है और ५०-६० बच्चों के झुण्ड को साथ लेकर तैरती है। वह इस तरह उनकी सार-सम्हाल रखती है मानो वे उसीके बच्चे हों। पेन गुवायन नाम की जल-चिड़िया आपस में एक-दूसरे के अण्डे चुरा लेती है तो डोटरेल चिड़िया के कौटुम्बिक सम्बन्ध इतने मोहक और दिल पिघला देने वाले होते हैं कि जब वह अपने छोटे-छोटे बच्चों से घिरी हो उस समय उन्मत्त शिकारी भी उसके मादा पर गोली चलाने से हिचक जायगा, बड़ी बतखों में कई मादायें एक ही घोसले में अपने अण्डों को सेती हैं। प्रकृति में विविधता भरी हुई है। नीची कोटि से लगाकर ऊँची कोटि तक के स्वभाव उसमें मिलते हैं। इसलिए उसके बारे में कोई एक ही सर्वव्यापी बात नहीं कही जा सकती। नैतिक दृष्टि-कोण से उसका ठीक-ठीक निर्णय कर सकना और भी कठिन है, कारण कि वह दृष्टिकोण भी प्रकृति के अन्वेक्षण का ही फल है। यह अन्वेक्षण बहुधा अनजान में होता है।

घोसले बनाने के समय पक्षियों का एक साथ इकट्ठा होना इतनी आम बात है कि अब और उदाहरण देने की शायद ही जरूरत रह गई हो। दरख्तों पर कौवों के घोंसले ही घोंसले दिखाई देते हैं, झाड़ियाँ चिड़ियों के घोंसलों से भरी होती हैं, खलिहान के आस-पास अबाबीलों की बस्तियाँ बसी होती हैं,

पुरानी और जन-शून्य इमारतों को तो चमगादड़ों का घर ही कहना चाहिए। जो शान्ति और एकता इन सब घोंसलों में देखने को मिलती है, उसके अत्यन्त मनोमोहक वर्णन में पृष्ठ के पृष्ठ रंगे जा सकते हैं। कमजोर से कमजोर पक्षियों को भी एकता से जो संरक्षण मिलता है, वह तो प्रकट ही है। उदाहरण के लिए डा० कुई ने छोटी चट्टानी अबाबीलों को मैदानी बाजों के बिल्कुल निकट ही घोंसले बनाते देखा था। इन छोटी शान्ति-प्रिय अन्य चिड़ियों को अपने हिंसक पड़ोसियों से जरा भी डर नहीं लगता। वे उन्हें कभी अपनी बस्ती के नजदीक नहीं फटकने देतीं। वे उनका इस तरह पीछा करती हैं कि फौरन उनको वापस चला जाना पड़ता है।

घोंसले बनाने का समय गुज़र जाने के साथ ही पक्षियों के सहयोगात्मक जीवन का अन्त नहीं हो जाता। इसके बाद छोटी उमर के पक्षियों की अलग जमायतें बन जाती हैं। आम तौर पर उनमें कई क़िस्मों का समावेश होता है, उस समय मुख्यतया सामाजिक जीवन के लिए ही सामाजिक जीवन का व्यवहार होता है। उसमें थोड़ा-संरक्षण का भाव भी काम करता है, किन्तु प्रधानतः आनन्दोपभोग ही उसका उद्देश्य होता है। नटहॉचर (Nuthatchers) योरोपीय चिड़िया है जो पेड़ों पर बैठती है और अखरोट के वृक्ष का गूदा खाती है। जंगलों में इसके छोटे-छोटे बच्चे टिटमाउस,(Titmouses) चेफिञ्च (Chaffinches)रेन (Wrens) और वुड पेकर या कठखोदा (Wood pecker) चिड़ियों के बच्चों के

साथ अपना गिरोह बना लेते हैं। × स्पेन में अबाबील बाज़, मक्खीमार और कबूतर तक के साथ रहती हुई पाई जाती है। अमेरिका के सुदूर पश्चिम में लावा (चण्डूल) पक्षी के बच्चे जिनके सिर पर दो सींग निकले होते हैं प्रेग्यु लावे, आकाश-गामी लावे, सवान्नाह चिड़िया और दूसरी कई क़िस्म की चिड़ियों के साथ बड़ा समूह बनाकर रहते हैं। वास्तव में इस प्रकार की किस्मों की गिनती करने की अपेक्षा उन क़िस्मों का वर्णन कर देना अधिक सरल होगा, जो एकान्तिक जीवन बिताती हैं। छोटी उमर के वे पक्षी वसन्तकालीन समाजों में शिकार करने या घोंसले बनाने की ग़रज से शामिल नहीं होते। वे तो केवल सामाजिक जीवन का आनन्द लेने और अपना समय खेल-तमाशे में बिताने के लिए ही शामिल होते हैं। हाँ दिन में कुछ घण्टे अवश्य वे अपना खाना तलाश करने के लिए खर्च करते हैं।

प्रवासकाल में सहयोग

सबसे आखिर में, पक्षियों के प्रवास के समय पारस्परिक सहयोग का जो भारी प्रदर्शन देखने को मिलता है उसकी यहाँ संक्षेप में चर्चा करने का मैं साहस नहीं कर सकता। यहाँ तो इतना कह देना ही काफ़ी होगा कि जो पक्षी महीनों छोटे छोटे झुण्डों में एक व्यापक भूभाग पर फैले हुए रहते हैं, ये दूसरे प्रदेश में जाने के पूर्व हज़ारों की

× टिटमाउस एक प्रकार छोटी किन्तु चुस्त चिड़िया होती है जो बीज और कीटों को खाकर जाती है। उसकी आवाज बड़ी तीखी होती है। चेफिंच इंग्लैण्ड की चिड़िया है जिसका गाना वसन्त के प्रारम्भ से ग्रीष्म के मध्य तक सुनाई देता है। रेन एक किस्म का छोटा चिड़िया होती है जो बड़ा तेज और चालाक होती है।

तादाद में एक निश्चित स्थान पर लगातार कई दिनों तक इकट्ठे होते रहते हैं और अपनी यात्रा के कार्यक्रम पर विचार करते है। कुछ क़िस्मो के पक्षी लम्बी यात्रा के पूर्व रोज दुपहर को अभ्यास बढ़ाने के लिए थोड़ी-थोड़ी दूर तक उड़ आते हैं और सब अपने धीमे-धीमे आने वाले साथियों की प्रतीक्षा करते रहते हैं। जब सब आ चुकते हैं तब वे एक सुनिश्चित दिशा की ओर रवाना होते हैं। दिशा का यह निर्णय उनके दीर्घकालीन सामूहिक अनुभव का फल होता है। जो सबसे मजबूत होता है, वह अपने झुण्ड के आगे-आगे उड़ता है और हरेक इस कठिन काम में एक-दूसरे को मदद पहुँचाते रहते हैं। ये पक्षी बड़े और छोटे पक्षियों के बड़े-बड़े झुण्डों में समुद्र को पार करते हैं और जब आगामी वसन्त में वे फिर लौटते है तो अपनी वही पुरानी जगह ले लेते हैं और बहुत करके उनमे से हरेक पिछले वर्ष में बनाये हुए अपने घोसले पर ही क़ब्ज़ा करता है।

यह विषय इतना व्यापक होते हुए भी इसका बहुत अधूरा अध्ययन हुआ है। प्रवास को सफल बनाने के लिए पक्षियो में पारस्परिक सहयोग के इतने अधिक आकर्षक उदाहरण मिलते हैं कि उनमें से हरेक का विशेष रूप से अध्ययन करने की आवश्यकता होगी। मुझे यहाँ उनके अधिक ब्यौरे में नही जाना चाहिए। मैं यहाँ सरसरी तौर पर ही उन अनेक चहल-पहल से परिपूर्ण पक्षी-समूहों का उल्लेख करूंगा जो दक्षिण या उत्तर की ओर लम्बी यात्रा करने के पूर्व हर वर्ष एक ही स्थान पर इकट्ठे होते हैं। जब ये पक्षी येनिसी नदी पर या इंग्लैंड के उत्तरी जिलों

में अपने बच्चे पैदा करने के स्थानों में पहुँच जाते हैं, उस समय जो दृश्य देखने को मिलते है उनका भी इसी प्रकार उल्लेख करना पड़ेगा। लगातार कई दिनों तक, कभी-कभी एक महीने तक, वे नित्य सवेरे खाने की तलाश में जाने के पहले एक स्थान पर इकट्ठे होते हैं और शायद इस बात चर्चा की करते हैं कि किस को किस स्थान पर अपना घोसला बनाना चाहिए। यदि प्रवास के समय कोई तूफान आगया तो भिन्न-भिन्न क़िस्मों के पक्षी भी एक साथ रह कर उस संकट को बर्दाश्त करते है। जो पक्षी इतने प्रवास-शील नहीं होते वे भी मौसमों के बदलने के साथ-साथ जब उत्तर और दक्षिण की ओर धीरे-धीरे बढ़ते हैं, तो उसी तरह झुण्ड बना कर यात्रा करते हैं। अलग-अलग जाने से विभिन्न जिलों में भोजन और आश्रय की जो अधिक सुविधायें मिल सकती हैं, उनकी वे परवाह नहीं करते। वे हमेशा एक-दूसरे की प्रतीक्षा करते हैं और जब सब झुण्ड इकट्ठे हो जाते हैं तभी रवाना होते हैं।

दूध पिलाने वाले पशुओं में—

अब दूध पिलाने वाले पशुओं को लीजिए। सब से पहली बात जिस पर हमारी दृष्टि जाती है वह यह है कि कुछ मांसाहारी पशुओं को छोड़ कर उनमें सामाजिक जीवन बिताने वाले पशुओं की ही अधिकता है। पठार, आल्प्स पहाड़ की तराइयाँ, यूरोप और एशिया के मैदान भिन्न-भिन्न प्रकार के हिरनों, भैंसों, जंगली भेड़-बकरियों आदि, मिल-जुल कर रहने वाले जानवरों से भरे पड़े हैं। जब यूरोपीय लोग अमेरिका में बसने गये थे उस समय

उन्होंने उसे भैंसो ही भैंसो से बसा हुआ पाया । उनके रास्ते के सामने से जब भैंसो की क़तारें निकलने लगती थीं तो कभी-कभी दो-तीन दिन तक उनका अन्त न आता था और वे उसी जगह रुके पड़े रहते थे । इसी प्रकार जब रूसी लोग साइबेरिया पर क़ब्ज़ा करने को गये तो उन्हें वहाँ हिरनों, गिलहरियो आदि सामाजिक जानवरों के सिवा कुछ न मिला। दो सौ वर्ष तक लगातार इन पशुओं का संहार कर चुकने के बाद कहीं वे साइबेरिया में बस सके। पूर्वी अफ्रीका के मैदान तो अब भी ज़ेबरा (जंगली गधा) और तरह-तरह के हिरनो के झुण्डों से भरे पड़े हैं !

बहुत समय नहीं गुजरा, उत्तरी अमेरिका और उत्तरी साइबेरिया के छोटे-छोटे झरनो के आप-पास बिलावो की बड़ी बस्तियाँ थीं। उत्तरी रूस में तो १७वीं शताब्दी तक ऐसी बस्तियो की भरमार रही है। अमेरिका, यूरोप, अफ्रिका और एशिया महाद्वीपों के चौरस मैदानों में अब भी असंख्य पहाड़ी चूहे, जंगली चूहे, गिलहरियाँ और दूसरे कुतरने वाले जानवर बसे हुए है । एशिया और अफ्रिका के नीचे के हिस्सो के जंगलो में आज भी हाथियों, गैंडों और तरह-तरह के बन्दरो के घर हैं। सुदूर उत्तर में बारहसिंघों के असंख्य झुण्ड मिलते हैं। और अधिक उत्तर में जाने पर हमें मुश्की बैल और लोमड़ियों के बेशुमार झुण्ड नज़र आते हैं। समुद्र के किनारो पर गोहो और दरियाई घोड़ों के समूहों की चहल-पहल रहती है और गहरे पानी में मामूली तथा ह्वेल मछलियों की। मध्य एशिया के उस बड़े पठार के बीचों-बीच भी हमें जंगली घोड़ो, गधों, ऊँटों और भेड़ो के झुण्ड के झुण्ड

मिलते हैं। ये सब चौपाये अपने-अपने समाज और राष्ट्र बना-कर रहते हैं। कभी-कभी इन समाजो और राष्ट्रों में रहने वाले पशुओ की तादाद लाखों तक पहुँच जाती है । यह अवस्था तो उस समय है, जब हिंसक सभ्यता का आविर्भाव हुए तीन शताब्दियाँ बीत चुकी हैं। इस समय पशुओं की जो तादाद हमें नजर आती है, वह तो पुरानी पूँजी का एक बचा-खुचा हिस्सा है। फिर भी उसके मुक़ाबले में मांसाहारी पशु कितने कम हैं ! जो लोग समझते हैं कि पशु-संसार सिंह और चर्ख-जैसे हिंसक जीवों से भरा पड़ा है और उसमे मार-काट चलती रहती है, उनका मत कितना भ्रान्तिपूर्ण है। उनके मतानुसार तो जैसे प्राणी-जीवन में युद्ध और हत्याकाण्डो के सिवा और कुछ है ही नहीं।

चौपायों मे साथ-साथ रहना और एक-दूसरे की मदद करना साधारण नियम है। मांसाहारी पशुओ में भी मिल-जुलकर काम करने की आदत पाई जाती है। सिंह, चीते, बघेरे आदि ही कुछ ऐसे जानवर हैं जो अलग-अलग रहना पसन्द करते हैं और छोटे-छोटे गिरोहों तक मे नजर नहीं आते। फिर भी शेरों में साथ मिलकर शिकार करने की एक आम प्रथा है। मुश्की बिलाव और न्योला ये भी ऐसी दो क़िस्में हैं जिनकी कि अलग रहने वाले जानवरों में गिनती की जा सकती है। क़िन्तु यह सही है कि आज कल की अपेक्षा न्योला पिछली शताब्दि में अधिक मेल-जोल से रहता था। उस समय वह स्काटलैण्ड में और स्वीजरलैण्ड के अंटरवाल जिले में बड़े समूहों में पाया जाता था। कुत्ते की जाति तो सामाजिक जाति

चौपायों का उदाहरण

प्रसिद्ध ही है। मिलकर शिकार करना उसकी कई किस्मों की एक मुख्य विशेषता है। यह भी प्रसिद्ध है कि भेड़िये झुण्ड बनाकर शिकार खेलते हैं। प्राणी-विशेषज्ञ शुदी ने उनके शिकार का बड़ा अच्छा वर्णन लिखा है। पहले तो वे पहाड़ी ढलाव पर चलने वाली गाय को एक अर्द्ध-गोलाकार बनाकर घेर लेते हैं और फिर जोर-जोर से गुर्राते हुए एकाएक उसके सामने आ धमकते हैं। बेचारी गाय पहाड़ की दरार में जा गिरती है। उन्नीसवीं शताब्दि के प्रारम्भ में प्राणि-विशेषज्ञ ओडुबन ने लेबारेडर प्रदेश के भेड़ियों को झुण्ड बनाकर शिकार करते देखा था। भेड़ियों के एक गिरोह ने एक आदमी के कुत्तों को मार डाला और उसके घर तक पीछा किया। ४५ वर्ष पहले ही की बात है फ्रान्स में जब कड़ी सर्दी पड़ती तो भेड़ियों के गिरोह इतने अधिक बढ़ जाते कि मनुष्यों के लिए एक भारी खतरा पैदा हो जाता था। रूस की पहाड़ी तराइयों में भेड़िये बिना अपना गिरोह बनाये घोड़ों पर कभी आक्रमण नहीं करते और फिर भी उनको घोड़ों के साथ कड़ी लड़ाई लड़नी पड़ती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि घोड़े भेड़ियों पर खुद आक्रमण करना शुरू कर देते हैं। उस समय यदि भेड़िये जल्दी से पीछे न हटे यानी भाग न गये तो उनके लिए घोड़ों से घिर कर उनके खुरों द्वारा कुचले जाने का सदा खतरा रहता है। मैदानी भेड़िये जब अपने झुण्ड से अलग पड़ जाने वाली किसी भैंस का पीछा करते हैं तो बीस-तीस का गिरोह बना लेते हैं। गीदड़ भी सदा गिरोह के साथ शिकार खेलते हैं। इस प्रकार इकट्ठे हो जाने के बाद उन्हें सिंह, चीते

आदि बड़े-बड़े हिंसक जीवो तक का कोई भय नहीं रहता। वे बड़े साहसी होते हैं। उनकी बुद्धिमत्ता की तो कहानियाँ तक प्रचलित हैं।

एशिया के जंगली कुत्तों के बड़े-बड़े झुण्ड पाये जाते हैं। हाथी और गैंडों को छोड़कर और सब बड़े पशुओ पर उनको हमला करते हुए प्राणि-विशेषज्ञ विलियमसन ने स्वयं अपनी आँखो से देखा है। वे रीछ और चीते तक को परास्त कर देते हैं। चर्ख भी हमेशा अपना समाज बनाकर रहते है और गिरोह के साथ शिकार खेलते हैं। इतना ही नहीं, वे लोमड़ियाँ तक जो हमारे सभ्य देशो में अलग-अलग रहती हैं, शिकार खेलने के लिए एक साथ जमा होती देखी गई हैं। ध्रुव प्रदेश की लोमड़ियाँ तो और भी मेल-जोल से रहती हैं। स्टेलर नामक लेखक ने बेहरिंग के काफले और इन छोटे समझदार जानवरों की लड़ाई का वर्णन लिखा है। समझ में नहीं आता कि उस लड़ाई में किसकी तारीफ की जाय। लोमड़ियों की बुद्धिमत्ता और मेल-जोल को अथवा उन मनुष्यों की निर्दयता की जो लोमड़ियों के मारे तंग हो चुके थे ? मनुष्य पत्थरों के ढेर के नीचे खाने का सामान रखते, तो लोमड़ियाँ उसे खोद निकालतीं और अगर किसी ऊँचे खम्भे पर रखते तो एक लोमड़ी ऊपर चढ़कर उसे अपने साथियो के मुँह आगे नीचे डाल देती थी। जहाँ आदमी उन्हें नही छेड़ते, वहाँ रीछ भी मिल-जुलकर रहते है। स्टेलर ने कामटचटका के काले रीछों के कई गिरोह देखे थे। ध्रुव-प्रदेश के रीछों के भी छोटे-छोटे दल मिलते हैं। जो बुद्धिहीन पशु कीड़े खाकर रहते

हैं, वे भी सदा ही मिलने-जुलने को नापसन्द नहीं करते ।

किन्तु कुतरनेवाले, खुर वाले और जुगाली करनेवाले जानवरों में ही हमें खास तौर पर ऊँची श्रेणी का पारस्परिक सहयोग देखने को मिलता है। गिलहरियाँ एक हद तक अलग-अलग रहती हैं। हर एक गिलहरी अपना अच्छा-सा घर बनाती है और उसमें खाने की सामग्री इकट्ठी करती है । उनका झुकाव कौटुम्बिक जीवन की ओर अधिक रहता है । जब गिलहरियों का कोई कुटुम्ब अपने नये बच्चों के साथ जंगल में किसी एकान्त कोने मे पहुँच जाता है तो अपने को सुखी मानता है । इतना सब होने पर भी उन के सामाजिक सम्बन्ध होते हैं। वे आपस में बराबर मिलती-जुलती रहती हैं और जब जंगल में बेरों की कमी आ जानी है तो वे झुण्ड बनाकर दूसरे स्थानों को चली जाती है। पश्चिम की काली गिलहरियाँ भी समाज के साथ बहुत प्रेम रखती है। दिन में कुछ घण्टे खाना इकट्ठा करने के अलावा वे कई दलो में बँट कर खेलती रहती हैं। जब किसी एक भाग मे उनकी संख्या बहुत बढ़ जाती है तो वे क़रीब-क़रीब टिड्डियों की भाँति बड़े-बड़े गिरोहों में इकट्ठी होकर दक्षिण की ओर रवाना होती हैं और रास्ते में जंगल, खेत और बाग़-बगीचों सब को बरबाद कर देती है। लोमड़ियाँ, ध्रुव प्रदेश की बिल्लियाँ, बाज़ और रात में उड़ने वाले शिकारी पक्षी उनके पीछे-पीछे चलते है और उनमें से भूली-भटकी गिलहरियो को हड़प कर जाते है। धरती के भीतर रहने वाली वैसी ही गिलहरी और भी अधिक सामाजिक होती है। उसकी संग्रह

उच्च श्रेणी का पारस्परिक सहयोग

करने की आदत होती है। वह अपने गुप्त बिलों में खाने योग्य पेड़ की जड़ें, मूँगफली आदि सामग्री इकट्ठी करती है। कुछ अन्वेषकों के मतानुसार वह कंजूसकी भांति चीज़ों को जमा करने में ही आनन्द मानती है, उनका उपयोग करने में नहीं। फिर भी वह समाज से प्रेम करती है। वह सदा बड़े-बड़े गाँवों में रहती है। प्राणि-विशेषज्ञ ओडुबन ने सर्दी में उनके कुछ बिल खोदे तो उसे एक ही बिल मे कई गिलहरियाँ मिलीं। उन बिलो में उन्होंने मिलकर ही खाने की सामग्री इकट्ठी की होगी।

पहाड़ी चूहों की भी एक बड़ी जाति है। उसमें तीन बड़ी क़िस्में होती हैं जा आज भी खूब हिल-मिलकर रहती हैं और बड़ी बुद्धिमान होती हैं। इनमें हरेक चूहा अपना अलग-अलग घर बनाना पसन्द करता है, किन्तु रहते सब बड़े-बड़े गाँव बनाकर हैं। सौसलिक नाम का चूहा दक्षिण रूस मे फसल का घोर शत्रु माना जाता है। अकेले मनुष्य के हाथो ही प्रति वर्ष कोई १० अरब ऐसे चूहे नष्ट कर दिये जाते है। उनकी भी अनेक बस्तियाँ पाई जाती हैं। रूस की प्रान्तीय व्यवस्थापक सभायें समाज के इस शत्रु से छुटकारा पाने के उपायो पर गम्भीरतापूर्वक विचार करती रहती है, फिर भी वे हजारो की संख्या में खूब हँसते-खेलते जीवन बिताते हैं। इन चूहो का खिलवाड़ इतना मनोहर होता है कि कोई भी अन्वेषक उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। उनके विनाश का कोई जघन्य उपाय आविष्कार करने के पहले उसे उनके तरह-तरह के मधुर स्वरो का उल्लेख भी करना ही पड़ेगा। सभी क़िस्म के हिंसक पक्षी और शिकारी जानवर उनको नष्ट करते

में असफल साबित हो चुके हैं। अब तो विज्ञान के पास आखिरी अस्त्र यह रह गया है कि उनके शरीरों में हैजे का विष प्रविष्ट कर दिया जाय! अमेरिका में मैदानी कुत्तों के गाँवों का दृश्य बड़ा सुन्दर दिखाई देता है। मैदान में जहाँ तक दृष्टि जा सकती है आपको थोड़ी-थोड़ी दूर पर मिट्टी के टीले ही टीले नज़र आयँगे। ऐसे हरेक टीले पर एक कुत्ता खड़ा रहता है और अपने पड़ोसी कुत्तों के साथ थोड़ी-थोड़ी देर में भौंक कर मजेदार बात-चीत करता रहता है। ज्यों ही किसी मनुष्य के आने की आहट मिलती है कि सब के सब अपने-अपने घरों में घुस जाते हैं। वे इस तरह ग़ायब हो जाते हैं, जैसे जादू की लकड़ी फिर गई हो। खतरे के गुज़र जाने पर वे शीघ्र ही वापस बाहर निकल आते हैं। उनके बच्चे आपस में एक-दूसरे से नोंचा-नोंची किया करते हैं। एक-दूसरे को तंग करते रहते हैं और इस प्रकार अपनी खुश-मिजाजी का परिचय देते हैं। बूढ़े कुत्ते बच्चों की निगरानी रखते हैं। ये एक-दूसरे से मिलने को भी जाते हैं। एक टीले से दूसरे टीले तक उनके पावों के जो निशान बने हुए दिखाई देते हैं, वे उनके बार-बार आते-जाते रहने के प्रमाण हैं। संक्षेप में, बड़े-बड़े प्रकृत्ति-वेत्ताओं ने अमेरिका के मैदानी कुत्तों, यूरोप, एशिया और अफ्रीका के पहाड़ी चूहों तथा आल्प्स पर्वत के आस-पास मिलनेवाले ध्रुव प्रदेश के चूहों के पारस्परिक सहयोग के विषय में बड़ा सुन्दर वर्णन लिखा है। जो बात मैंने शहद की मक्खियों के बारे में कही है वही मुझे पहाड़ी चूहों के बारे में भी कहनी है। उन्होंने अपनी लड़ने की प्रवृत्ति को नष्ट नहीं होने दिया है। कैद में रखे जाने पर वह पुनः प्रकट होती

है। किन्तु जब वे बड़े-बड़े समूहों में प्रकृति की गोद में स्वतंत्रता-पूर्वक विचरण करते हैं तो उस प्रवृत्ति के विकास का कोई अवसर ही नहीं मिलता। इसका फल यह होता है कि उनमें पूर्ण शान्ति और एकता बनी रहती है।

हमारे घरों में रहनेवाले चूहे भी, जो बराबर आपस में लड़ते रहते हैं, इतने समझदार तो होते ही हैं कि नाज की कोठियों पर धावा मारते समय लड़ना बन्द कर देते हैं। वे लूट में इधर-उधर जाने में ही नहीं, बल्कि बीमारों को खिलाने तक में एक दूसरे की मदद करते हैं। कनाड़ा के मुश्क चूहे बड़े समाज-प्रेमी जीव होते हैं। प्राणि-विशेषज्ञ ओडुबन ने उनके शान्त समुदायों की प्रशंसा की है। वह कहता है कि उनको शान्ति में बाधा न पहुँचाई जाय तो वे बड़े आनन्द से रहेंगे। अन्य समाज-प्रेमी जानवरों की भांति वे बहुत क्रियाशील और खिलाड़ी होते हैं। वे अपनी दूसरी क़िस्मों के साथ बड़ी जल्दी मेल-जोल कर लेते हैं। उनका बौद्धिक विकास ऊँचे दर्जे तक पहुँच चुका है। उनकी बस्तियाँ नदियों और झीलों के किनारे होती है। वे पानी के उतार-चढ़ाव को देखकर अपना घर बनाते हैं। ये घर गुम्बद-नुमा होते हैं और चिकनी मिट्टी तथा सरकण्डों से बनाये जाते हैं। उनमें मल-मूत्र के लिए अलग स्थान होता है। रहने की जगह सर्दियों में गुदगुदी और गरम रहती है, किन्तु उसमें हवा की कमी भी नहीं होती। पशुओं के जीवन में जो दिलचस्पी रखते हैं, वे सब ऊदबिलावों के सहानुभूतिपूर्ण स्वभाव से परिचित हैं। उनकी आश्चर्यजनक खोहें और बस्तियाँ बड़ी खूबी के

साथ यह बताती हैं कि जाति की रक्षा और उसमें सामाजिक आदतो की वृद्धि तथा बौद्धिक विकास के लिए पारस्परिक सहयोग क्या-क्या करता है। इन खोहों और बस्तियो में ऊदबिलावों की पीढ़ियाँ की पीढ़ियाँ गुजर जाती हैं, पर वे मनुष्य और ओटर जानवर को छोड़कर और किसी शत्रु को नही जानते। ऊदबिलावों, मुश्क चूहो और कुछ दूसरे कुतरनेवाले जानवरों में मनुष्यों की भांति मिलकर काम करने के स्वभाव का तो हमें पहले ही पता लग चुका है।

दक्षिण रूस की धरती में रहनेवाले खरगोशों की दो बड़ी जातियो के विषय में मैं कुछ नहीं लिखूँगा। हालांके इन छोटे-छोटे कुतरनेवाले जानवरों के बढ़िया उदाहरण से यह बताया जा सकता है कि सामाजिक जीवन से पशुओं को कितना सुख मिलता है ×। यह कहना बड़ा कठिन है कि पारस्परिक संरक्षण की आवश्यकता या केवल अपने साथियों के बीच में रहने का आनन्द इन दो में से कौन पशुअ को एक स्थान पर ला इकट्ठा करता है। किन्तु यह तो कहा ही जा सकता है कि साधारण जाति के खरगोश न तो जीवन की अन्य आवश्यकतायें पूरी करने के लिए समाज-जैसी किसी

खरगोशों के उदाहरण

* विषकाशा नाम के धरती के अन्दर रहनेवाले खरगोशो में सामाजिकता बड़े ऊँचे रूप में पाई जाती है। ये न केवल अपने अलग-अलग गाँव बनाकर शान्तिपूर्वक रहते हैं वरन् रात के समय एक गाँव वाले दूसरे गाँव वालो से मिलते-जुलते भी रहा करते हैं। यदि कभी जमीन धंस जाने से एक गाँव वाले दब जाते हैं तो दूसरे गाँव वाले वहाँ एकत्र हो जाते हैं और खोदकर उन्हें निकाल लेते हैं। हडसन ने तो यह लिखा ही है पर मैंने भी स्वयं यह दृश्य ला प्लेटा में देखा है।

संस्था का निर्माण करते हैं और न उनमें गहरी पैतृक भावनाये होती है, वे भी खेल के लिए एक स्थान पर आये विना जीवित नही रह सकते। डीटरिच डी विकेल खरगोशों के स्वभाव से बड़ी अच्छी तरह परिचित माना जाता है। उसने उन्हे उन्मत्त खिलाड़ी बताया है जो खेल मे इतने मस्त हो जाते हैं कि लोमड़ी को भी खरगोश समझ बैठते है। सफेद खरगोश झुण्डों मे रहते है। उनका कौटुम्बिक जीवन पुराने कुल-तन्त्र के ढॉचे से मिलता-जुलता होता है। छोटे बच्चे पूरी तरह पिता ही नहीं दादा तक की अधीनता मे रखे जाते है। इस प्रकार हमारे सामने खरगोशों की एक-सी मिलती-जुलती दो क़िस्मों का उदाहरण है जिनमे आपस में कभी बनती नही। जब पशुओ की दो किस्मो मे अनबन दिखाई देती है तो बहुधा उसका कारण यह बताया जाता है कि वे एक ही प्रकार के खाने पर बसर करते है। किन्तु खरगोशो की अनबन का यह कारण नहीं है, उसका कारण तो बहुत करके यह है कि एक खरगोश तो तुनुकमिज़ाज और एकान्त पसन्द करने वाला होता है और दूसरा शान्त, खामोश और दब्बू होता है। उनके स्वभाव मे इतना अधिक अन्तर होता है कि वे एक-दूसरे के मित्र नहीं हो सकते।

घोड़ों के बड़े समुदाय मे भी सामाजिक जीवन एक आम नियम है। इस समुदाय मे एशिया के जंगली घोड़े और खच्चर, अफ्रीका के जेब्रा और मस्तंग तथा मंगोलिया और साइबेरिया के अर्द्ध-जंगली घोड़े शामिल है। वे अनेक जमायतों में रहते हैं जो कई गिरोहो की बनी होती हैं।

घोड़ों में—

हरेक जमात में एक घोड़े की अधीनता में कई घोड़ियाँ रहती हैं। पुरानी और नई दुनिया के ये असंख्य बाशिन्दे दुनिया की सतह पर से अब तक न मालूम कभी के उठ गये होते, यदि उनमें सामाजिक भावना न होती, कारण कि अपने अनेक शत्रुओं और विपरीत आवोहवा का प्रतीकार करने के लिए वे काफ़ी संगठित नहीं है। फिर भी जब कोई शिकारी जानवर उन पर आक्रमण करता है, तो उनके कई गिरोह आपस में मिल कर उसे भगा देते हैं, कभी-कभी उसका पीछा भी करते हैं। जब तक कोई घोड़ा या जेब्रा अपने झुण्ड से अलग न हो जाय, तब तक न भेड़िया, न रीछ और न शेर ही उसे मार सकता है। जब जंगल में आग लग जाती है तो वे दस-दस हजार की तादाद में एक जगह इकट्ठे होकर दूसरे स्थान को चले जाते हैं। इसी प्रकार जब पहाड़ी तराइयों में वर्फ़ का तूफ़ान आता है तो उनका हरेक गिरोह पास-पास रहता है और घाटियों की ओट में शरण लेता है। किन्तु यदि वे आत्म-विश्वास खो बैठें और घबराहट के कारण अलग-अलग हो जायँ, तो वे बड़ी तादाद में नष्ट हो जाते हैं और तूफ़ान के बाद जो बच रहते हैं, वे अधमरे मिलते है। जीवन-संघर्ष में एकता उनकी सब से बड़ी ढाल है, और मनुष्य उनका सब से बड़ा दुश्मन। ज्यों-ज्यो मनुष्यों की तादाद बढ़ने लगी, त्यों-त्यों घोड़े तिब्बत के पास के सुनसान पठारों की ओर जाने लगे, जहाँ कोई आसानी से नहीं पहुँच सकता। वहाँ वे आज भी हिंसक पशुओं से घिरे हुए खराब आब-हवा में रहते है, किन्तु उनके लिए सन्तोष की बात यही है कि वहाँ कोई मनुष्य नहीं पहुँच पाता।

हिरनों की मुख्यतया तीन किस्में होती हैं। जुगाली करने वाले जानवरों का यह एक बड़ा समुदाय है। बारहसिंघा और खासकर

हिरनों में—

इस समुदाय के जीवन से आपस में मिल-जुल कर रहने के अनेक विशिष्ट उदाहरण दिये जा सकते हैं। हिंसक पशुओं के अक्रमण से अपने समूह की रक्षा करने में वे बड़ी सावधानी रखते हैं। पहाड़ी हिरनों के एक गिरोह में जब तक सब हिरन किसी कठिन चट्टानी मार्ग को पार नहीं कर लेते, सब को एक-दूसरे की चिन्ता बनी रहती है। वे अनाथ बच्चों का भी पालन-पोपण करते है। अरबी हिरनों में जब किसी का कोई सगा अथवा साथी मर जाता है तो उसको बड़ी निराशा होती है। इसके अलावा हिरन के बच्चो के खिलवाड़ आदि कई ऐसी बातें हैं, जिनका यहाँ उल्लेख किया जा सकता है किन्तु जब विलायती हिरन प्रवास करते हैं उस समय पारस्परिक सहयोग का शायद सब से अधिक आकर्पक उदाहरण देखने को मिलता है। ऐसा दृश्य एक बार मैं अमूर पठार पर देख चुका हूँ। जब मैं ट्रान्सबेकालिया से मरछोन स्थान को जा रहा था, तो मैंने उस ऊँचे पठार को और उसकी बड़ी कगार खिंगन को पार किया था। अमूर जाते हुए मैने उससे आगे के चौड़े मैदान का भी सफर किया था। मैंने उस यात्रा में देखा कि जन-शून्य पृथ्वी के इन भागो में विलायती हिरनो की कितनी कम बस्ती है। दो वर्ष बाद मैंने अमूर नदी के किनारे-किनारे ऊपर की ओर फिर यात्रा की। अक्टूबर के अखीर में उस सुहावनी घाटी के नजदीक पहुँचा जहाँ अमूर नदी पठार की कगार को चीरती हुई. नीचे

धरती पर बहती है और सुंगरी नदी में मिल जाती है। उस घाटी के आस-पास के गाँवो में रहने वाले लोग बहुत घबड़ाये हुए नजर आये। इसका कारण यह था कि हजारों की तादाद में हिरन नीचे की तराइयों में जाने के लिए अमूर नदी को सब से संकड़े स्थान पर पार कर रहे थे। नदी में काफी बर्फ तैरती थी। गाँव वाले नदी के ऊपर की तरफ़ ४० मील तक हिरनो का संहार करते रहे। नित्य हजारो ही हिरन मारे जाते थे, फिर भी वे बराबर आते ही रहे। हिरनो का इतना बड़ा प्रवास न तो पहले देखा गया न उसके बाद ही देखने में आया है। पठार की खिंगन कगार पर समय से पहले और भारी बर्फ गिरने के कारण ही हिरनों का यह प्रवास हुआ होगा। इस बर्फ के तूफ़ान से विवश होकर ही हिरनो को दौसे पहाड़ की पूर्वी तराइयों में पहुँचने का जी-तोड़ प्रयत्न करना पड़ा। इसमें शक नहीं कि थोड़े दिन बाद दौसे-एलिन की वह तराई भी दो-तीन फुट गहरी बरफ से ढक गई थी। ब्रिटेन-जितने विस्तृत भू-भाग में फैले हुए हिरनों का इतनी बड़ी तादाद में मुसीबत से बचने के लिए एक नियत स्थान पर इकट्ठा होना समझदार जानवरों की सामाजिक वृत्ति का सूचक है। उत्तरी अमेरिका की भैंसो ने भी एक बार ऐसी ही संगठन-शक्ति का परिचय दिया था। वे अनेक छोटे-छोटे दलो में बँट कर एक बड़ी तादाद में मैदानो में चर रही थी। ये छोटे-छोटे दल आपस में कभी नहीं मिलते थे। किन्तु जब जरूरत पड़ी, दूर-दूर फैले हुए वे सब दल एकत्र हो गये और हजारो भैंसों का यह गिरोह कतार बाँध कर दूसरे स्थान को जाने लगा।

मुझे हाथियों के 'संयुक्त कुटुम्बों' के सम्बन्ध में भी कुछ शब्द कहना चाहिए। उनमें आपस में बड़ा प्रेम होता है। वे चतुराई के साथ अपनी रक्षा के लिए सन्तरी नियुक्त करते हैं। घनिष्ट पारस्परिक सहयोग उनके जीवन का मुख्य अंग होता है। इस प्रकार के जीवन से उनमें सहानुभूतिपूर्ण भावनाओं का जो उदय होता है, वह तो स्पष्ट ही है। यहाँ मैं एक प्रकार से घृणित जीव समझे जाने वाले जंगली सुअरों में पाई जाने वाली सामाजिक वृत्तियों का भी उल्लेख कर दूँ। शिकारी जानवर के आक्रमण के समय वह अद्-भुत संगठन शक्ति का परिचय देता है। पशुओं की सामाजिकता के विषय में लिखी जाने वाली किसी पुस्तक में दरियाई घोड़ों और गैंडों को भी कुछ स्थान अवश्य देना पड़ेगा। गोहों और दरियाई गायों की सामाजिकता और उनके पारस्परिक मेल-जोल पर कई आकर्षक पृष्ठ लिखे जा सकते हैं। अखीर में मिलनसार समुद्री मछलियों में जो सुन्दर वृत्तियाँ पाई जाती है, उनका भी यदि मैं उल्लेख कर दूँ तो अनुचित न होगा। किन्तु मुझे अभी बन्दरो के समूहों के सम्बन्ध में कुछ शब्द और लिखने हैं। यह जंजीर की वह आखिरी कड़ी है जो हमें पशुओ से एकदम प्राकृत मनुष्यों तक पहुँचा देती है, इसलिए विशेष महत्त्व रखती है।

हाथियों में सहयोग

यहाँ शायद यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि बन्दर बड़े मिलनसार होते हैं। पशु-संसार में उनका सर्व-प्रथम स्थान है। शरीर की बनावट और बुद्धि में वे मनुष्य के सब से अधिक नजदीक हैं। पशुओं के इस

बन्दरों में सामाजिकता

बड़े भाग में सैकड़ो ही किस्में होती हैं, इसलिए यदि हमें उसमें भिन्न-भिन्न स्वभाव देखने को मिलें तो कोई आश्चर्य न होना चाहिए। किन्तु सब बातों को सोच-समझ लेने के बाद हमें यह तो कहना ही पड़ेगा कि मिल-जुलकर रहना, साथ काम करना और एक-दूसरे की रक्षा करना अधिकांश बन्दरों और लंगूरों का स्वभाव है। सामाजिक जीवन के फलस्वरूप जो वृत्तियाँ पैदा होती हैं, उनका भी बन्दरों में खूब विकास हुआ है। छोटी से छोटी किस्म से लगाकर बड़ी से बड़ी किस्म तक में, कुछ अपवादों को छोड़कर, मेल-जोल की वृत्ति एक आम नियम है। निशाचरी लंगूर एकान्त में रहना पसन्द करते है; कलंगीदार बन्दर, लम्बे मुँहवाले बन्दर और किलकारी मारने वाले बन्दर छोटे-छोटे कुटुम्बों में ही रहते है। सुमात्रा और बोर्नियो के मनुष्य के से मुहँवाले बन्दर प्राय: अलग-अलग या तीन-चार की छोटी-छोटी टोलियों में रहते हुए पाये जाते हैं और अफ्रीका का बड़ा बन्दर गोरीला टोलियों में कभी नही दिखाई देता। इनके अलावा बाक़ी बन्दरों की सब किस्में बड़ी मिलनसार होती है। उन बड़ी-बड़ी किस्मों के बन्दर टोलियों में रहते है। अपनी किस्म के बन्दरों के अलावा वे दूसरी किस्म वालों के साथ भी मिल जाते हैं। उनमें अधिकांश एकान्त में अपने को बड़ा दुःखी समझते हैं। टोली के किसी बन्दर की दर्दभरी आवाज सुनकर टोली के सब बन्दर एक स्थान पर इकट्ठे हो जाते है,वे हिंसक जानवरों और पक्षियों के आक्रमण का बड़ी बहादुरी से मुकाबला करते हैं। उकाब तक उनपर आक्रमण करने का साहस नहीं करते। जिस समय वे टोलियाँ बनाकर खेतों

को बर्बाद करते हैं, उस समय वृद्ध बन्दरों पर टोली की रक्षा का भार होता है। बन्दरों के छोटे-छोटे बच्चे जब मेह बरसता है तो छाती से छाती लिपटाकर एक दूसरे की रक्षा करते हैं। ठण्ड से ठिठुरनेवाले अपने साथियों की गर्दनों में अपनी पूँछे डाल देते हैं। कई किस्मों के बन्दर अपने घायल साथी की बड़ी फिक्र रखते हैं तबतक उसे छोड़ कर नहीं जाते जब तक उन्हे यह न मालूम हो जाय कि वह मर गया है और वे उसको वापस नहीं जिला सकते। जेम्स फोरबेस ने अपनी पुस्तक (Oriental Memoirs) में इस प्रकार का एक उदाहरण दिया है। उसने लिखा है कि मेरे एक साथी ने एक बन्दरिया को गोली से मार दिया था। उस मरी हुई बन्दरिया को वापस लेने की बन्दरो ने इतनी कोशिश की कि उसे देखकर हमारा दिल पिघल आया। हम लोगों ने निश्चय कर लिया कि आगे से हम किसी बन्दर पर गोली न चलावेंगे। कुछ किस्मों के बन्दर ऐसे होते हैं कि चींटियो के अण्डो की तलाश मे कई एक साथ मिलकर भारी पत्थर को भी उलट देते है। हेमाद्री बन्दर अपनी रक्षा के लिए सन्तरी ही मुकर्रर नहीं करते, बल्कि ऐसा देखा गया है कि वे लूटी हुई सामग्री को अपनी एक सांकल बनाकर हाथों-हाथ सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देते है। अबीसीनिया की एक घाटी में प्राणि-विशेषज्ञ ब्रेहम के काफले की इन बन्दरों से लड़ाई हुई थी, उसका ब्रेहम ने बड़ा रोचक वर्णन लिखा है। दुमदार लंगूरों की खुशमिजाजी और वनमानुषों की टोलियो का पारस्परिक प्रेम तो सबको विदित ही है। सब से उच्च कोटि के लंगूरों की दो ही क़िस्में ऐसी

हैं जो मिलनसार नहीं होतीं—एक नारंगी और दूसरी गोरीला। पुराने जमाने में इस तरह की अनेक किस्में थी, उन्हीं में से ये दो क़िस्में बच रही है। ये भी बहुत बड़ी नही है; एक मर्यादित क्षेत्र मे रहती हैं। नारंगी वन्दर केवल सुमात्रा और बोर्नियो में और गोरीला अफ्रिका के मध्य में ही मिलते हैं। 'पेरीप्लस' पुस्तक में जिन लंगूरो का ज़िक्र किया गया है, यदि वे गोरीला ही थे तो यह कहा जा सकता है कि पुराने जमाने में कम-से-कम वन्दरो की यह क़िस्म तो मिलनसार होती थी।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से ही हम देखेगे कि पशु-संसार मे सामाजिक जीवन अपवाद के रूप में नहीं पाया जाता। वह आम नियम है, कुदरत का क़ानून है। उच्चतर कोटि के रीढ़दार प्राणियों में उसका सब से अधिक विकास हुआ है। ऐसी क़िस्मे, जिन में प्राणी अलग-अलग या छोटे-छोटे कुटुम्बो में रहते हैं, अपेक्षाकृत कम है। उनकी संख्या सीमित है। इतना ही नहीं, यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि कुछ अपवादों को छोड़ कर जो पक्षी और चौपाये आज मिल-जुलकर नही रहते, वे भी पहले अपने-अपने गिरोह वना कर रहते थे। जब पृथ्वी पर मनुष्यो की संख्या बढ़ी तो उन्होने इन पशु-पक्षियों के साथ एक स्थायी युद्ध छेड़ दिया, उनके वे साधन नष्ट कर डाले, जिन से उन्हे खाद्य-सामग्री मिला करती थी। इसका नतीजा यह हुआ कि वे अलग-अलग रहने लगे।

पशु-संसार में विकास की हर मंजिल पर एक प्राणी का दूसरे प्राणी के साथ सम्पर्क पाया जाता है। हर्वर्ट स्पेन्सर के विचारानु-

सार प्राणियों का जब से विकास शुरू हुआ उस समय से उन में सामूहिक रूप से रहने की प्रथा चली आ रही है । किन्तु ज्यों-ज्यों हम क्रमवार विकास की सीढ़ियाँ चढ़ते जाते है, प्राणियों में यह असहयोग अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है। उसका विशुद्ध पार्थिव-रूप नष्ट हो जाता है; वह केवल अज्ञात प्रेरणा के बल पर ही नहीं होता, उसका सोच-समझ कर व्यवहार होने लगता है। उच्चकोटि के रीढ़दार प्राणी समय-समय पर अथवा अपनी कोई खास आवश्यकता पूरी करने के लिए एक-दूसरे के साथ सहयोग करते है। नस्ल की वृद्धि करने, प्रवास करने, शिकार खेलने या पारस्परिक संरक्षण करने के समय उन में यह सम्पर्क होता है । जब पक्षी किसी लुटेरे प्राणी के मुकाबले मे इकट्ठे होते है या चौपाये असाधारण परिस्थितियों से विवश होकर प्रवास के लिए एक साथ मिलते हैं तो वह सहयोग समय-कुसमय भी हो जाया करता है। उस समय जो सहयोग होता है, वह उनके साधारण जीवन-क्रम से भिन्न होता है। प्राणियों में कभी-कभी सहयोग के दो या दो से अधिक रूप दिखाई देते है । पहले कुटुम्ब बनता है, फिर गिरोह बनता है और बाद में गिरोहों का एक बड़ा समुदाय बन जाता है । ये गिरोह आम तौर पर अलग-अलग फैले रहते हैं किन्तु आवश्यकता के समय मिल जाते हैं जैसा कि हम अमेरिका के जंगली भैंसों और दूसरे जुगाली करने वाले पशुओं के बारे में देख चुके हैं। जब सहयोग इससे भी ऊँचे दर्जे का होता है तो वह व्यक्ति को सामाजिक जीवन का सुख देने के साथ-साथ

सहयोग का आम नियम

अधिक स्वतंत्रता भी। प्रदान करता है । कुतरनेवाले जानवरों में प्रायः हरेक का अलग-अलग घर होता है । वह जब अकेला रहना चाहता है तो अपने घर में चला जाता है । किन्तु इनके ये घर इकट्ठ एक ही स्थान पर बने होते हैं, जिससे सामाजिक जीवन के लाभ और सुख भी उन्हे मिलते रहते है । अन्त में पहाड़ी चूहों, मामूली चूहो, खरगोशों आदि की अनेक ऐसी क़िस्में हैं जिनमें, कुछ एकान्तपसंद, अहंकारी और झगड़ालू जीवों के होते हुए भी, सामाजिक जीवन बराबर बना रहता है। चींटियों और शहद की मक्खियों का जैसा शारीरिक ढाँचा है, उसको देखते हुए कहा जा सकता है कि उनका विना सहयोग के काम नहीं चल सकता । किन्तु कुतरने वाले जानवरों पर यह सहयोग चींटियों और शहद की मक्खियो की तरह प्रकृति-द्वारा नहीं लादा जाता। वे पारस्परिक लाभ और सुख की खातिर सहयोग करते हैं । वह प्रकट भी प्राणियो के भिन्न-भिन्न भागों में और भिन्न-भिन्न रूपो में होता है। इसके परिणाम-स्वरूप अलग-अलग और ख़ास-ख़ास स्वभाव बनते है। यह भिन्नता ही इस सहयोग की व्यापकता की सूचक है और हमारे पक्ष का एक और प्रमाण है।

सामाजिक भावना प्राकृतिक है

प्राणि-विशेषज्ञों का ध्यान अब इस बात की ओर आकर्षित होना शुरू हुआ है कि प्राणियों मे सामाजिकता प्रकृति ने जन्म से ही पैदा की है यानी एक प्राणी को अपने ही जैसे अन्य प्राणियों के साथ मिलने की स्वभावतः जरूरत होती है। वे यह भी समझने लगे हैं कि प्राणी अपने समाज के साथ केवल इसलिए प्रेम करते

हैं कि उसमें उनको जीवन का सच्चा सुख मिलता है। इस समय तक हम यह जान चुके हैं कि चींटियों से लगाकर बड़े से बड़े चौपायों तक प्रायः सभी प्राणी खेल-कूद, दौड़-धूप, पकड़-धकड़ हँसी-मजाक, कुश्ती आदि के शौक़ीन होते हैं। कुछ खेल तो ऐसे होते हैं जो छोटे बच्चों का जीवन निर्माण करने के लिए एक पाठशाला का काम देते हैं। प्राणियों को प्रकृति ने बहुत अधिक मात्रा में यह शक्ति प्रदान की है। कुछ खेलों में, जिनमें नाचना और गाना भी शामिल है, इस शक्ति की अधिकता ही प्रकट होती है। इन खेलों का भी कुछ न कुछ उपयोग होता ही है। किन्तु असल में जीवन का आनन्द प्राप्त करना ही उनका मुख्य उद्देश्य होता है। उन खेलों के द्वारा एक प्राणी अपने या दूसरी जाति के प्राणियों पर किसी न किसी रूप में अपने मनोभाव प्रकट करता है। संक्षेप में, ये खेल विशुद्ध सामाजिकता के द्योतक होते हैं और यह सामाजिकता समस्त प्राणी-संसार की एक स्पष्ट विशेषता है। चाहे भय के कारण, चाहे तन्दुरुस्ती अथवा बचपन में खुशी के मारे और चाहे जीवन-शक्ति का परिचय देने की इच्छा से—किसी भी कारण से क्यों न हो, हर प्राणी को अपने विचार प्रकट करने, खेलने, बातचीत करने या अपने-जैसे प्राणियों के साथ निकटता अनुभव करने की जरूरत होती ही है। यह बात प्रकृति में कूट-कूट कर भरी हुई है। जिस तरह प्रकृति का यह स्वभाव है कि प्राणियों में अपने विचार प्रकट करने, खेलने, प्रेम करने की भावनायें पैदा हों, उसी प्रकार प्रकृति का यह भी स्वभाव है कि प्राणी उन भावनाओं को प्रकट

करें। दूध देने वाले जानवरों, खास कर उनके बच्चों में, इन भावनाओं का और भी अधिक विकास होता है। उनमें वे बड़े सुन्दर रूप में प्रकट होती हैं। इस विषय में पक्षी दूध देने वाले जानवरों से भी आगे हैं। किन्तु ये बातें प्रकृति में सर्वत्र ही दिखाई देती हैं और अच्छे-अच्छे प्रकृति-वेत्ताओं ने चींटियो तक में उनको स्पष्टतया पाया। प्रकृति के इस स्वभाव के कारण ही तितलियाँ बड़े-बड़े झुण्ड में इकट्ठी होती है।

पक्षी एक स्थान पर नाचने के लिए इकट्ठे होते हैं और उस स्थान को सजाते है, यह बात तो सब जानते है। स्वयं डार्विन ने अपनी पुस्तक (The Descent of Man) में इस विषय पर लिखा है। जो लोग लन्दन के चिड़िया-घर को देखने गये हैं, उन्होने वहाँ आस्ट्रेलियन चिड़िया का सजा-सजाया घर अवश्य देखा होगा। हमको पहले यह पता न था कि पक्षियो में नाच-गान की प्रवृत्ति इतनी अधिक मात्रा में होती है। प्राणि-विशेषज्ञ हडसन ने 'ला प्लेटा' नामक उत्तम ग्रन्थ में अनेक पक्षियो के भिन्न-भिन्न प्रकार के नाचो का बहुत दिलचस्प वर्णन लिखा है।

पक्षियों में नाच गान

पक्षियो की कई क़िस्मो में साथ मिलकर गाना उसी सामाजिक भावना का एक भाग है। चाकर नाम की विलायती चिड़िया में इस वृत्ति का खूब विकास हुआ है। कभी कभी ये चिड़ियाँ बड़े-बड़े झुण्डों में इकट्ठी होती हैं और अक्सर साथ मिलकर गाती हैं। प्राणि-विशेषज्ञ हडसन ने एक झील के किनारे इनके अलग-अलग कई झुण्ड देखे। हरेक झुण्ड में पाँच सौ के क़रीब

चिड़ियाँ होगी । वह लिखता है:—

"पहले मेरे पासवाले झुण्ड ने गाना शुरू किया, तीन-चार मिनट तक उसकी जोरदार ध्वनि आती रही, जब वह बन्द होने लगी तो दूसरे झुण्ड ने उस ध्वनि के साथ अपनी ध्वनि मिला दी । इस प्रकार हरेक झुण्ड एक के बाद एक गाने में शामिल होता रहा, अन्त मे फिर एक बार सामने वाले किनारे से पानी को चीरती हुई जोर की ध्वनि आई, जो धीरे-धीरे कम होकर लुप्त हो गई । थोड़ी देर बाद वही आवाज पुनः मेरे चारों ओर चक्कर लगाने लगी ।"

एक दूसरे मौके पर इसी लेखक ने चाकर चिड़िया के अनेक झुण्ड सारे मैदान मे बिखरे हुए पाये । रात को ९ बजे ये असंख्य पक्षी जो मीलों लम्बे-चौड़े मैदान मे फैले हुए थे एकाएक जोर की आवाज मे शाम का गाना गाने लगे । यह गाना इतना आकर्षक था कि यदि उसको सुनने के लिए किसी को सौ मील का भी सफर करना पड़े तो उसके लिए वह कोई बड़ी बात नहीं होगी । अन्य मिलनसार पक्षियों की भाँति यह चिड़िया बहुत जल्दी हिल जाती है और आदमी से प्रेम करने लगती है । प्रकृति ने यद्यपि उन्हें नोच-खसोट के संगीन हथियार दिये हैं, फिर भी वे बड़ी नरममिजाज होती हैं और बहुत कम लड़ती हैं । सामाजिक जीवन बिताने के कारण उनको इन हथियारों की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ती ।

हम पिछले पृष्ठों में यह बता चुके हैं कि यदि जीवन-संघर्ष को व्यापक अर्थ में लिया जाय तो उसके लिए सामाजिक-जीवन

एक जबरदस्त हथियार है। अगर आवश्यकता हो तो और प्रमाण देकर भी इस कथन को सिद्ध किया जासकता है। कमजोर से कमजोर कीड़े, पक्षी और दूध देने वाले जानवर सामाजिक जीवन के द्वारा भयानक से भयानक पक्षियों या शिकारी जानवरों के हाथों अपनी रक्षा कर सकते हैं, उनका मुक़ाबला कर सकते हैं। सामाजिक जीवन से प्राणी दीर्घ आयुष्य प्राप्त करते हैं, वे कम से कम शक्ति खर्च करके अपनी नस्ल का पालन-पोषण कर सकते हैं और उत्पत्ति कम होते हुए भी अपनी तादाद कम नहीं होने देते। जो प्राणी मिल-जुलकर रहते हैं, वे आसानी से अपने रहने के लिए नये स्थान ढूँढ़ लेते हैं। जैसा कि डार्विन और वालेस ने बताया है शक्ति, फुर्ती, रक्षणात्मक रंग, चालाकी, भूख और सर्दी सहन करने की शक्ति आदि ऐसे अनेक गुण हैं जो कई परिस्थितियों में व्यक्ति या जातियों को समर्थ बना देते हैं। हम भी उस कथन को पूरी तरह से स्वीकार करते हैं, किन्तु हमारा यह कहना है कि जीवन-संघर्ष में चाहे कैसी ही परिस्थिति क्यों न हो, सामाजिकता सबसे बड़ा उपयोगी अस्त्र है। जो जातियाँ जान-बूझकर या अनजान में सामाजिकता को नहीं अपनातीं उनका अवश्य ह्रास होगा। परन्तु जो प्राणी आपस में मिलकर रहना जानते हैं, उनके बचे रहने और भावी विकास की बहुत अधिक सम्भावना है। फिर चाहे बौद्धिक शक्ति को छोड़कर डार्विन और वालेस द्वारा उल्लिखित हरेक गुण में वे अन्य प्राणियों से कम ही हों।

जीवन-संघर्ष में सामाजिकता का उपयोग

सब से बड़े रीढ़ वाले प्राणी और खासकर मनुष्य इस कथन की सत्यता को अत्युत्तम प्रमाण हैं। डार्विन यह मानता था कि जीवन-संघर्ष में बौद्धिक शक्ति एक जबर्दस्त हथियार है। डार्विन के अनुयायी भी यह बात तो मानेंगे ही, किन्तु उनको यह भी मानना पड़ेगा कि बुद्धि बहुतांश में सामाजिक गुण है। भाषा, ग्रहण करने की शक्ति, संग्रहीत अनुभव ये सब बढ़ती हुई बुद्धि के फल हैं जिन से मेल-जोल से न रहने वाले प्राणी अब भी वंचित हैं। चींटियों, तोतों और बन्दरों में हमें सब से अधिक बुद्धि देखने को मिलती है, उसका कारण यही है कि वे सब से अधिक सामाजिक जीवन बिताते हैं। इससे यह सिद्ध है कि जो प्राणी जितने अंश में सामाजिक होता है, वह उतना ही योग्य—समर्थ—होता है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार से सामाजिकता विकास का मुख्य कारण है। प्रत्यक्ष तो इस तरह से कि कम से कम शक्ति खर्च होते हुए भी सामाजिकता से जातियों को रक्षा और भलाई हो जाती है और और अप्रत्यक्ष रूप से तो वह बुद्धि के विकास में सहायता पहुँचाती ही है।

सामाजिक भावना का महत्व

इसके अलावा यह भी सिद्ध है कि सामाजिक जीवन के साथ सामाजिक भावनाओं का भी उतना ही विकास होना चाहिए; बिना उन भावनाओं के सामाजिक जीवन नितान्त असम्भव है। खास कर जब तक सब के प्रति न्याय-बुद्धि रखना प्राणियों का स्वभाव नहीं बन जाता तब तक तो सामाजिक जीवन हो ही नहीं सकता। यदि हरेक प्राणी हमेशा अपने स्वार्थ के लिए दूसरे

के प्रति अन्याय करता रहे और समाज उसका प्रतीकार न करे, पीड़ित की सहायता न करे तो सामाजिक जीवन कैसे सम्भव हो सकता है ? और यह तो निश्चित है कि न्याय्य भावनाओ का कम या ज़्यादा मेल-जोल से रहने वाले सभी प्राणियों में विकास पाया जाता है। अबाबीलें और सारस चाहे कितनी दूर का प्रवास क्यों न कर आवें, वे जब वापस लौटते है तो अपने-अपने पुराने घोंसलों में ही बसते हैं। अगर कोई सुस्त अबाबील अपने किसी साथी के के घोंसले पर क़ब्ज़ा करने की चेष्टा करती है या उसमें से कुछ तिनकों के टुकड़े भी चुरा लेती है तो अबाबीलों का दल उसकी ख़बर ले डालता है। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि इस प्रकार हस्त-क्षेप करने का आम नियम हुए बिना पक्षी अपने घोसले पास-पास बना ही नहीं सकते। पेन गुवाइना नाम की समुद्री चिड़ियों के अलग-अलग दल के लिए अलग-अलग घर और शिकार करने के स्थान होते हैं। वे इनके लिए आपस में कभी नहीं लड़तीं। आस्ट्रेलिया के चौपाये पशुओं के झुण्डों के आराम करने के लिए विशिष्ट स्थान निश्चित होते है। उनका हरेक दल अपने-अपने निश्चित स्थान पर सदा आराम करता है, इधर-उधर भटकता नहीं। पक्षियों के एक स्थान पर बने हुए घोसलों में, कुतरने वाले जानवरों की बस्तियों में और घास खाने वाले पशुओ के झुण्डों में कितनी शान्ति रहती है, इस बात के हमारे पास अनेक प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। घरेलू चूहों और दरियाई घोड़ों के अलावा हमें किसी अन्य सामाजिक जानवर का पता नहीं है जो आपस में लड़ते रहते हों। इस प्रकार सामाजिकता प्राणियों में शारीरिक संघर्ष को

मर्यादित और उच्चतर नैतिक भावनाओं के विकास की सुविधा करती है। पशुओं की सभी जातियों में, यहाँ तक कि शेर और चीतों तक मे, पैतृक प्रेम जितनी अधिक मात्रा में पाया जाता है, उसको सब जानते हैं। पक्षियो और दूध देने वाले जानवरों के बच्चों को बहुधा हम साथ-साथ मिलते देखते हैं; उनके इन समूहो में प्रेम का नहीं, सहानुभूति का और भी अधिक विकास होता है, पालतू पशु-पक्षियों के बारे में पारस्परिक प्रेम की जो हृदयद्रावक घटनाये संग्रह की गई हैं, उनको एक ओर रख दया जाय तो भी हमारे पास स्वच्छन्द विचरण करने वाले जंगली जानवरों की सहानुभूति के प्रामाणिक उदाहरणों की कमी नहीं है। मेक्सपर्टी और एल० बुकनर ने अपने ग्रन्थो में ऐसे अनेक उदाहरण दिये हैं। ×जे० सी० उड का एक न्योले का वर्णन जिसने अपने घायल साथी को उठा ले जाने की खूब चेष्टा की थी, काफी प्रसिद्ध है। कैप्टेन स्टेंसबरी ने एक ऐसी ही घटना देखी थी। डार्विन ने उस घटना का वर्णन अपनी पुस्तक में उद्धृत किया हैं। स्टेंसबरी ने देखा कि एक अन्धे हवासील (मच्छीखोर) को उसके साथी तीस-तीस मील दूर से मछलियाँ लाकर खिला रहे थे। एच० ए० वेडल ने बोलविया से पेरू का सफर करते हुए कई बार शिकारियों को दक्षिण अमेरिकन ऊँटो का पीछा करते देखा। उसने

× चूहे दूसरे अन्धे चूहे को खिलाते देखे गये हैं। ब्रेहम ने स्वय एक वृक्ष के खोखले तने में दो कौवो को देखा जो एक तीसरे घायल कौवे को खिला रहे थे। इस कौवे का घाव कई सप्ताह का था। श्री ब्लाइथ ने कुछ हिन्दुस्तानी कौवों को देखा जो अपने दो-तीन अन्धे साथियों को खिला रहे थे।

लिखा है कि जब ऊँटों का गिरोह किसी सुरक्षित स्थान में शरण पाने के उद्देश्य से भाग रहा हो तो मजबूत ऊँट अपने गिरोह की रक्षा करने के लिए पीछे रह जाते हैं और जितनी दूरी तक वह गिरोह फैला हो, उतनी दूर की जमीन में फैल जाते हैं। घायल साथियों के प्रति सहानुभूति और दया दिखाने के उदाहरणों का तो सभी प्राणी-विशेषज्ञ उल्लेख करते रहते हैं। इस प्रकार के उदाहरण बिल्कुल स्वभाविक होते है। दया सामाजिक जीवन का अनिवार्य फल है। किन्तु जिन प्राणियों में दया हो, उनके लिए हमें यह भी मानना पड़ेगा कि उनके साधारण ज्ञान और समझदारी में काफी प्रगति हुई है। उच्चतर नैतिक भावनाओं के विकास की यह पहली सीढ़ी है और आगे के विकास के लिए भी वह जबर्दस्त साधन है।

पिछले पृष्ठों में जिन विचारों का प्रतिपादन किया गया है, यदि वे सही हैं तो अनिवार्यतः अब यह प्रश्न उठता है कि डार्विन, वालेस और उनके अनुयायियों ने जीवन-संघर्ष के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसके ये विचार कहाँ तक अनुकूल है? अब मैं इसी महत्त्व-पूर्ण प्रश्न का संक्षेप में उत्तर दूँगा। सबसे पहले कोई भी प्रकृति-वेत्ता इस बात को मानने से इन्कार न करेगा कि सेन्द्रिय प्राणियों में चलने वाले जीवन-संघर्ष के विचार को इस शताब्दी में सबसे अधिक व्यापक रूप दिया गया है। यह कहा गया है कि संघर्ष ही जीवन है और उस संघर्ष में जो सबसे अधिक योग्य होते हैं, वे ही विजयी होते हैं। किन्तु कौन से हथियारों के

जीवन संघर्ष की सीमा

द्वारा मुख्यतया यह संघर्ष चलता है ? उस संघर्ष में किसको योग्यतम कहा जाय ? इन प्रश्नों के उत्तर जरूर अलग-अलग प्रकार से दिये जा सकते है। जीवन-संघर्ष के दो पहलुओं में से आप किसी एक को महत्व दीजिए। उसी के पक्ष में इन प्रश्नों का उत्तर मिलेगा। जीवन-संघर्ष का एक प्रत्यक्ष रूप तो यह है कि खाने और संरक्षण के लिए एक प्राणी दूसरे प्राणी के साथ लड़ता है। विपरीत परिस्थितियों के साथ लड़ना उसका दूसरा रूप है। संघर्ष बहुधा सामूहिक रूप में होता है। कोई भी आदमी इस बात से इन्कार नहीं करेगा कि प्राणियों की हरेक क़िस्म में खाद्य-सामग्री के लिए थोड़ी-बहुत वास्तविक प्रतिस्पर्द्धा चलती है। कम से कम ख़ास-ख़ास समय पर तो चलती ही है। किन्तु सवाल यह है कि जिस हद तक डार्विन और वालेस मानते हैं क्या उसी हद तक प्राणियो में यह प्रतिस्पर्द्धा चलती है ? और यह भी कि क्या प्राणियों के विकास में उसका उतना ही हिस्सा रहा है जितना कि कहा जाता है।

डार्विन की रचनाओ में एक ही विचार, सर्वत्र पाया जाता है। वह यह कि हर प्राणी-समूह में खाद्य सामग्री, रक्षा और औलाद छोड़ जाने के लिए आपस में सच्ची प्रतिस्पर्द्धा चलती है। उसने बहुधा ऐसे स्थानों का ही उल्लेख किया है जहाँ उसे प्राणी खचाखच भरे मिले और इस भरमार से उसने यह नतीजा निकाला कि प्राणियों मे प्रतिस्पर्द्धा अनिवार्य है। किन्तु जब डार्विन की रचना में इस प्रतिस्पर्द्धा के सच्चे प्रमाण ढूँढ़ते हैं तो हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसने जो उदाहरण दिये हैं,

उनसे हमें पूरा सन्तोष नहीं होता। यदि हम डार्विन के 'एक ही जाति की भिन्न-भिन्न क़िस्मों और प्राणियों में कड़ा जीवन-संघर्ष' शीर्षक अध्याय को पढ़ें तो हमें उसमें प्रमाणों और उदाहरणों की वह भरमार कहीं नहीं मिलती जो डार्विन की रचनाओं की विशेषता है। एक ही क़िस्म के प्राणियों के आपसी संघर्ष की एक भी मिसाल उस अध्याय में नही दी गई; उसे स्वयं-सिद्ध मान लिया गया। उसमें मिलती-जुलती जातियो के प्राणियों की प्रतिस्पर्द्धा के केवल पाँच उदाहरण मिलते हैं, जिनमें कम से कम एक सन्देहास्पद साबित हो चुका है। और एक क़िस्म के प्राणियों का ह्रास दूसरे क़िस्म के प्राणियो की वृद्धि का कारण कहाँ तक हुआ, यह मालूम करने के लिए और अधिक व्यौरा जानने की जब हम चेष्टा करते हैं तो देखते हैं कि डार्विन अपनी स्वाभाविक निष्पक्षता के साथ यों लिखता है—

"मिलती-जुलती जातियों में जिनका प्रकृति की सृष्टि में एक-ही स्थान है प्रतिस्पर्द्धा इतने तीव्र रूप में क्यों होती है, इसका कारण हम अस्पष्टतया ही देख सकते हैं, किन्तु किसी भी अवस्था में हम यह ठीक-ठीक नहीं कह सकते कि इस महान जीवन-संग्राम में एक जाति दूसरी जाति पर किस प्रकार विजयी होती है।"

वालेस ने इसी बात को थोड़े बदले हुए शीर्षक के नीचे दिया है, किन्तु उसका रूप बिल्कुल भिन्न हो जाता है। वह कहता है—

"कुछ उदाहरण ऐसे अवश्य हैं जहाँ हमें प्राणियों की दो क़िस्मों में आपस में वास्तविक संघर्ष दिखाई देता है और यह

भी होता है कि मजबूत किस्म कमजोर क़िस्म को मार डालती है। किन्तु यः सदा लजिमा नही है; हमें ऐसे उदाहरण भी मिल सकते हैं जहाँ शारीरिक दृष्टि से कमजोर होते हुए भी कोई क़िस्म अपना अस्तित्व कायम रख लेती है। यह तभी होता है जब उस किस्म मे अपनी तादाद खूब तेजी के साथ बढ़ाने की शक्ति हो, आब-हवा में होनेवाली क्रान्तियो का वह भली प्रकार मुक़ाबला कर सके और अपने समान शत्रुओं के आक्रमणों को विफल करने में अधिक कौशल का परिचय दे।"

ऐसी अवस्था में जिसे हम प्रतिस्पर्द्धा कहते हैं, हो सकता है वह असल में बिल्कुल प्रतिस्पर्द्धा हो ही नहीं। एक जाति इसलिए नहीं मिट जाती कि किसी दूसरी जाति ने उसको जड़ से नष्ट कर या भूखों मार डाला है। उसका कारण तो यह होता है कि यह दूसरी क़िस्म की भाँति अपने को भली प्रकार परिस्थतियों के अनुकूल नही बना पाती। 'जीवन-संघर्ष' शब्द का डार्विन ने यहाँ फिर अलङ्कारिक रूप में प्रयोग किया है; यहाँ उसका अन्य कोई रूप नहीं हो सकता। एक दूसरे स्थान पर डार्विन ने दुष्काल के समय दक्षिण अमेरिका के चौपायो के व्यवहार का उदाहरण देकर बताया है कि एक ही किस्म के प्राणियो में आपस में वस्तुतः प्रतिस्पर्द्धा चलती है। किन्तु इस उदाहरण का महत्त्व इसलिए कम हो जाता है कि वह पालतू जानवरो के व्यवहार पर से लिखा गया है। दुष्काल जैसी कोई परिस्थिति आ पड़ती है तो हम यह देखते हैं कि अमेरिका की जंगली भैंसें प्रतिस्पर्द्धा पैदा न होने देने

दूसरा कारण भी सभव है

के उद्देश्य से एक स्थान से दूसरे स्थान को चली जाती हैं। अब यह काफ़ी तौर पर साबित हो चुका है कि वनस्पतियो मे आपस में संघर्ष चलता है। यह संघर्ष चाहे कितना ही कड़ा क्यों न हो; हम तो वालेस के इस आशय के शब्दों को दुहराये देते हैं कि "वनस्पति (पौधे) वहीं जीवित रहती है, जहाँ वह जीवित रह सकती है"। किन्तु जानवरों में एक हद तक अपने रहने के स्थानों का चुनाव करने की शक्ति होती है। इसलिए हम अपने आप से वही प्रश्न फ़िर पूछते हैं—'प्राणियो की हर क़िस्म में वास्तव में किस हद तक प्रतिस्पर्द्धा चलती है ? किन प्रमाणो के आधार पर प्राणियो में प्रतिस्पर्द्धा का अस्तित्व मान लिया गया है ?'

दो भिन्न-भिन्न क़िस्मों के प्राणी मिलकर जो संतान पैदा करते हैं, उनकी पैतृक नस्ल से थोड़ी भिन्न अस्थायी क़िस्में बनती रहती हैं। आगे चल कर इन अस्थायी क़िस्मों की बिलकुल स्वतन्त्र क़िस्में बन जाती हैं; उनका अस्थायी स्वरूप नष्ट हो जाता है। डार्विन ने इस बात का कई बार उल्लेख किया है। इन अस्थायी क़िस्मो के विनाश को लेकर यह अप्रत्यक्ष तर्क किया जाता है कि प्राणियो की हरेक क़िस्म में तीव्र प्रतिस्पर्द्धा और जीवन-संघर्ष चलता है। किन्तु इस बारे मे हमारा वही कथन है, जो हम स्थायी क़िस्मों की प्रतिस्पर्द्धा के विषय में कह चुके है। यह सब जानते है कि एक कठिनाई थी जिसके कारण डार्विन को एक वड़े अर्से तक परेशान रहना पड़ा। वह कठिनाई यह थी कि जो क़िस्में एक-दूसरे से बिल्कुल मिलती-जुलती पाई जाती हैं, उनके बीच की क़िस्मों की कई पीढ़ियो का उसे पता न

लगता था। अन्त में डार्विन ने यह मानकर सन्तोष कर लिया कि ये बीच की क़िस्में नष्ट कर दी जाती हैं। किन्तु इस विषय पर डार्विन और वालेस ने जो भिन्न-भिन्न अध्याय लिखे हैं, उनको हम ध्यानपूर्वक पढ़ें तो हम शीघ्र ही इस नतीजे पर पहुँच जाते हैं कि 'एक्सटर्मिनेशन' (नष्ट कर देना) शब्द का वह अर्थ उस समय उन लोगों के ध्यान में न था जो आम तौर पर किया जाता है। जिस अर्थ में डार्विन ने 'जीवन-संघर्ष' शब्द का उपयोग किया है, उसी अर्थ में 'नष्ट कर देना' शब्द का भी किया है। किसी भी अवस्था में हम उसका शाब्दिक अर्थ नहीं कर सकते; हमें उसको अलङ्कारिक रूप में ही समझना चाहिए।

अगर हम यह मानकर चलें कि क्षेत्र-विशेष पूरी तरह खचा-खच प्राणियों से भरा हुआ है और उसके फल-स्वरूप उन सब में केवल अपना-अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए तीव्र प्रतिस्पर्द्धा चलती रहती है, हरेक प्राणी को अपने नित्य के भोजन के लिए अपनी क़िस्म के अन्य प्राणियों के साथ विवश होकर लड़ना पड़ता है तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जो नई किन्तु भिन्न क़िस्म पैदा होगी, बहुत करके उसमें ऐसे प्राणी निकलेंगे जो अपने जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यकता से अधिक सामग्री प्राप्त कर सकें। इसका नतीजा यह होगा कि ये प्राणी अपनी पैतृक क़िस्म और बीच की अवस्था की क़िस्मों को भूखों मार डालेंगे। कारण कि पैतृक क़िस्म के प्राणियों में तो कोई नया परिवर्तन होता नहीं और बीच की अस्थायी क़िस्मों में होता भी है तो उतनी मात्रा में नहीं होता। यह हो सकता है कि शुरू

में डार्विन ने नई क़िस्मों के बनने पर इसी पहलू से विचार किया हो; कम-से-कम 'नष्ट कर देना' शब्द का बार-बार का प्रयोग इसी विचार को पुष्ट करता है । किन्तु डार्विन और वालेस प्रकृति को भलीभाँति समझते थे इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त व्यवस्था को ही वे एक-मात्र संभव और आवश्यक व्यवस्था मानते थे । उन्होंने यह अवश्य मालूम किया होगा कि इसके अलावा भी कोई अन्य क्रम हो सकता है ।

स्वभाव-परिवर्तन का कारण

यदि किसी क्षेत्र-विशेष को प्राकृतिक और प्राणियों की स्थिति में कोई अन्तर न पड़े, एक खास क़िस्म के प्राणी अपने रहने के क्षेत्र को घटावें या बढ़ावें नहीं और उनके स्वभाव में भी परिवर्तन न हो तो उस दशा में नई क़िस्म के प्रकट होने का यह अर्थ हो सकता है कि पुरानी क़िस्म के वे सब प्राणी भूखों मार कर नष्ट कर दिये जाते हैं जिनमें नवीन क़िस्म की नई विशेषता काफ़ी मात्रा में नहीं होती । किन्तु ठीक इस प्रकार का संयोग हमें प्रकृति में कभी नहीं दिखाई देता । हर क़िस्म के प्राणियों की प्रवृत्ति अपना रहने का क्षेत्र बढ़ाने की ओर रहती है । सुस्त घोंघे से लगाकर तेज से तेज उड़ने वाली चिड़िया तक, सभी प्राणी, नये स्थानों में नियम से प्रवास करते हैं । किसी भी क्षेत्र को ले लीजिए, उसकी प्राकृतिक अवस्था में भी परिवर्तन होता ही रहता है । इसी प्रकार प्राणियों की नई-नई आदतें बनती है, वे नये-नये स्थानों में जाकर बसते हैं और नये ढंग का खाना खाने लगते है । इन्हीं कारणों से अधिकतर प्राणियों की क़िस्मों में विविधतायें पैदा

होती है। वालेस ने प्राणि-स्वभाव की विभिन्नतायें शीर्षक अध्ययन में यही बात कही है। इसका यह अर्थ कभी भी नहीं है कि इस तरह पैदा होने वाले भिन्न प्राणियों को कोई ऐसे नये हथियार मिल जाते हैं, जिनके द्वारा वे अपने जैसे अन्य प्राणियों के मुँह का कौर छान सकें। जीवित रहने के लिए भोजन की ही एक-मात्र आवश्यकता नहीं होती उसके अलवा भी सैकड़ों विभिन्न आवश्यकतायें हुआ करती हैं। जो प्राणी इस प्रकार खान-पान और रहन-सहन में परिवर्तन करते रहते हैं, उनमें एक-दूसरे को नष्ट करने की प्रवृत्ति तो क्या प्रतिस्पर्द्धा भी नहीं होगी। यदि पहले उनमें प्रतिस्पर्द्धा रही भी हो तो नई स्थिति को अपना लेने से उस प्रतिस्पर्द्धा से उनका पिण्ड छूट जाता है। किन्तु यह सब होते हुए भी कुछ समय के बाद बीच को अस्थायी किस्में इसलिए नष्ट हो जाती है कि उनमें अपने-आपको नई परिस्थितियों के अनुकूल बना लेने का सामर्थ्य नहीं होता। जिनमें ऐसा सामर्थ्य होता है, वे बच रहती हैं। उनका बच रहना उतना ही निश्चित है जितना कि डार्विन के विचारानुसार प्राणियों की पैतृक नस्ल का नष्ट हो जाना। स्पेन्सर, लेमार्क के अनुयायी और खुद डार्विन इस बात को मानते है कि प्राणियों की क़िस्में आस-पास के वायु-मण्डल के अनुसार बदलती रहती है। उनकी इस मान्यता के अनुसार भी बीच की क़िस्मों के नष्ट होने का कम गुंजायश रह जाती है।

—शुरू में विविध प्रकार के प्राणियों की उत्पत्ति होती है। आगे जाकर उनसे बिलकुल नई किस्में बन जाती हैं। इसके लिए प्राणियों का प्रवास और उनके गिरोहों का अलग एकान्त में रहना कितना महत्व रखता है, यह प्राणि-विशेषज्ञ मोर्जिज ने बताया है। स्वयं डार्विन ने उसके महत्व को पूरी तरह स्वीकार किया है। डार्विन के पीछे जो अन्वेषण हुए हैं, उनसे भी प्राणियों के प्रवास और एकान्तिक जीवन का महत्व बढ़ा ही है। इन अन्वेषणो से मालूम हुआ है कि एक खास क़िस्म के प्राणी जब किसी व्यापक क्षेत्र में फैले होते हैं तो उनमें नई क़िस्में पैदा होने लगती हैं। नई क़िस्मों के बनने के लिए डार्विन भी प्राणियों का विस्तृत भू-भाग में फैला होना जरूरी मानता है। इसके साथ ही जब प्राणी एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को जाते हैं तो उसकी वजह से और भौगोलिक प्रतिबन्धो के कारण वे अलग-अलग दलों में बँट जाते हैं, तब भी नई क़िस्में पैदा होती हैं। हमारे लिए इस व्यापक प्रश्न की यहां चर्चा करना असम्भव है, किन्तु उपर्युक्त कारणों के संयुक्त परिणाम को बताने के लिए कुछ शब्द लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह तो विदित ही है कि एक क़िस्म के प्राणियों में से बहुत से प्राणी बहुधा नये प्रकार का खाना खाने लगते हैं। उदाहरण के लिए गिलहरी को ले लीजिए। जब गावदुम पेड़ों के जंगलो में उनके फलों का अभाव हो जाता है तो गिलहरियाँ दूसरे प्रकार के वृक्षों के जंगलो मे चली जाती हैं। इस तरह उनके भोजन में परिवर्तन हो जाने के कारण उनके

नई किस्में कैसे बनती हैं ?

शरीर की बनावट पर जो असर पड़ता है, उसे बताने की किसी को आवश्यकता नहीं है। किन्तु यदि गिलहरियों के भोजन का यह परिवर्तन स्थायी न रहा, दूसरे वर्ष गावदुम पेड़ों के जंगलों में उनके फलों की फिर बहुतायत हो गई और गिलहरियां वहीं वापस लौट गई तो उस कारण से उनकी कोई नई किस्म पैदा न होगी। लेकिन साथ ही जिस व्यापक क्षेत्र में गिलहरियाँ रहती हों, उसके एक हिस्से के प्राकृतिक स्वभाव में परिवर्तन होने लगे, वहां की आबहवा नम या खुश्क हो जाय जिसके फलस्वरूप जंगल में गावदुम पेड़ों की तुलना में अनन्नास के वृक्षों की अधिक वृद्धि हो और कुछ ऐसी स्थिति हो जाय कि गिलहरियों को पृथ्वी के खुश्क भाग के आस-पास रहना पड़े, तो उस समय अवश्य एक नई किस्म पैदा होगी; गिलहरियों की एक नई किस्म की शुरुआत होगी। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि पुरानी गिलहरियों का नाश हुआ। नई क़िस्म की गिलहरियों का एक बड़ा हिस्सा हर साल बचता जायगा, इसलिए कि जलवायु के मुआफिक अपने को बना लेने की उसमें अधिक क्षमता होती है। पुरानी और नई क़िस्मों के बीच की क़िस्में धीरे-धीरे अपने आप नष्ट हो जायँगी। प्राणि-विशेषज्ञ मालथस के मतानुसार प्रतिस्पर्द्धा के कारण भूखों मरने से उन क़िस्मों का नाश नहीं होगा। एक बार मध्य एशिया में बहुत बर्फ गिरी थी। उसके बाद से वहां बराबर खुश्की ही पड़ती रहती है। इस खुश्की के कारण जो प्राकृतिक परिवर्तन होते रहते हैं, उनके बीच में ठीक इसी प्रकार से नई क़िस्में बनती हैं।

दूसरी मिसाल वर्तमान जंगली घोड़े को लीजिए। भू-वेत्ताओं ने यह सिद्ध कर दिया हैं कि तृतीय युग के अन्तिम भाग और चतुर्थ युग में जाकर धीरे-धीरे जंगली घोड़े का वर्तमान रूप बना है, किन्तु शुरू से लगाकर अब तक इन घोड़ो के पूर्वज पृथ्वी के किसी एक निश्चित और मर्यादित क्षेत्र में नही रहे हैं। वे पुरानी और नई दोनों दुनियाओं में घूमे और कुछ अर्से बाद उन्हीं चरागाहो में लौट आये जिनको छोड़कर वे प्रवास के लिए निकले थे। इसलिए यदि एशिया में आज हमे वर्तमान जंगली घोड़े और उसके चतुर्थ युग के एशियाई पूर्वजों के बीच की सब की सब क़िस्में नही दिखाई देतीं, तो उसका यह मतलब नही है कि वे नष्ट हो गईं। वे इस प्रकार कभी नष्ट हुई ही नही। इस बात की भी कोई सम्भावना नहीं प्रतीत होती कि उन क़िस्मो में मृत्यु-संख्या असाधारण रही हो। बीच की क़िस्मों के जो घोड़े मरे, वे अपनी मौत से मरे, बहुधा उस अवस्था में जब उनके पास खूब खाने की सामग्री थी। उनकी हड्डियाँ एक स्थान-विशेष में ही नहीं, पृथ्वी के चारों ओर भिन्न-भिन्न स्थानो में गिरी हैं।

दूसरा उदाहरण

संक्षेप मे, इस प्रश्न पर यदि हम सावधानी से विचार करें और डार्विन ने इस सम्बन्ध में जो-कुछ लिखा है, उसको फिर से पढ़ जायँ तो हमे पता लगेगा कि बीच की अस्थायी क़िस्मो के विषय में अगर हमें 'नाश' शब्द का प्रयोग करना ही पड़े तो हमें उसका अलङ्कारिक रूप में ही प्रयोग करना चाहिए। यही बात 'प्रतिस्पर्द्धा' शब्द के विषय में है।

डार्विन की जबान पर यह शब्द चढ़ गया इसलिए उसने बार-बार इसका प्रयोग किया। उसकी सदा यही मंशा नहीं रही कि उस शब्द का वास्तविक अर्थ किया जाय—यह समझा जाय कि एक ही क़िस्म के दो भागों में जीवित रहने के लिए आपस में सच्ची प्रतिस्पर्द्धा चलती है। कुछ भी हो, बीच की क़िस्मों का न होना प्रतिस्पर्द्धा के पक्ष में कोई प्रमाण (तर्क) नहीं हो सकता।

वास्तव में, तीव्र प्रतिस्पर्द्धा के पक्ष में मुख्य दलील तो यह है कि प्राणियों की संख्या अंकगणित के हिसाब से नहीं बढ़ती।

विनाश का कारण

किन्तु यह दलील जरा भी सिद्ध नहीं होती। उदाहरण के लिए हम दक्षिण-पूर्वी रूस के कुछ गाँवों को ले लें। इन गाँवों के बाशिन्दों के पास खाद्य-सामग्री की बहुतायत रहती है, किन्तु उनके पास रहने के लिए किसी प्रकार के साफ घर नहीं हैं। वहाँ गत ८० वर्षों मे पैदायश का अनुपात हजार पीछे ६० रहा है, किन्तु इस समय भी वहाँ की आबादी उतनी ही है जितनी ८० वर्ष पूर्व थी। हम इससे यह नतीजा निकाल सकते हैं कि इन गावों के बाशिन्दों में भीषण प्रतिस्पर्द्धा रही होगी। किन्तु असल बात तो यह है कि सालों-साल आबादी केवल इसलिए स्थायी रही, कि नवजात बच्चों में से एक तिहाई छः महीने की उम्र होते-होते मर जाते थे। बचे हुओ में से आधे चार वर्ष के भीतर-भीतर खतम हो जाते थे। प्रतिशत केवल १७ बच्चे २० वर्ष तक की उमर पाते थे। इस प्रकार नये पैदा होने वाले व्यक्ति प्रतिस्पर्द्धा के योग्य बनने के पहले ही चल बसते थे। इससे यह स्पष्ट है कि यदि आदमियों की यह हालत है तो जान-

वरों की तो और भी अधिक होनी चाहिए। पक्षी-समाज में एक बड़े तादाद में अण्डे नष्ट होते रहते हैं। शुरू गर्मी में प्राणियों की कई क़िस्में मुख्यतया अण्डों पर ही बसर करती हैं। तूफ़ानों का जिक्र तो छोड़िए, पानी का एक सेलाब ही अमेरिका में पक्षियों के लाखों घोंसले नष्ट कर देता है। मौसम का एकाएक बदल जाना नवजात बच्चों के लिए बड़ा ख़तरनाक सिद्ध होता है। एकाएक तूफान, सेलाब, चूहों का आगमन और आबहवा की एकाएक तब्दीली उन प्रतिस्पर्द्धा-कारियों को नष्ट कर डालती है जो सिद्धान्ततः इतने ख़तरनाक नजर आते हैं।

अमेरिका में घोड़ों और चौपायों और न्यूजीलैण्ड में सफेद खरगोशों की बहुत तेजी के साथ होनेवाली वृद्धि के विषय में

प्रतिस्पर्द्धा कारण नहीं

तथा युरोप से आये हुए जंगली जानवरों तक के सम्बन्ध में हमें जो बातें ज्ञात हैं, वे तो आवश्यकता से अधिक आबादी के सिद्धान्त के उल्टो विपरीत पड़ती मालूम देती हैं। उन स्थानों में इन जानवरों की संख्या बहुत नहीं बढ़ने पाती, किन्तु इसका कारण प्रतिस्पर्द्धा नहीं, मनुष्य है। यदि अमेरिका में घोड़े और पशु इतनी तेजी के साथ बढ़ सकते है तो उससे केवल यही सिद्ध होता है कि उस समय नई दुनिया में भैंसों और अन्य जुगाली करनेवाले जानवरों की संख्या चाहे कितनी ही अधिक रही हो, कुल मिलाकर घास खानेवाले जानवरों की आबादी उस परिमाण में कम ही थी जिस परिमाण में कि वहाँ के मैदानों के द्वारा उनका पालन-पोषण हो सकता था। अगर मैदानों की पहले की बस्ती को बिना भूखों मारे

वहाँ लाखों नवागन्तुक जानवरों को भर-पेट खाना मिल गया तो उससे हम यही नतीजा निकाल सकते हैं कि युरोपियनों ने अमेरिका में घास खानेवाले जानवरों की कमी, न कि अधिकता पाई। हमारे पास यह विश्वास कर लेने के लिए पर्याप्त कारण हैं कि कुछ अस्थायी अपवादों को छोड़कर संसार-भर में सर्वत्र पशु-आबादी की कमी ही स्वाभाविक स्थिति है। किसी खास स्थान में जानवरों की ठीक-ठीक संख्या कितनी है, इसका निर्णय हम इस बात से नहीं कर सकते कि वह स्थान कितने जानवरो को खिला सकने का सामर्थ्य रखता है। इसका निर्णय तो हम यह मालूम करके ही कर सकते हैं कि उस क्षेत्र में हर साल जानवरो के प्रतिकूल कितनी परिस्थितियाँ रहीं। केवल एक इसी कारण से यह साबित हो जाता है कि प्रतिस्पर्द्धा साधारणतः पशुओ के जीवन का अंग नहीं है, उसके अलावा भी ऐसे दूसरे कारण होते हैं जो जानवरों की आबादी को और भी कम कर देते हैं। ट्रान्सबैकालिया की तराइयो में घोड़े और दूसरे चौपाये तमाम सर्दी भर चरते है। यदि हम उनको देखे तो हमें पता लगेगा कि सर्दी के अखीर में वे बड़े दुपले-पतले और कमजोर हो जाते हैं। किन्तु इसका कारण यह नहीं है कि उन सबके लिए वहाँ पर्याप्त खाना नहीं है। घास तो हर जगह बहुतायत से रहती है, किन्तु बर्फ की एक पतली चद्दर उसको ढके रहती है। सभी क़िस्म के घोड़ों को बर्फ के नीचे से निकालकर इस घास को खाने में बड़ी कठिनाई होती है, इसी वजह से ही वे दुबले और कमजोर हो जाते है। इसके साथ ही बसन्त के शुरू में बर्फीला कुहरा भी आम तौर पर

पड़ता है। यह कुहरा अगर लगातार कई दिन तक पड़ता है तो घोड़े और भी शक्तिहीन हो जाते हैं। इसके बाद बर्फ का तूफ़ान आता है जिसके कारण पहले से ही कमजोर जानवरो को कई दिन तक खाना नसीब नहीं होता और उनमें से बहुत-से मर जाते हैं। वसन्त में यह नुक़सान इतना अधिक होता है कि यदि मौसम ज़रा और खराब हुआ तो नई नस्ल से भी उसकी पूर्ति नहीं होती। यह इसलिए भी कि सभी घोड़े शक्तिहीन हो जाते हैं और उनके बच्चे कमजोर पैदा होते हैं। इस तरह घोड़ों और चौपायो की तादाद अन्यथा जितनी होनी चाहिए उससे सदा कम रहती है। साल में हर समय इतना खाना रहता है जो पाँच या दस-गुने जानवरों तक के लिए काफ़ी हो सकता है। फिर भी यह हालत है कि उनकी आबादी बहुत ही धीरे-धीरे बढ़ती है। किन्तु यदि कोई पशुओं का मालिक तराई में थोड़ी सूखी घास इकट्ठा करके बर्फ़ीले कुहरे या भारी बर्फ के गिरने के समय उसे जानवरों के सामने डाल दे तो उनकी संख्या में उसे तत्काल वृद्धि दिखाई देगी। एशिया और अमेरिका में क़रीब-क़रीब सभी जंगल में खुले चरनेवाले और बहुत से कुतरनेवाले जानवरों की यही दशा है। हम यह निश्चिन्त होकर कह सकते हैं कि उनकी तादाद प्रतिस्पर्द्धा के कारण कम नहीं होती; साल में कभी भी उन्हें खाद्य-सामग्री के लिए नहीं लड़ना पड़ता। उनकी तादाद आवश्यकता से अधिक नहीं बढ़ती, इसका कारण प्रतिस्पर्द्धा नहीं, बल्कि जल-वायु है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बहूत्पत्ति रोकनेवाले प्राकृतिक बन्धनों के महत्व पर, और खास कर प्रतिस्पर्द्धा के सिद्धान्त पर, उन बन्धनो का जो असर पड़ता है, उस पर अभी तक आवश्यक ध्यान नहीं दिया गया है। इस मे शक नहीं कि उन बन्धनों का उल्लेख तो किया गया है, किन्तु उनके परिणामों का विस्तार के साथ अध्ययन शायद ही किया गया है। फिर भी यदि हम प्रतिस्पर्द्धा और इन परिणामों के बन्धनों की तुलना करें तो हमें तत्काल ही यह मानना पड़ेगा ही उनकी तुलना हो ही नहीं सकती। प्राणि-विशेषज्ञ बेट्स ने परदार चींटियों के प्रवास के समय उनके विनाश का आश्चर्यजनक वर्णन लिखा है। ये परदार चींटियाँ आँधी के आगे न ठहर सकीं, वे उड़ कर नदी में गिर पड़ीं। उस समय पानी के किनारे-किनारे मीलों तक एक-एक दो-दो इंच ऊँची और चौड़ी क़तार में उनके मरे और अधमरे शरीरों का ढेर लग गया था। इस समय दरअसल जितनी चींटियाँ जिन्दा हैं, उससे सौ गुनी चींटियो के पालन-पोषण करने की जिस प्रकृति में क्षमता है, वही लाखों की तादाद में इस तरह उन को नष्ट कर देती है। जर्मनी में डा० अलट्रुम एक जगल-विशेषज्ञ हुए हैं। उन्होने जंगलों को नुकसान पहुँचाने वाले जानवरों के विषय में एक बड़ी मनोरंजक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक में उन्होंने प्राकृतिक बन्धनों के महत्व को बताने वाली बहुत-सी बातें भी लिखी हैं। वे कहते हैं कि आंधियों के एक दौर अथवा सर्द और नम मौसिम के कारण पतंगो का उनके प्रवास-काल में

प्राकृतिक परिवर्तन मुख्य बाधक है

इतनी अधिक तादाद में नाश होता है कि उसका अन्दाज करना भी कठिन है। १८७१ के बसन्त में सबके-सब पतंगे गायब हो गये थे। लगातार कई दिन तक रात में खूब ठण्ड पड़ने के कारण सम्भवतः वे मर गये। युरोप के अलग-अलग हिस्सों में पाये जाने वाले भिन्न-भिन्न कीड़ों के बारे में इस प्रकार के अनेक उदाहरण पाये जा सकते हैं। डा० अलटुम ने एक ऐसी चिड़िया का भी उल्लेख किया है, जो इन पतंगों की जानी दुश्मन होती है। लोमड़ियाँ भी उनके अण्डो को नही छोड़तीं। किन्तु पतंगों का सब से भयंकर शत्रु एक जहरीली वनस्पति है। उसके संसर्ग से तत्काल एक लम्बे-चौड़े क्षेत्र के पतंगे नष्ट हो जाते हैं। उसी लेखक ने चूहो की बहुत-सी क़िस्मों के शत्रुओं एक लम्बी सूची दी है, किन्तु वह लिखता है:—"चूहों के सबसे भयंकर शत्रु दूसरे जानवर नहीं होते। मौसिम की एकाएक तब्दीली ही उनकी सब से बड़ी दुश्मन होती है जो प्रायः हर साल होती रहती है। सर्दी के बाद गर्मी और गर्मा के बाद सर्दी के दौर उनको अन्धाधुन्ध नष्ट कर देते है। जब इस प्रकार एकाएक मौसम बदलता है, उस समय हजारो चूहों में से कुछ ही बच पाते हैं।" दूसरी ओर जब हलकी सर्दी पड़ती है या धीरे-धीरे सर्दी बढ़ती है तो एक क़िस्म के शत्रुओ के होते हुए भी उनकी तादाद में बेशुमार वृद्धि होती है। १८७६ और ७७ में ऐसा ही हुआ था। चूहा के उदाहरण को लेकर देखा जाय तो मौसम की तुलना में प्रतिस्पर्द्धा सर्वथा नगण्य प्रतीत होता है। डा० अलटुम ने गिलहरियो के बारे मे भी इसी तरह के प्रमाण दिये हैं।

पक्षियों के विषय में तो यह प्रसिद्ध ही है कि मौसम के एकाएक परिवर्तन से उनको कितना नुकसान उठाना पड़ता है। वसन्त के अन्त में आनेवाले वर्फीले तूफान इंग्लैंड के दलदल में रहनेवाले पक्षियो के लिए उतने ही संहारक होते हैं, जितने साइवेरिया के पक्षियों के लिए। चार्ल्स डिक्सन ने जंगली लाल मुर्गों को असाधारण कड़ाके की सर्दियों में इतना सिकुड़ते देखा कि उनमें से वहुत से दलदल को छोड़ गये। उनको शेफील्ड की सड़कों में आश्रय देना पड़ा। लगातार नमी का पड़ना भी उनके लिए क़रीव-क़रीव उतना ही खतरनाक होता है।

दूसरी ओर संक्रामक वीमारियाँ हैं जो जानवरों की वहुत-सी क़िस्मो में लगातार फैला करती हैं। ये वीमारियाँ जानवरों को इतनी अधिक तादाद में नष्ट कर देती हैं कि वहुत तेजी से वढ़ने वाले जानवर तक वहुधा वर्षों तक उस नुकसान की पूर्ति नहीं कर सकते। ६० वर्ष पूर्व दक्षिण-पूर्वी रूस के सरेपटा नामक स्थान के आस-पास रहने वाले रूसी चूहे किसी संक्रामक रोग के फल-स्वरूप विल्कुल ग़ायव हो गये थे। वर्षों तक वहाँ उनका कोई चिन्ह नजर न आया। वहुत साल गुजरने के वाद ही उनकी उतनी तादाद हो सकी, जितनी उस रोग के पहले थी।

प्रतिस्पर्द्धा को जो महत्व दिया गया है, उसको कम करने वाले इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। निस्सन्देह उन उदाहरणों के जवाव मे डार्विन के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सव कुछ होते हुए भी "प्रत्येक प्रकार के सेन्द्रिय प्राणियों के जीवन में कुछ समय ऐसा आता है, साल में

कोई ऐसा मौसम आता है, हर पीढ़ी में या कुछ निश्चित वर्षों बाद ऐसी स्थिति आती है. जब उसे जीवन के लिए संघर्ष करना पड़ता है और भारी संहार का मुक़ाबला करना पड़ता है" और यह भी कि जीवन-संघर्ष के ऐसे कठिन काल में वे ही बचते है जो योग्यतम होते हैं। संकट-काल के बाद योग्यतम प्राणी ही जीवित रहते हैं, यदि इस बात को प्राणी-संसार के विकास का एक मात्र अथवा मुख्य आधार मान लिया जाय; यदि असाधारण दुष्काल, मौसम के एकाएक बदलने पर या सैलाबों के समय योग्य प्राणियों की ही रक्षा होती हो, तो प्राणी-संसार की सदा अवनति ही होती रहेगी, जैसा कि हम असभ्य देशो मे देखते है। जो प्राणी दुष्काल, हैजा, चेचक, या कण्ठमाल जैसी जोर की संक्रामक बीमारियो के बाद बच रहते है,वे न तो सबसे मजबूत और तन्दुरुस्त ही होते हैं और न सब से अधिक बुद्धिशाली ही। इस तरह बच जाने वाले प्राणियो के आधार पर कोई उन्नति नहीं हो सकती। विशेष कर इसलिए भी कि उन सबकी तन्दुरुस्ती आम तौर पर ट्रान्सबैकालिया के घोड़ो और शीत-समुद्र मे काम करने वाले मल्लाहों की भांति बिगड़ जाती है।

यदि हम सेना की किसी कम्पनी को कुछ महीने के लिए एक क़िले में बन्द कर दें और उसे अध-भूखी रखे तो उसकी तन्दुरुस्ती निश्चित रूप से बिगड़ जायगी और आगे चलकर हमें उसमें असाधारण मृत्यु-संख्या नजर आवेगी। प्रकृति अधिक-से-अधिक यही कर सकती है कि संकट के मौक़ों पर उन प्राणियो की रक्षा कर दे जिनमें सब तरह की मुसीबतों का सामना करने

की सब से अधिक सामर्थ्य हो। साइबेरिया के घोड़ों और पशुओं में ऐसा ही होता है। वे सहन-शील होते हैं। जरूरत पड़ने पर एक खास क़िस्म के पेड़ की पत्तियाँ खाकर वे रह सकते हैं। ठण्ड और भूख को भी वे बर्दाश्त कर सकते हैं। किन्तु जितना वजन युरोपियन घोड़ा आसानी से उठा सकता है उसका आधा भी वजन साइबेरिया का कोई घोड़ा नहीं उठा सकता। इसी तरह जर्सी द्वीप की गाय जितना दूध देती है, उसका आधा भी साइबेरिया की गाय नहीं दे सकती। असभ्य देशों के आदिम निवासी तो युरोपियनों का मुकाबला कर ही क्या सकते हैं। संभव है वे भूख और ठण्ड को ज्यादा सह सकें किन्तु शारीरिक बल में वे भर-पेट खाने वाले युरोपियन की अपेक्षा बहुत कमजोर निकलेंगे। उनकी बौद्धिक प्रगति तो बड़ी ही धीमी होती है। डार्विनवाद पर रूसी प्राणी-विशेषज्ञ चेरनीशेवस्की ने एक उत्तम निबन्ध लिखा है। उनका यह कहना कि 'बुराई से भलाई नहीं पैदा हो सकती' बिल्कुल सही है।

प्रतिस्पर्द्धा प्राकृतिक नियम नहीं

सौभाग्यवश, प्राणी-संसार और मनुष्य-जाति दोनों में ही प्रतिस्पर्द्धा प्रकृति का नियम नहीं है। प्राणियो में असाधारण अवसरों पर ही प्रतिस्पर्द्धा होती है, और वह भी मर्यादित रूप में ही। उस समय प्रकृति को योग्यतम प्राणियों की रक्षा करने के लिए उनका चुनाव करने को अधिक अच्छा क्षेत्र मिलता है। पारस्परिक सहयोग और सहायता के द्वारा, प्रतिस्पर्द्धा नष्ट होकर और भी उत्तम परिस्थिति पैदा होती है; प्राणी सुख और शांति का अनुभव

करते हैं। कम से कम शक्ति खर्च करके अधिक से अधिक विकसित और क्रियाशील जीवन का निर्माण हो, इस बात के लिए जो महान संग्राम होता है, उसमें यथासम्भव प्रतिस्पर्द्धा को स्थान न मिलने देने के लिए प्रकृति बराबर उद्योग करती रहती है। चीटियाँ अपने रहने के बिल और अपनी एक अलग जाति बनाने के लिए एकता के सूत्र में बँधती हैं, ढेरों खाद्य-सामग्री इकट्ठी करती हैं, अपनी नस्ल का पालन-पोषण करती है और इस प्रकार प्रतिस्पर्द्धा से अपने आपको बचाती हैं। चीटियों की जो क़िस्म प्रतिस्पर्द्धा से, दूर रहने में सब से अधिक कौशल का परिचय देती है उसको प्रकृति रक्षा के लिए चुन लेती है। इस चुनाव के साथ अन्य चीटियों का संहार करने का काम तो होता ही है। जब सर्दी पड़ने लगती है तो हमारे अधिकांश पक्षी धीरे-धीरे दक्षिण की ओर बढ़ते हैं या अनेक गिरोह बनाकर एक दम लम्बी यात्रा कर डालते हैं; जीवन के अस्तित्व के लिए एक-दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा नहीं करते। बहुत से कुतरने वाले जानवर प्रतिस्पर्द्धा का समय आने लगता है तो निद्रा-देवी की गोद में जा शरण लेते हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी होते हैं जो सर्दियों के लिए खाद्य-सामग्री इकट्ठी कर रखते है और काम करते समय आत्म-रक्षा की दृष्टि से बड़ी-बड़ी बस्तियो में एक साथ रहते हैं। एशिया महाद्वीप के भीतरी भाग में बारहसिंघा के खाने की वनस्पति सूख जाती है तो वह समुद्र की ओर प्रवास कर जाता है। बहुतायत से खाद्य-सामग्री मिल सके, इसके लिए भैंसें एक महाद्वीप के इस सिरे से उस सिरे को चली जाती हैं। जब किसी नदी के किनारे

ऊदबिलावों की संख्या बहुत बढ़ जाती है तो आपस में प्रतिस्पर्द्धा न होने देने के लिए वे दो भागों में बँट कर बुड्ढे बिलाव नदी के बहाव के नीचे की ओर तथा छोटे बिलाव ऊपर की ओर चले जाते हैं। यदि ऐसी स्थिति हो कि प्राणी न तो सो सके, न प्रवास कर सकें, न खाद्य-सामग्री इकट्ठी कर सकें और न चीटियों की भांति स्वयं अपनी खुराक पैदा कर सके, तो वे बया पक्षी की भांति नई क़िस्म की खुराक खाना शुरू कर देते हैं और इस तरह पुनः प्रतिस्पर्द्धा का आश्रय नहीं लेते।

"प्रतिस्पर्द्धा मत करो, प्रतिस्पर्द्धा सदा प्राणियों के लिए हानिकर होती है, उससे बचने के लिए तुम्हारे पास साधनों की कमी भी नहीं है", प्रकृति का यही कथन है। प्रकृति के इस तत्त्व को हम सदा ही पूरी तौर पर अनुभव नहीं करते, किन्तु वह उसमें हमेशा मौजूद रहता है। हर झाड़ी, जंगल, नदी और समुद्र—सब स्थानों से यही ध्वनि उठती है। "इसलिए संगठित होकर पारस्परिक सहयोग से काम लो, यह अचूक उपाय है जिसके द्वारा हरेक प्राणी खूब निश्चिन्त रह सकता है, यह उसके अस्तित्व की तथा शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक प्रगति की सब से बढ़िया गारण्टी है।" प्रकृति का हमारे लिए यही उपदेश है। जिन प्राणियों ने अपनी-अपनी जाति में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है, उन सब ने ठीक इसी प्रकार व्यवहार किया है। प्राकृत से प्राकृत मनुष्य भी ऐसा ही आचरण करता रहा है। मनुष्य को आज जो स्थान मिला हुआ है, उसका कारण भी यही पारस्परिक सहयोग है। इस सम्बन्ध में हम अगले अध्यायों में विचार करेंगे।

प्रकृति का उपदेश

[३]

प्राकृत मनुष्यों में पारस्परिक सहयोग

पिछले अध्यायों में हम संक्षेप में इस बात का विश्लेषण कर चुके है कि प्राणी-संसार के विकास के लिए पारस्परिक सहयोग और समर्थन ने कितना अधिक योग दिया है। अब हमें देखना है कि मानव-जाति के विकास में उनका कितना हिस्सा रहा है। हम यह देख चुके कि एकान्तिक जीवन बितानेवाले प्राणियों की क़िस्में कितनी थोड़ी हैं और गिरोह बनाकर रहनेवाली क़िस्में बेशुमार हैं। पारस्परिक आत्म-रक्षण करने, शिकार खेलने, खाद्य-सामग्री इकट्ठी करने, अपनी नस्ल का पालन-पोषण करने अथवा केवल सामाजिक जीवन का सुखोपभोग करने के उद्देश्य से ही प्राणियों के ये गिरोह बनते हैं। हमने यह भी देखा कि प्राणियो की विभिन्न जातियों, विभिन्न क़िस्मों और एक ही क़िस्म के भिन्न-भिन्न वर्गों में आपस में बहुत-कुछ संघर्ष चलता रहता है, किन्तु एक ही जाति या क़िस्म के भीतर रहनेवाले प्राणियो मे आपस में आम तौर पर शान्ति और पारस्परिक सहयोग का ही राज्य है। जो क़िस्में यह भली-भांति जानती हैं कि किस प्रकार एकता-पाश में बँधना और प्रतिस्पर्द्धा से दूर रहना चाहिए उन्हीं के लिए बच रहने के और भावी प्रगतिशील विकास के श्रेष्ठतम अवसर रहते है। वे क़िस्मे

फलती-फूलती हैं; दूसरी ओर एकान्तिक जीवन वितानेवाले प्राणियो की क़िस्में धीरे-धीरे नष्ट होती रहती हैं।

यदि मनुष्य पर पारस्परिक सहयोग जैसा व्यापक नियम न लागू हो, उसे एक अपवाद ठहरा दिया जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रकृति के विषय में जो कुछ हमारा ज्ञान है, उसके वह सर्वथा विपरीत होगा। प्रारम्भ में मनुष्य जिस प्रकार आत्म-रक्षा के साधनों से विहीन था, उसको देखते हुए यह कैसे सम्भव हो सकता है कि अन्य प्राणियों की भांति पारस्परिक सहयोग से नहीं, बल्कि व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए अन्धाधुन्ध प्रतिस्पर्द्धा करके उसने अपनी रक्षा और प्रगति की। फिर यह प्रतिस्पर्द्धा भी कैसी, कि जिसमें जातीय हितों का तनिक भी ध्यान न रखा जाता हो। जो व्यक्ति प्रकृति में एकता देखने का अभ्यासी हो, उसे इस प्रकार की बात सर्वथा असमर्थनीय प्रतीत होगी। किन्तु असम्भव और तत्त्वज्ञान के विरुद्ध होते हुए भी उसके समर्थकों की कभी भी कमी नहीं रही है। ऐसे लेखक सदा रहे हैं, जिन्होंने मानव-जाति के निराशावादी पहलू पर ही विचार किया है। वे गहरे कभी नहीं पैठे, इस विषय मे उनका खुद का सीमित अनुभव ही उनके कम या ज़्यादा ऊपरी ज्ञान का आधार रहा। युद्ध, निर्दयता, उत्पीड़न से सदा सतर्क रहनेवाले इतिहासकारों ने इतिहास के बारे में जो-कुछ कहा, वही या उससे थोड़ा अधिक उनका ऐतिहासिक ज्ञान कह लीजिए। इसी पर से उन्होंने यह नतीजा निकाल लिया कि मनुष्य-जाति ऐसे प्राणियों के एक ढीले समूह

मानवी विकास-विषयक भ्रम

के अतिरिक्त कुछ नहीं है, जो सदा एक-दूसरे से लड़ाई करने को तत्पर रहते है, और किसी सत्ता का हस्तक्षेप ही उनको लड़ने से रोके रखता है।

तत्त्ववेत्ता होब्स का यही मत था। उसके अठारहवीं शताब्दी के अनुयायियो ने तो यह साबित करने की कोशिश की कि मानव-जाति के अस्तित्वकाल में कभी ऐसा अवसर नही आया, यहाँ तक कि उसकी प्रारम्भिक अवस्था तक में ऐसा नहीं हुआ कि वह लगातार युद्ध में संलग्न रही हो, मनुष्य तो अपनी 'प्राकृत अवस्था' तक में मेल-जोल से रहे हैं। मनुष्यता को अपने प्रागैतिहासिक जीवन में जिन-जिन भयंकरताओं का सामना करना पड़ा, उन सबके लिए मनुष्य की स्वाभाविक दुष्प्रवृत्तियाँ इतनी जिम्मेदार नहीं है, जितना कि उसका अज्ञान। किन्तु इसके विपरीत होब्स का यह विचार था कि "जिसे प्राकृत अवस्था कहा जाता है, उस अवस्था में मनुष्यों के बीच में बराबर लड़ाई होती रहती थी, उनकी पशु-जीवन की अस्थिरता ने संयोगवश उनको एक स्थान पर ला जमा किया था। यह सही है कि होब्स के जमाने से इस समय विज्ञान ने कुछ अधिक प्रगति की है और होब्स अथवा रूसो के अनुमानों की अपेक्षा हम अधिक सुरक्षित जमीन पर खड़े हो सकते हैं। किन्तु होब्स के तत्त्व-ज्ञान के प्रशंसकों की अब भी कमी नहीं है। इन वर्षों में लेखकों की एक श्रेणी ऐसी रही है, जिसने डार्विन के मुख्य आशय को समझने की अपेक्षा उसके शब्दों को लेकर होब्स के विचारों का समर्थन किया और उनको वैज्ञानिक शक्ल देने तक में वह सफल हुई।

जैसा कि प्रसिद्ध है, हक्सले ने सबसे पहले उन विचारों का प्रतिपादन किया। सन् १८८८ में उसने अपने एक निबन्ध में प्राकृत मनुष्य की शेर और चीते से उपमा दी और लिखा कि उसमें नैतिक विचारों का चिन्ह भी न था, अपने अस्तित्व की रक्षार्थ उसकी लड़ाई क्रूर से क्रूर सीमा तक पहुँच जाती थी। लगातार खुली लड़ाई लड़ते रहना ही उसके जीवन का मुख्य काम था। हक्सले के शब्दों में शुरू में समस्त सृष्टि की यह स्थिति थी कि कुटुम्ब के मर्यादित और अस्थायी सम्बन्धो के परे हर व्यक्ति का अन्य सब प्राणियो के साथ संघर्ष चलता रहता था।

यह बात एक से अधिक बार कही जा चुकी है कि होब्स और उसकी भांति १८ वीं शताब्दी के तत्त्ववेत्ताओ ने एक बड़ी ग़लती की। उन्होंने यह मान लिया कि मानव-जाति के जीवन की शुरुआत छोटे-छोटे भटकते फिरने वाले ऐसे कुटुम्बों के रूप में हुई, जो हिसक जानवरों के मर्यादित और अस्थायी कुटुम्बों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते थे। किन्तु अब यह निश्चित रूप से मालूम हो चुका है कि अवस्था ऐसी न थी। निस्सन्देह, हमारे पास इस बात का कोई सीधा प्रमाण नहीं है कि पहले-पहल मनुष्यों-जैसे जो प्राणी हुए उनका कैसा जीवन-क्रम था। हम तो अभी उनके सर्वप्रथम प्रकट होने के समय का भी निश्चय नहीं कर सके है। तीसरे युग को भिन्न-भिन्न खण्ड-अवधियों के जो गड़े हुए चिन्ह मिले है, उनको आधार मान कर भू-वेत्ताओं का झुकाव तीसरे युग में वह समय निश्चित करने की ओर प्रतीत होता है। किन्तु एक अप्रत्यक्ष तरीक़ा

भी है जिसके द्वारा उस प्राचीनतम समय की अवस्था पर हम थोड़ा प्रकाश डाल सकेंगे। गत चालीस वर्षों से नीची-से-नीची जातियों की सामाजिक संस्थाओ की बड़े ग़ौर के साथ छानबीन की जा रही है। प्रारम्भिक मनुष्यों की वर्तमान संस्थाओ में अब भी उनकी पुरानी संस्थाओं के कुछ चिन्ह मिलते है। हालांकि इन पुरानी संस्थाओ को नष्ट हुए जमाना बीत गया, फिर भी अपने अस्तित्व की वे स्पष्ट छाप छोड़ गई है। बेकोफेन, मेकलेनन, मोरगेन, एडवर्ड वी टेलर, मैन, पोस्ट, कोवलेवस्की, लुबक आदि बहुत से लेखकों ने मानवीय संस्थाओ के प्रारंभिक सिद्धान्त-विषयक ज्ञान को विज्ञान की एक पूरी-की-पूरी शाखा का रूप दे दिया है। विज्ञान की इस शाखा ने निश्चित रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि मानव-जाति ने छोटे एकान्तिक कुटुम्बों के रूप में अपना जीवन शुरू नहीं किया।

कुटुम्ब का संगठन प्रारम्भिक संगठन नहीं है, उसका तो मानव-विकासकाल में बहुत पीछे जाकर निर्माण हुआ है।

मानव-समाज का प्रारंभिक सगठन

मानव-जाति के मूल विज्ञान में जितनी दूर हम प्रवेश कर सकते हैं, वहाँ तक हमें मनुष्य समूहों में, उच्चतम श्रेणी के दूध देने वाले जानवरो की भाँति जातियों मे विभक्त हो कर रहता हुआ मिलता है। अत्यन्त धीमे और दीर्घकालीन विकास के बाद ही इन समूहों को वंशगत संगठन का रूप मिल सकना सम्भव था। इसी प्रकार प्रकारान्तर से बहुनारीत्व अथवा एक-नारीत्व के आधार पर बने कुटुम्ब के प्रथम बीज प्रकट होने के पहले वंश-

गत संगठन के लिए भी बहुत लम्बे विकास-काल में से हो कर गुजरना आवश्यक था । इस प्रकार मानव-जाति और उसके शुरू के पूर्वजो के प्रारम्भिक संगठन को कुटुम्ब का नहीं, गिरोह, दल अथवा जाति का नाम दिया जा सकता है । मानव-जाति का मूल-विज्ञान सपरिश्रम अन्वेषणो के बाद इसी परिणाम पर पहुँचा है । प्राणी-विशेषज्ञ जिस नतीजे पर पहुँचे होते, उसी नतीजे पर यह विज्ञान पहुँचा है । ऊँची कोटि के दूध देने वाले जानवरों में कुछ हिंसक प्राणियों और बन्दरों की निश्चित रूप से नष्ट होती जाने वाली कुछ क़िस्मों के अलावा और कोई क़िस्म छोटे कुटुम्बों में अलग-अलग जंगलों में नहीं भटकती फिरती, बाकी की सब क़िस्में समूहों में रहती हैं । डार्विन ने यह भली-भांति समझ लिया था कि एकान्तिक जीवन बिताने वाले बन्दरों से मनुष्य-जैसे प्राणियों का बन सकना सम्भव नहीं है । किसी मजबूत किन्तु मेल-जोल से न रहने वाली गोरीला-जैसी बन्दर की किस्म की अपेक्षा कुछ कमजोर किन्तु हिल-मिल कर रहने वाली वन-मानुष जैसी क़िस्म से मनुष्य बना है, इस विचार की ओर डार्विन का झुकाव था । इस प्रकार प्राणि-शास्त्र और प्रारम्भिक मानव-शास्त्र दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि सामाजिक जीवन का पहले-से-पहले का रूप कुटुम्ब नहीं, दल था । प्रथम मानव-संस्थायें उन संस्थाओं के विकास की अगली सीढ़ियाँ हैं, जिन्हें बड़े जानवरों के जीवन का मुख्य सत्व कहना चाहिए ।

अब इस विषय के निश्चित प्रमाणों को लीजिए। बर्फीले युग से पहले के शुरू-शुरू के मनुष्यों के जो चिन्ह मिलते हैं, वे इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उस समय भी मनुष्य समूहों में रहता था। प्रचीन पाषाण-युग तक के पत्थरों के औजारों का यत्र-तत्र मिलना बहुत कम हो गया है, फिर भी जहाँ-कहीं चकमक पत्थर का कोई औजार मिल जाता है, तो बहुत कर के वहाँ दूसरे औजार बड़ी तादाद में निश्चित रूप से मिलेंगे। जिस समय मनुष्य उन दूध देनेवाले जानवरों के साथ; जो अब नष्ट हो चुके हैं, गुफाओं अथवा कहीं-कहीं आगे को निकली हुई चट्टानों के नीचे रहते थे और चकमक पत्थर की मामूली-से-मामूली क़िस्म की कुल्हाड़ी तक बनाना नहीं जानते थे, उस समय भी वे सामूहिक जीवन के लाभों से परिचित थे। डोरडोगने नदी की सहायक नदियों की घाटियों में कुछ स्थानों पर चट्टानों की सतह गुफाओं ही गुफाओं से ढकी हुई है। उनमें इतिहास-काल से पहले के पत्थरी युग के मनुष्य रहते थे। कुछ दुमंजली-तिमंजली गुफायें भी मिलती हैं। इन गुफाओं की बनावट हिंसक जानवरों की गुफाओं की अपेक्षा अबाबील चिड़िया के घोंसलो से अधिक मिलती-जुलती पाई जाती है। इनमें चकमक पत्थर के एक-दो नहीं बेशुमार औजार मिले हैं। इतिहास-काल से पहले के मनुष्यों के रहने के अन्य स्थानों के विषय में भी यही बात ठीक है। लारटेट की खोज से यह पता चलता है कि दक्षिण फ्रांस में ओरिगन के क्षेत्र के निवासी जब कोई मर जाता था तो जाति-भोज में शामिल

होते थे । इस से सिद्ध है कि उस अत्यन्त सुदूर युग तक में मनुष्य समूहों में रहते थे और जातीय पूजा के भाव उनमें बीज रूप में विद्यमान थे ।

पत्थरी युग के उत्तर भाग के विषय में यह बात और भी अच्छी तरह सिद्ध की जा सकती है । उस समय के मनुष्य के बेशुमार तादाद में चिन्ह मिले हैं, उनसे हम उसके रहन-सहन के ढंग का बहुत हद तक पता लगा सकते हैं । यह अनुमान किया जाता है कि ध्रुवी क्षेत्रों से दक्षिण की ओर मध्य फ्रान्स, मध्य, जर्मनी और मध्य रूस तक पहले बर्फ ही बर्फ फैली हुई थी । इसके अलावा कनेडा और अमेरिका का बहुत-सा हिस्सा भी बर्फ से ढका हुआ था । जब यह बर्फ पिघलने लगी तो पहले तो जगह-जगह दलदल हुए और बाद में वहाँ अनेक झीलें बन गईं । इन झीलों ने घाटियों के सब गड्ढों को भर दिया । गड्ढों के भर जाने के बाद पानी ने धरती को काट कर अपने बहाव के स्थायी मार्ग निश्चित कर लिये । इन्हीं मार्गों को हम आगे चल कर नदियों के नाम से पुकारने लगे । युरोप, एशिया, अमेरिका में जहाँ-कहीं आप खोज कीजिए आपको उस जमाने की बेशुमार झीलों के किनारे पत्थरी युग के उत्तर भाग के मनुष्यों के चिन्ह अवश्य मिलेंगे । ये चिन्ह इतने अधिक हैं कि हमें आज-कल की तुलना में उस समय की घनी बस्ती पर आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता । उस जमाने के मनुष्यों के घर ऊँची जगहों पर एक के बाद एक पास-पास बने हुए मिलते हैं । ये ऊँचे स्थान उस समय की झीलों के किनारे थे । इन स्थानों में हर जगह पत्थर के

औजार इतनी अधिक तादाद में मिलते हैं जिससे इस बात में सन्देह करने की जरा भी गुञ्जाइश नही रहती कि बहुत अधिक काल तक उन स्थानों में अनेक जातियों के लोग रहे थे। पुरातत्व-वेत्ताओं ने चकमक पत्थर के पूरे के पूरे कारखानों का पता लगाया है। इससे सिद्ध होता है कि उन कारखानों में कितने अधिक आदमी काम करने को एक साथ इकट्ठे हुआ करते थे।

डेन्मार्क में सीपियों के ढेरों में और भी उन्नत काल के चिन्ह मिलते हैं। इस काल में थोड़े अंश में मिट्टी के बर्तन काम में लाये जाने लगे थे। जैसा कि प्रसिद्ध है उन चिन्हों के पांच से दस फुट मोटे, सौ से दो सौ फुट चौड़े, और हजार या हजार से अधिक फुट लम्बे ढेर पाये जाते हैं। समुद्री किनारे के कुछ भागों में ये ढेर इतनी बहुतायत से मिलते हैं कि दीर्घ काल तक उनको प्राकृतिक समझा जाता रहा फिर भी उनमें ऐसी कोई चीज नहीं मिलती जो किसी न किसी रूप में मनुष्य के काम की न रही हो। वहाँ तो मनुष्य के परिश्रम से बनी हुई चीजें इतनी अधिक मात्रा में मिलती हैं कि लुब्बक ने मिलगार्ड नामक स्थान में दो दिन में ही पत्थर के औजारों के १९१ टुकड़े और मिट्टी के बर्तनो के ४ टुकड़े खोद निकाले। सीप के ढेरों का इतने परिमाण और विस्तार में मिलना यह सिद्ध करता है कि डेन्मार्क के किनारों पर सैकड़ों छोटी-छोटी जातियों की पीढ़ियाँ की पीढ़ियाँ बसी हुई थी। हमारे जमाने की फ्युजियन जातियों की भाँति वे निस्सन्देह साथ-साथ शान्ति से रहती थीं। फ्युजियन जतियाँ भी उसी तरह सीपी के ढेर इकट्ठे करती हैं।

स्वीज़रलैण्ड की झीलों की बस्तियों के विषय में जो बातें मालूम हुई हैं उन से पता चलता है कि उस ज़माने में सभ्यता का और भी विकास हुआ। उस समय का मनुष्य सामूहिक जीवन बिताता और मिलकर काम करता था। प्रस्तर-युग तक में स्विस झीलों के किनारे गॉव के गॉव बसे हुए थे। प्रत्येक गॉव में कई झोंपड़ियॉ होती थीं। झील के भीतर बहुत से खम्भे गाड़ कर उनके ऊपर एक-एक लम्बा-चौड़ा चबूतरा बना दिया जाता था और फिर उस पर गॉव बसाया जाता था। लेमन झील के किनारे कम से कम २४, कोन्स्टेन्स झील में ३२ और न्यूचेटल झील में ४६ गॉव पाये गये जो ज्यादातर पाषाण-युग के कहे जा सकते हैं। इनमें से हरेक गॉव यह प्रमाणित करता है कि कुटुम्ब ने नहीं, बल्कि जाति ने मिलकर उसे बनाने में कितना अधिक परिश्रम किया था। यह दावे के साथ कहा जाता है कि इन झील-निवासियों का जीवन लड़ाई-झगड़े से स्पष्टतया मुक्त रहा होगा। खासकर यदि हम उन प्रारम्भिक लोगों के जीवन को देखें, जो इस समय भी समुद्र के किनारे खम्भों पर बने हुए उसी ढंग के गावों मे रहते हैं तो सम्भवतया हमें उपर्युक्त कथन सच ही मानना पड़ेगा।

ऊपर जो कुछ जल्दी-जल्दी में कहा गया है, उसी से यह मालूम हो जाता है कि कितना ही क्यों न हो प्रारम्भिक मनुष्य-विषयक हमारा ज्ञान उतना कम नहीं है जितना कि समझा जाता है। जितना भी वह है, वह होब्स के अनुमानों का समर्थन करने की अपेक्षा उनका विरोध ही अधिक करता है। इसके

अलावा आज भी ऐसी प्रारम्भिक जातियाँ मौजूद हैं जिनकी सभ्यता इतिहास-काल से पहले के युरोप-निवासियों की सभ्यता से मिलती-जुलती है। इन जातियों के प्रत्यक्ष अन्वेषण-द्वारा हमारे उस ज्ञान में और भी वृद्धि हो सकती है।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि मनुष्य-ज़ाति पहले अधिक सभ्य थी, आज़कल की प्रारम्भिक जातियाँ तो उसी का बिगड़ा हुआ रूप है। किन्तु ई० बी० टेलर और लुबक़ ने इस कथन का काफी तौर पर खण्डन कर दिया है। इस सम्बन्ध में जो दलीलें मौजूद हैं, उनमें नीचे लिखी बातें और जोड़ दी जा सकती हैं। बिल्कुल ही एकान्त में रहने वाली कुछ जातियो को छोड़कर बाक़ी सब प्रारम्भिक जातियों ने कम या ज्यादा सभ्य राष्ट्रो को चारों ओर से घेर रखा है। वे हमारे महाद्वीपो के किनारों पर रहती हैं। इनमें से बहुत-सी जातियों ने अब तक अपना व्यवहार बर्फ़ीले युग के बाद के मनुष्यों जैसा बनाये रखा है अथवा कुछ दिनों पहले तक बनाये रखा था। ग्रीनलैण्ड, उत्तरी अमेरिका और उत्तरी साइबेरिया के एसकिमो और उनके भाई-बन्ध उन्हीं जातियों में से हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में आस्ट्रेलियनो, पापुओं और फ्युजियनो और कुछ अंश में बुशमेनो (झाड़ियों में रहने वालों) की भी उन्हीं जातियों में गिनती की जा सकती है। सभ्य क्षेत्रों में वैसी जातियाँ केवल हिमालय, आस्ट्रेलिया की ऊँची भूमि और ब्रेजिल के पठारो में मिलती है। अब हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पृथ्वी की समस्त सतह पर से बर्फ़ीले युग का एक दम ही अन्त नहीं हो गया था।

ग्रीनलैण्ड में तो वह अब भी बना हुआ है। यही कारण था कि जिस समय हिन्द महासागर, भू-मध्य सागर और मेक्सिको की खाड़ी के आस-पास के स्थानों का जलवायु अधिक गरम होने के कारण वे उन्नतर सभ्यता के केन्द्र बने, उसी समय दूसरी ओर मध्य युरोप, साइबेरिया और उत्तरी अमेरिका के विस्तृत भूभागों की तथा पेटेगोनिया, दक्षिणी अमेरिका और दक्षिणी आस्ट्रेलिया की ऐसी स्थिति थी जैसी कि वर्फीले युग के समाप्त होने के बाद प्रारम्भ में हो सकती है। इस स्थिति की वजह से गरम और अर्द्ध गरम कटिबन्धों की सभ्य जातियों का उन स्थानों में पहुँच सकना दुष्कर था। उत्तर-पश्चिमी साइबेरिया के भयानक उरमान लोगों की आज जैसी स्थिति है, वैसी ही उस समय उन प्रदेशों की स्थिति थी। जो लोग वहां बसते थे उनका रहन-सहन वैसा ही था जैसा बर्फीले युग के बाद के मनुष्य का शुरू में था; सभ्यता की वहां गुजर न थी, उससे वे बिलकुल अछूते थे। बाद में, जब जमीन सूखते-सूखते कृषि के पहले से ज्यादा योग्य हुई तो अधिक सभ्य लोग जाकर वहाँ बस गये। इन लोगों ने पुराने वाशिन्दों में से कुछ को तो अपने में मिला लिया और कुछ आगे चले गये, जहाँ वे हमें इस समय भी बसे हुए मिलते हैं। उनके रहने के प्रदेश अब भी अर्द्ध बर्फीले हैं या कुछ समय पहले तक थे। उनकी सूरत-शक्ल (शारीरिक बनावट), उनकी कारीगरी और उनके औजार उत्तर पत्थरी युग के मनुष्यों जैसे ही हैं। उनमें जाति-भेद है, वे अलग-अलग स्थानों में दूर-दूर रहते हैं। फिर भी उनके रहन-सहन के ढंग और उनकी सामाजिक संस्थाओं

में एक-दूसरे के साथ बड़ा साम्य है, यह सब देखते हुए हमें यह मानना पड़ेगा कि ये जातियाँ बर्फीले युग की समाप्ति पर जो काल शुरू हुआ, उस काल के मनुष्यों की ही संतान हैं।

जब हम इस समय पाये जाने वाले प्रारम्भिक मनुष्यों का अध्ययन शुरू करते हैं तो पहली बात जिस पर हमारी दृष्टि जाती है, वह उनकी विवाह-पद्धति की जटिलता है। कुटुम्ब का हम जो अर्थ लेते हैं, उस अर्थ में तो उनमें से अधिकांश लोगों में कौटुम्बिक भाव बीज-रूप में भी नहीं मिलते। किन्तु किसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह स्त्री और पुरुषों का असंगठित गिरोह मात्र है जो मस्तिष्क में उठने वाली क्षणिक तरंगों के अनुसार अव्यवस्थित ढंग से एक स्थान पर रहने लगता है। इसके विपरीत सभी किसी एक संगठन के नीचे रहते हैं। उस संगठन को हम मोरगेन के शब्दों में 'वंश-जन्य' संगठन कह सकते हैं।

थोड़े में कहा जाय तो यों कह सकते हैं कि वर्तमान अर्थ में मानव-जाति के आरम्भ में कोई विवाह-पद्धति ही नहीं थी।

कुटुम्ब का जन्म

स्त्री और पुरुषों के गिरोह रहते थे। आवश्यकता पड़ने पर उस गिरोह का कोई भी पुरुष किसी भी स्त्री के साथ सहवास कर सकता था। इसी प्रकार एक स्त्री किसी भी पुरुष को अपना पति चुन सकती थी। बहिन-बेटी आदि किसी भी रिश्ते का कोई विचार नहीं किया जाता था। किन्तु यह भी निश्चित है कि बहुत शीघ्र ही इस स्वच्छन्दता की रोक के लिए कुछ प्रतिबन्ध नियत किये गये। पहले तो यह

कहा गया है कि कोई आदमी अपनी मौसी, बेटी और चाची के साथ शादी न करे, बाद में बहन-भाइयों में विवाह-सम्बन्ध होना भी रोक दिया गया। आगे चल कर और भी बन्धन लगाये गये। वंश यानी खानदान की कल्पना का विकास हुआ। एक कुटुम्ब से पैदा होने वाले सभी व्यक्ति एक वंश-विशेष के अंग माने जाने लगे या वंश में उन सब व्यक्तियो की गणना की जाने लगी जो एक गिरोह में साथ-साथ रहते थे। जब वंश में आदमियों की संख्या बहुत बढ़ी और उसकी कई शाखायें बनीं तो हरेक शाखा को बहुधा चार वर्गों में बाँट दिया गया और कुछ खास सुनिश्चित वर्गों में ही शादी करने की इजाजत दी गई। कामिलारोई जबान बोलने वाले आस्ट्रेलियनों की इस समय यही अवस्था है। कुटुम्ब के प्रथम बीज खानदान में से ही पैदा हुए। पहले किसी लड़ाई में यदि एक खानदान वाले दूसरे खानदान की किसी स्त्री को उड़ा कर ले आते तो वह सारे खानदान की सम्पत्ति समझी जाती थी। थोड़े अर्से बाद जो आदमी स्त्री को उड़ा कर लाता, वही उसके वंश के प्रति दायित्व पूरा करके अपने पास रखने लगा। वंश को कुछ खिराज अदा करने के बाद वह उस स्त्री को एक अलग झोंपड़ी में ले जाकर रख सकता था। इस प्रकार एक ही वंश में अलग-अलग कुटुम्ब बनने लगे। यह सभ्यता का एक बिल्कुल नया पहलू था जिसका धीरे-धीरे विकास हो रहा था। किन्तु एक ऐसे नये कुटुम्ब की नींव डालने के लिए जिसमें बड़े-बूढ़ों के हाथ में सब सत्ता हो, यह आवश्यक था कि खानदान के भीतर शादी न की जाती। हुआ भी ऐसा ही।

लोग दूसरे खानदान की स्त्री के साथ ही विवाह करते थे। प्रारम्भिक मनुष्यों में विवाह-जैसी जटिल पद्धति का किस प्रकार विकास हुआ, लोकमत के अलावा अन्य कोई सत्ता न होने पर भी किस प्रकार वह कायम रही, यदि हम इस पर विचार करें तो हमें तुरंत पता चल जायगा कि मानव-स्वभाव में उसकी शुरू-की अवस्था तक में सामाजिक भावनायें कितनी गहरी पैठी हुई रही होंगी। यदि एक असभ्य आदमी इस प्रकार की विवाह-पद्धति की अधीनता में रह सकता है और ऐसे निमयो का स्वेच्छा से पालन कर सकता है जो सदा उसकी व्यक्तिगत इच्छाओं के विरुद्ध पड़ रहे हों तो निस्सन्देह हम यह नहीं कर सकते कि वह एक पशु की भांति नैतिक सिद्धान्तों से शून्य अपनी वासनाओं का गुलाम-मात्र है। खानदानों के संगठन की अत्यन्त प्राचीनता पर विचार किया जाय तो यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। अब यह विदित हो चुका है कि प्रारम्भिक सेमाइट, होमर के यूनानी, इतिहास-काल से पहले के रोमन, टेसिटस के जर्मन और शुरू के केल्ट तथा स्लेवोनियन सभी वंश के आधार पर बने हुए संगठन की अधीनता में रह चुके हैं। उनके इन संगठनो का स्वरूप आस्ट्रेलियनों, दक्षिण अमेरिका के मूल निवा-सियों, एसकिमों आदि असभ्व लोगो के संगठनो से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था। ऐसी दशा में हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि या तो विवाह-नियमों का मनुष्य-जाति में सर्वत्र एक ही तरीके से विकास हुआ या सेमाइटों, आर्यों, पोलिनेसियनों आदि की अलग-अलग जातियाँ बनने के पूर्व ही उनके पूर्वजों में

खानदानी संगठन के प्रारम्भिक नियमों का विकास हो चुका था। इन क़ौमों के अलग-अलग प्रदेशों में चले जाने के वाद से लगाकर अबतक उपर्युक्त नियमों का पालन होता रहा है। कुछ भी हो, दोनो ही बातो से उस संगठन की स्पष्ट दृढ़ता वा समान रूप से परिचय मिलता है। हजारों वर्ष बीत जाने पर भी वह संगठन अबतक बना हुआ है; व्यक्तियो के आक्रमण उसको नहीं तोड़ सके। इस समय भी खानदानो की मौजूदगी यह सिद्ध करती है कि प्रारम्भिक मानव-जाति को वासनाओ के दास और समाज के हितों की उपेक्षा कर अपनी शक्ति और चालाकी से फ़ायदा उठाने वाले व्यक्तियों का अव्यवस्थित समूह कहना कितना ग़लत है। असंयत व्यक्तिवाद तो आधुनिक युग की उपज है। प्रारम्भिक मानवजाति में उसका कभी भी बोलबाला न था।

झड़वासियों का जीवन-क्रम

आधुनिक जंगली जातियों में हम सबसे पहले झाड़ियों में रहनेवाले आदमियों (बुश मेन) का जिक्र करेंगे। इनका बहुत ही कम विकास हुआ है, इतना कम कि अपने रहने के लिए वे किसी तरह के घर नहीं बनाते, जमीन में सूराख खोदकर उनमें सोते हैं। इन सूराखों पर कहीं-कहीं कुछ आड़ भी की हुई होती है। यह सबको ज्ञात है कि युरोपियन लोग जिस समय उनके प्रदेशो मे जाकर बसे और उन्होने हिरनों को नष्ट किया, उस समय झड़वासियों ने उनके पशुओं को चुरा-चुरा कर ले जाना शुरू कर दिया था। इस बात को लेकर युरोपियनों ने झड़वासियों को नष्ट कर देने के लिए लड़ाई लड़ी। यह इतनी भयंकर लड़ाई

हुई कि हमारे लिए उसका यहाँ जिक्र करना सम्भव नहीं है। सन् १७७४ में पाँच सौ और १८०८-९ में तीन हजार झड़-वासी क़त्ल कर दिये गये। यह क्रम आगे भी जारी रहा। चूहों की भांति उनको जहर खिलाया गया। शिकारियों ने जानवरों की मुर्दा लाशों के पीछे छिप-छिप कर उन्हे मारा। जहाँ कहीं वे मिले, तलवार के घाट उतार दिये गये। झड़वासियो के विषय में हमारा ज्ञान अनिवार्यतः मर्यादित है, कारण कि मुख्यतया हमें वह उन्हीं लोगों से प्राप्त हुआ है जो स्वयं उनके संहारक रहे है। फिर भी हम यह जानते हैं कि युरोपियन लोगों के आने के समय झड़वासी छोटी-छोटी जातियाँ बनाकर रहते थे जो कभी-कभी एक-दूसरे के साथ सम्बन्धित भी होती थीं। वे मिलकर शिकार करते थे और जो कुछ मिलता उसको बिना किसी झगड़े के आपस में बाँट लिया करते थे। वे कभी अपने घायलों को छोड़ कर नहीं चले जाते थे, साथियों के प्रति वे अगाध प्रेम का परिचय देते थे। लिचरेनस्टीन ने एक झड़वासी की बड़ी ही हृदय-द्रावक कहानी लिखी है, जिसको उसके साथियों ने नदी में डूबते-डूबते बचाया था। झड़वासियो ने अपनी-अपनी बालदार खालो को उतार कर उसे ओढ़ाया और खुद ठण्ड से सिकुड़ते रहे। उन्होंने उसको सुखाया, आग के आगे मालिश की और उसके सारे शरीर पर गरम चर्बी लगाई और जबतक उसकी जान मे जान न आ गई उन्होने भी दम नही लिया। जोन वान डर वाल्ट झड़वासियों के साथ अच्छा बर्ताव किया करता था। इस कारण झड़वासियों ने उसके प्रति अत्यन्त हृदय-द्रावक प्रेम का परिचय

देकर अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित की। वरचेल और मोफट दोनों ने कहा है कि झड़वासी सहृदय, निःस्वार्थी, वचन-परायण और कृतज्ञ होते हैं। अपनी जाति के भीतर उन्होंने जब उन गुणों का अभ्यास किया होगा, तभी उनमें इन गुणों का इतना विकास होना सम्भव है। वे बच्चों को कितना प्यार करते हैं, इस सम्बन्ध मे इतना कह देना ही काफी होगा कि जब किसी युरोपियन को झड़वासी दासी की जरूरत होती तो वह उसके बच्चे को चुरा लाता। मां विचारी खुद ब खुद अपने बच्चे के पास खिंची चली जाती और दासी बनना भी स्वीकार कर लेती।

'होटेनटोट' लोगों का उदाहरण

होटेनटोट लोगों का भी इसी प्रकार का सामाजिक व्यवहार होता है। झड़वासियों की अपेक्षा इनका कुछ ही अधिक विकास हुआ है। लुवक ने उनको गन्दे जानवरों की उपाधि दी है। वास्तव में वे गन्दे होते भी हैं। एक बालदार खाल को वे गले में लटका लेते हैं। जबतक वह अपने आप टुकड़े-टुकड़े होकर गिर नहीं पड़ती, तबतक वे उसको नहीं फेंकते। बस, यह एक खाल ही उनकी पोशाक होती है। वे केवल थोड़ी-सी लकड़ियों को एक स्थान पर इकट्ठी कर अपनी झोंपड़ी बनाते हैं और चटाइयों से उनको छा देते हैं। इन झोंपड़ियों में चारपाई, कुर्सी-मेज आदि कुछ भी सामान नहीं होता। तथापि युरोपियन लोगों के सम्पर्क में आने से पहले वे बैल और भेड़ें रखते थे और लोहे का उपयोग करना भी सीख गये थे; फिर भी मनुष्य-समाज में उनका इस समय सबसे नीचा दर्जा है। यह सब होते हुए भी जो लोग होटेनटोटों

से वाकिफ थे, उन्होंने उनकी सामाजिकता और एक-दूसरे को सहायता पहुँचाने की प्रवृत्ति की बड़ी प्रशंसा की है। होटेनटोटों को आप कोई चीज दीजिए, वे तुरन्त उसे आपस में बाँट लेंगे। फ्युजियनों में भी यही बात देखकर डार्विन को बड़ा आश्चर्य हुआ था। होटेनटोट अकेला कभी नहीं खाता, वह कितना ही भूखा क्यों न हो, अपने पास होकर गुजरनेवाले व्यक्ति से खाना खाने का अवश्य आग्रह करेगा। कोलबेन ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया तो उसे उत्तर मिला कि यह "होटेनटोटी तरीका है।" किन्तु यह होटेनटोटी तरीक़ा ही नहीं है, बल्कि सब प्राकृतिक मनुष्यों का आम स्वभाव है। कोलबेन होटेनटोटी लोगों से भली-भांति परिचित था; उनके दुर्गुण भी उससे छिपे न थे। उसने उनका भी उल्लेख किया है। किन्तु साथ ही उसने उनकी जाति-गत नैतिकता की भी काफी प्रशंसा की है। वह लिखता है:—

"वे झूठ नहीं बोलते। युरोप की भ्रष्टता और दाम्भिकता से तो वे बिलकुल अछूते हैं। वे बड़ी शान्ति के साथ रहते हैं और अपने पड़ोसियों से क्वचित ही झगड़ते हैं। उनके हृदय में एक दूसरे के प्रति दया और सद्भावना के अतिरिक्त और कुछ नही होता।........होटेनटोट सबसे अधिक प्रसन्नता उस समय अनुभव करते हैं जब वे किसी दूसरे पर कुछ कृपा कर देते हैं; या उसको कोई चीज देते हैं। उनकी सचाई, न्याय करने में उनकी निष्पक्षता और तत्परता, उनकी पवित्रता ये ऐसी बातें हैं जिनमें वे दुनिया की सभी अथवा अधिकांश जातियों से बाजी मार ले जाते हैं।"

टेचार्ट, बेरो और मूडी ने कोलबेन की इस गवाही का पूरी तौर पर समर्थन किया है। कोलबेन ने यह ठीक ही लिखा है कि "होटेनटोटों के समान दूसरा समुदाय आज तक पृथ्वी पर प्रकट नहीं हुआ जिसने आपस में एक-दूसरे के प्रति इतनी अधिक मैत्री, उदारता और शुभ कामना का परिचय दिया हो।" प्राकृत मनुष्यों के वर्णन में कोलबेन का यह वाक्य अनेक वार उद्धृत किया गया है। जब युरोपीय लोगो का पहली वार प्रारम्भिक मनुष्यों के साथ समागम होता है तो वे आम तौर पर उनके जीवन का मखौल उड़ाते हैं। किन्तु यदि कभी कोई बुद्धिमान आदमी कुछ अधिक समय तक उनमें रहा है तो बहुधा उसने उनको पृथ्वी की अत्यन्त दयालु और सज्जन जाति ही की उपाधि प्रदान की है। बड़े-बड़े लेखकों ने ओस्तियाक, स्मोइदे, एस्किमो, दयाक, एलियोत, पापुआ आदि जातियो के लिए भी ऐसे ही शब्दों का व्यवहार किया है। तंगुसे, चुक्ची, सिओ और अन्य कई जातियों के विषय में भी मुझे याद पड़ता है, मैंने इसी प्रकार के शब्द पढ़े हैं। इन जातियों की बार-बार इतनी अधिक प्रशंसा होना ही एक ऐसी बात है जिसमें बड़ा भारी अर्थ छिपा हुआ है।

आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों का अपने दक्षिण अफ्रिका के भाइयों की अपेक्षा कोई अधिक विकास नहीं हुआ है। उनकी

आस्ट्रेलिया के मूल निवासी

झोपड़ियां उसी ढंग की होती हैं। सर्द हवा के झोंकों से बचने के लिए वे ज्यादातर उन पर मामूली पर्दे डाल देते हैं। भोजन के विषय में वे बिल्कुल चिन्ता नहीं करते; बुरी तरह से सड़ी हुई लाशों तक

को निगल जाते हैं। दुष्काल के समय मनुष्य-भक्षण भी करने लगते हैं। जब युरोपियन लोगों को पहले-पहल इनका पता लगा, उस समय इनके पास पत्थर और हड्डियों के औजारों के अलावा अन्य किसी प्रकार के औजार न थे। ये औजार भी बहुत ही भद्दी शक्ल के थे। कुछ जातियों के पास डोगियां तक न थी; न वे सौदा-सूत में ही कुछ समझती थी। किन्तु उनके रीति-रिवाजो का ध्यान-पूर्वक अध्ययन करने से पता चलता कि वे उस विस्तृत जातीय संगठन की अधीनता में रहते थे, जिसका मैंने किसी पिछले पृष्ठ में जिक्र किया है।

जिस प्रदेश मे वे रहते है, आमतौर पर वह उनके भिन्न-भिन्न खानदानों के बीच मे बँटा होता है, किन्तु शिकार खेलने और मछलियाँ पकड़ने के क्षेत्र सारी जाति के शामलाती ही होते हैं। इनसे जो पैदावार होती है, उस पर सारी जाति का अधिकार होता है। शिकार खेलने और मछली पकड़ने के औजारों के विषय में भी यही बात है। सब लोग साथ मिलकर भोजन करते हैं। बहुत से अन्य प्राकृत मनुष्यों की भांति इन्होने कुछ नियम ऐसे बना रखे है कि गोंद या घास अमुक मौसम मे ही इकट्ठा करना चाहिए। वे इन नियमो का पालन करते है। लुम्बहोल्टज नामक एक पादरी ने उत्तरी क्वीसलैण्ड की यात्रा की थी, उसने पैरिस के पुरातत्व-संघ के प्रश्नो के जो उत्तर दिये हैं, वे उनकी नैतिकता को बताने के लिए काफी हैं। वह लिखता है:—

"वे मित्रता की भावना को समझते हैं, उनमें वह काफ़ी दृढ़ होती है। वे दुर्बलों का आमतौर पर पालन-पोषण करते हैं।

बीमारों की भी भलीभाँति सेवा-शुश्रूषा की जाती है। उन्हें कभी भी छेड़ा या मारा नहीं जाता। ये मनुष्य-भक्षी जातियां हैं, किन्तु स्वयं अपनी जाति के लोगों को क्वचित ही खाते हैं। (मेरा ख़याल है कि धार्मिक सिद्धान्तों पर जब कोई कुर्बानी की जाती होगी, तभी वे खाते होंगे।) वे केवल अजनबी लोगों को ही मार खाते हैं। माता-पिता अपने बच्चों को प्यार करते हैं, उनके साथ खेलते हैं और उन्हे थपथपाते हैं। बालहत्या को सभी पसन्द करते हैं। वृद्ध पुरुषों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता है, उनकी हत्या कभी नहीं की जाती।' वे न तो किसी धर्म को मानते हैं, न किसी मूर्ति की पूजा करते हैं। वे केवल मृत्यु से भय खाते हैं। उनमें बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रचलित है। जाति के भीतर कोई झगड़ा उठ खड़ा होने पर दो आदमी लकड़ी की तलवारों और ढालों से लड़कर उसका फैसला कर लेते हैं। वे न तो किसी को गुलाम बनाकर रखते हैं न उनकी किसी प्रकार की कोई संस्कृति ही है। मिट्टी के बर्तन बनाना नहीं जानते, न कपड़े ही पहनते हैं। कभी-कभी उनकी स्त्रियाँ कमर से एक छोटा-सा कपड़ा लपेट लेती हैं। एक जाति में दो सौ स्त्री-पुरुष होते हैं। पुरुष और स्त्रियां दोनों ही अलग-अलग चार वर्गों में विभाजित रहते हैं। एक वर्ग के व्यक्तियों का विवाह दूसरे वर्ग के व्यक्तियों के साथ ही हो सकता है, अपने वर्ग अथवा खानदान में नहीं।"

पापुआ जाति आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। जी० एल० बिन्क सन् १८७१ से १८८३ तक न्यू गिनी, खासकर गीलविङ्क खाड़ी के आस-पास के क्षेत्रों में ठहरे थे। उन्होंने पापुआ लोगों का अध्ययन किया था। पैरिस के उसी पुरातत्त्व-संघ के प्रश्नों के उत्तर में जी० एल० बिंक ने जो-कुछ लिखा, उसका सार इस प्रकार है :—

पापुआ लोग

"वे समाज-प्रिय और होते हैं और खूब हँसते हैं। साहसी की अपेक्षा वे डरपोक अधिक होते हैं। विभिन्न जातियों के लोगों में आपस में गाढ़ी मित्रता होती है। किन्तु अपनी जाति के भीतर वह और भी दृढ़ होती है। उनमें एक मित्र बहुधा अपने दूसरे मित्र का कर्ज़ा चुका देता है। उसका यह ख़याल रहता है कि जिस मित्र का मैं कर्ज़ा चुकाता हूँ वह आगे चलकर मुझे नहीं तो मेरे बच्चों को रुपया बिना सूद अवश्य वापस अदा कर देगा। बीमारों और बुड्ढों की वे फ़िक्र रखते हैं, बूढ़े आदमियों की हत्या करना तो दूर रहा वे उनको कभी अलग भी नहीं करते। हाँ, कोई बुड्ढा गुलाम बहुत दिनों से बीमार हो, तो भले ही वे उससे अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं। युद्ध के क़ैदी कभी-कभी खा लिये जाते हैं। बच्चों को बहुत लाड़-प्यार किया जाता है। युद्ध के क़ैदियों में जो बुड्ढे और कमजोर होते है, वे मार डाले जाते हैं, बाक़ी गुलामों की भांति बेच दिये जाते हैं। उनका न कोई धर्म है, न मूर्ति और न उनमें किसी प्रकार की सत्ता का ही

अस्तित्व है । कुटुम्ब को सबसे वृद्ध व्यक्ति ही न्यायाधीश का काम करता है । व्यभिचार के मामलों में जुर्माना लिया जाता है जिस का एक हिस्सा जाति के कोष में जाता है । जमीन सब की सम्मिलित होती है, किन्तु फ़सल पर उसी का अधिकार होता है, जो उसको पैदा करता है । वे मिट्टी के बर्तनों का उपयोग करते हैं और सौदा-सूद भी करते हैं । रिवाज यह है कि वे व्यापारी से पहले तो बिना कुछ दिये ही माल खोजते हैं और फिर कुछ दिनों बाद उस माल के बदले में अपने प्रदेश का माल लेजाकर व्यापारी को दे आते हैं । यदि व्यापारी को जो माल चाहिए, वह उनके पास न हो तो वे व्यापारी से लिया हुआ माल वापस लौटा देते हैं । वे खून का बदला खून से लेते हैं । किंसक्र का कहना है कि कभी-कभी वे इस प्रकार के मामले नेमेसोते के राजा के पास भी ले जाते हैं, जो जुर्माना करके उनका फ़ैसला कर दिया करता है ।"

पापुओ के साथ सद्व्यहार कीजिए, वे आपके साथ भी वैसा ही व्यवहार करेंगे । मिक्लुखो-मेकले एक आदमी को साथ लेकर न्यूगिनी के पूर्वी किनारे पर उतरा और दो वर्ष तक उन लोगों में ठहरा जो मनुष्य-भक्षी कहे जाते हैं । जब वह इन लोगों को छोड़कर जाने लगा तो उसे दुःख हुए बिना न रहा । वह फिर लौट कर आया और एक वर्ष तक उन में रहा, किन्तु उसे उनसे कभी कोई शिकायत का मौक़ा न मिला । उसका यह नियम था कि कैसी ही बात क्यों न हो, वह उनसे झूठ न बोलता था और न कोई ऐसा वादा ही करता जिसे वह पूरा न कर सकता हो । ये बेचारे भोले-भोले जीव जो अन्न पैदा करना

भी नहीं जानते एक दफे की आग को अपनी झोपड़ियों में साव-धानी के साथ सदा सुलगी हुई रखते हैं, वे बिना किसी मुखिया के प्रारम्भिक साम्यवादी व्यवस्था के अनुसार रहते हैं। उनमें कोई उल्लेखनीय झगड़े नहीं होते। वे मिलकर इतना ही काम करते थे, जिस से कि दिन-भर का खाना मिल सके। इसी प्रकार अपने बच्चों का भी मिल कर ही वे पालन-पोषण करते हैं। संध्या को वे खूब साज-शृंगार करके नाचते हैं। दूसरे सभी क़िस्म के प्राकृत मनुष्यों की तरह ये नाचने के शौक़ीन होते हैं। हरेक गाँव में अविवाहितों, सामाजिक सम्मेलनों और सामूहिक विषयों पर वाद-विवाद करने के लिए एक लम्बा-सा मकान बना होता, जिसे बरला अथवा वलई कहा जाता है। इस प्रकार का व्यव-हार प्रशान्त महासागर के द्वीपो के अधिकांश निवासियों, एस्किमो, रेड इण्डियनों आदि की एक सामान्य विशेषता है। गाँव-के-गाँव मित्रतापूर्वक रहते हैं और समूह में ही एक-दूसरे के यहाँ जाते-आते हैं।

दुर्भाग्य-वश इनमें झगड़े अधिक होते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि एक स्थान में बहुत अधिक आदमी रहते हैं या उनमें तीव्र स्पर्द्धा होती हैं। व्यापारिक शताब्दी के आविष्कार भी उसके कारण नहीं हैं। इन झगड़ों के मूल में मुख्यतया अन्ध-विश्वास ही काम करता है। जैसे ही कोई आदमी बीमार पड़ता है, उसके मित्र और रिश्तेदार इकट्ठे होकर इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगते है कि उसकी बीमारी का कौन आदमी कारण हो सकता है। वे सभी सम्भव शत्रुओं का

विचार करते हैं, हरेक अपने छोटे-छोटे झगड़ों का बखान करता है और अन्त में वे असली कारण का पता लगा लेते हैं। वे यह समझकर कि दूसरे गाँव के एक दुश्मन ने यह बीमारी बुलाई है, उस गाँव पर धावा बोलने का निश्चय कर लेते हैं। मनुष्य-भक्षी पहाड़ी लोगों की तो बात दूर रही, अन्ध-विश्वासों को लेकर समुद्री किनारे के गाँवों तक में बहुधा लड़ाई-झगड़े होते रहते हैं। पहाड़ी लोगों के विषय में यह ख़याल किया जाता है कि वास्तव में वे जादूगर और दुश्मन होते हैं किन्तु नजदीकी जान-पहचान होने पर पता चलता है कि उनमें और समुद्री किनारे के लोगों में कोई अन्तर नहीं होता; वे एक-दूसरे से बिल्कुल मिलते-जुलते होते हैं।

कुछ और उदाहरण

प्रशान्त महासागर के टापुओं में रहने वाले पोलीनेशियनों के गाँवों में पाई जाने वाली एकता के विषय में अनेक आकर्षक पृष्ठ लिखे जा सकते हैं। किन्तु चूँकि उनकी गणना सभ्यता की अधिक उन्नत श्रेणी में की जा सकती है इसलिए हम अब सुदूर उत्तर के उदाहरण ही देंगे। फिर भी दक्षिणी गोलार्द्ध का जिक्र समाप्त करने के पूर्व मुझे यह कह देना चाहिए कि जो फ्युजियन इतने बदनाम रहे हैं, वे बिलकुल वैसे ही नहीं हैं। जब से उनके विषय की हमारी जानकारी बढ़ी है तब से हम पहले की अपेक्षा उन्हें अच्छे रंग में देखने लगे हैं। फ्रांस के जो थोड़े-से पादरी उनके बीच में रहते हैं, उन्हें आज तक फ्युजियनों के किसी दुष्कृत्य के विषय में शिकायत करने का अवसर नहीं मिला है। अपने १२५-१५० आदमियों के समुदाय में वे पापुओं की भांति उसी आरम्भिक साम्य-

वाद का आचरण करते हैं। वे हर वस्तु का सम्मिलित उपयोग करते हैं और अपने वृद्ध पुरुषों के प्रति बड़ा अच्छा व्यवहार करते हैं। इन जातियों में शान्ति का राज्य होता है।

एस्किमो और उनके निकटस्थ भाई-बन्ध श्लींकेट, कोलोशे, एलिऋोट आदि में हमें क़रीब-क़रीब वे बातें देखने को मिलती हैं, जो वर्फ़ीले युग के मनुष्य में रही होंगी। इतिहासकाल से पहले के प्रारम्भिक पत्थरी युग के औजारों में और इनके औजारों में मुश्किल से कोई अन्तर होगा। उनकी कुछ जातियो के लोग तो आज भी मछलियाँ पकड़ना नहीं जानते, वे केवल एक क़िस्म की बर्छी से मछली को छेद कर पानी से बाहर निकाल लेते है। वे लोहे का उपयोग जानते हैं, किन्तु यह लोहा या तो वे युरोपियन लोगों से प्राप्त करते हैं या टूटे हुए जहाजों पर से उठा लेते हैं। हालां कि वे 'सामुदायिक विवाह' की अवस्था से गुजर चुके हैं, कुटुम्ब में विवाह न करने के प्रतिबन्ध भी उनमें लग चुके हैं, फिर भी उनका सामाजिक संगठन बहुत ही प्रारम्भिक क़िस्म का है। वे कुटुम्बो में रहते हैं किन्तु बहुधा कौटुम्बिक बन्धनो को तोड़ने में उन्हे संकोच नही होता। उनमें पति-पत्नी बदलते रहते है। किन्तु कुटुम्ब जाति से पृथक् नहीं होते। इसके विपरीत हो भी कैसे सकता है ? बिना अपनी शक्तियो का दृढ संगठन किये जीवन के कठिन संघर्ष में वे पार भी कैसे पा सकते है ? वे ऐसा ही करते हैं। जहाँ जीवन के लिए कठोरतम संघर्ष होता है, जैसे उत्तर-पूर्वी ग्रीनलैण्ड में वहाँ, जातीय बन्धन सब से अधिक गहरे होते हैं। आमतौर पर 'लम्बा मकान' ही उनका रहने का स्थान

होता है। बीच-बीच में फटी-पुरानी वालदार खाल लटका कर एक मकान में कई कुटुम्ब रहते हैं। आने-जाने के लिए सामने एक सम्मिलित वरामदा होता है, कभी-कभी मकान एक क्रास (+) की शक्ल का होता है। ऐसे मकानों में सत्र: के लिए बीच में एक जगह आग रखी जाती है। एक जर्मन अन्वेषक दल ने ऐसे ही एक लम्बे मकान के पड़ोस में सर्दी का मौसम बिताया था। उसको पता चला कि सारी सर्दी बीत जाने पर भी न तो शान्ति भंग करने वाला कोई झगड़ा हुआ और न उस तंग जगह के उपयोग करने न करने के बारे में कोई विवाद खड़ा हुआ। कानूनी व्यवस्था के अलावा किसी को भला-बुरा या कठोर शब्द तक कह दिया जाय तो वह गुनाह समझा जाता है। एक ही स्थान में पास-पास रहना और एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर निकट-स्थ आधार रखना—ये दोनों बातें ऐसी हैं जो शताब्दियों पर शताब्दियाँ बीत जाने पर भी जातीय हितों के प्रति लोगों में वह गहरा आदर बनाये रख सकी हैं जो एस्किमो जाति के जीवन की एक विशेषता है। एस्किमो लोगों की बड़ी जातियों में लोकमत ही सच्ची न्याय-शिला है। लोगों की नजर में अपराधी लज्जित हो, यही उनमें आम सजा समझी जाती है।

एस्किमो लोगों के जीवन का संगठन साम्यवाद के आधार पर हुआ है। शिकार में और मछलियाँ पकड़ने में जो कुछ हाथ आता है, उस पर सारी जाति का अधिकार होता है। किन्तु कई जातियों में, खास कर पश्चिम में डेन लोगों के प्रभाव के कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति उनकी संस्थाओं में घुस पड़ी है। यह निश्चित है,

कि यदि कुछ व्यक्तियों के पास दौलत इकट्ठी हो जाय तो उससे जातीय एकता शीघ्र ही नष्ट हो जायगी। परन्तु इस बुराई से पैदा होने वाले दुष्परिणामों से बचने का उनमें एक नया ही तरीक़ा प्रचलित है। जब कोई आदमी धनवान हो जाता है तो वह अपनी जाति के लोगों को एक बड़े उत्सव में शामिल होने के लिए निमन्त्रण देता है। खूब खा-पी चुकने के बाद वह अपनी संपत्ति सब लोगो में बाँट देता है। युकोन नदी पर डेल ने एक एलिओट कुटुम्ब को इसी प्रकार अपनी सम्पत्ति को बांटते देखा। उस कुटुम्ब ने १० बन्दूकें, १० बालदार खालों की पूरी पोशाकें, २०० मालायें, अनेक कम्बल, १० भेड़ियों की बालदार खालें, २०० ऊद बिलाव और ५०० ज़िबेलिन बांटे। इसके बाद उसने अपनी उत्सव की पोशाकें भी उतार कर लोगों को दे डालीं और फटी-पुरानी पोशाक पहन कर जाति वालों से इस आशय के शब्द कहे कि यद्यपि आज हम सब से ग़रीब हो गये हैं, फ़िर भी हम सब की मैत्री सम्पादन करने में सफल हुए है। एस्किमो लोगों में इस प्रकार से धन का बँटवारा करना एक नियमित प्रथा प्रतीत होती है। वर्ष में जो-कुछ मिलता है, उसका प्रदर्शन कर चुकने के बाद एक ख़ास मौसम में यह बँटवारा किया जाता है। मेरी राय में सम्पत्ति-विभाजन की यह प्रथा बहुत प्राचीन है, व्यक्तिगत सम्पत्ति के विचार के जन्म के साथ ही साथ इस प्रथा का भी जन्म हुआ होगा। कुछ लोगों के धनवान बन जाने से जाति में जब गड़बड़ी पैदा हो जाती, तो उस समय उसमें पुनः समानता स्थापित करने के उद्देश्य से यह प्रथा क़ायम हुई होगी।

इतिहास-काल में सेमाइट, आर्य्य आदि बहुत-सी भिन्न-भिन्न जातियों में समय-समय पर जमीन का बँटवारा होता रहता था और कर्जे माफ कर दिये जाते थे। यह उसी पुराने रिवाज की बची-खुची प्रणाली होनी चाहिए। सभी प्रारम्भिक जातियों में यह रिवाज मिलता है कि जब कोई मर जाता है तो उसकी सब व्यक्तिगत सम्पत्ति या तो उसके साथ गाड़ दी जाती है या उसकी क़ब्र पर नष्ट कर दी जाती है। इस रिवाज का मूल भी वही रहा होगा। असल में, मृतक की व्यक्तिगत उपयोग की जो भी सम्पत्ति होती है, वह उसकी क़ब्र पर जला या तोड़-फोड़ दी जाती है, किन्तु जिन वस्तुओं पर जाति के साथ-साथ उसका अधिकार होता है, उनको नष्ट नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए नावें और मछली पकड़ने के औजार नष्ट नहीं किये जाते। केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति ही नष्ट की जाती है। आगे चलकर यह प्रथा धार्मिक प्रथा बन जाती है, तब वह रहस्यमय स्वरूप ग्रहण कर लेती है और जब अकेला लोकमत उसको सब लोगों से नहीं मनवा सकता तो धर्म की सहायता ली जाती है। अखीर में यह प्रथा या तो मृतक व्यक्ति की सम्पत्ति के साधारण नमूने जलाने में बदल जाती है, जैसा कि चीन में होता है, या वह सम्पत्ति क़ब्र तक ले जाकर गाड़ने की रस्म पूरी हो जाने के बाद वापस घर पर पहुँचा दी जाती है। यह रिवाज युरोपियनों में अब भी प्रचलित है। तलवारें, तमंचे और सार्वजनिक सम्मान की अन्य वस्तुएँ इसी तरह क़ब्र तक ले जाई जाती हैं।

एस्किमो लोगों की ऊँचे दर्जे की जातीय नैतिकता का साधारण साहित्य में भी बहुधा उल्लेख किया गया है। फिर भी एलियोट लोगों के रहन-सहन सम्बन्धी निम्न-लिखित विवरण से प्राकृत मनुष्यों की नैतिकता का सभी दृष्टियों से भली-भांति पता चल सकेगा। यह विवरण रूसी पादरी वेनियमिनोफ ने दस वर्ष एलियोट लोगो में रहने के पश्चात् लिखा है। अधिकतर उसी के शब्दों में ही मैं उस विवरण का सार यहाँ देता हूँ:—

एलियोट लोगों में—

सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास सहन करना उनकी मुख्य विशेषता है। यह एक दम आश्चर्यजनक विशेषता है। वे हर रोज सुबह बर्फ जमे हुए समुद्र में नहाते हैं और बर्फीली हवा में किनारे पर नंगे खड़े रहते हैं। इतना ही नहीं, अपर्याप्त भोजन पाकर भी कड़ा काम करने में वे जिस सहन-शक्ति का परिचय देते हैं, उसकी हम सहज ही कल्पना नहीं कर सकते। दीर्घकालिक खाद्य-सामग्री के अभाव में एलियोट अपने बच्चों की पहले फिक्र करता है। जो-कुछ उसके पास होता है, वह उन्हें दे देता है और स्वयं उपवास करता है। चोरी करना उनके स्वभाव में दाखिल नहीं है। यह बात तो प्रथम रूसी प्रवासियों ने भी कही थी। ऐसा कुछ नहीं है कि वे कभी चोरी करते ही नहीं, हरएक एलियोट यह स्वीकार करेगा कि किसी न किसी मौके पर उसने कुछ न कुछ अवश्य चुराया है। परन्तु यह चोरी बहुत साधारण वस्तुओं की होती है। इन सबको बच्चों का खिलवाड़ ही कह सकते हैं। बच्चों के प्रति उनका अगाध प्रेम होता है, किन्तु वे

उनको शब्दों में अथवा लाड़-चाव के रूप में कभी प्रदर्शित नहीं करते। एलियोट मुश्किल से कोई वचन देता है, परन्तु एक बार वचन दे चुकने के बाद वह उसका अवश्य पालन करता है, चाहे फिर उसे कितनी ही कठिनाई क्यों न भुगतनी पड़े। एक एलियोट ने वेनियमिनोफ को एक सूखी मछली दी, किन्तु जाने की जल्दी में वह मछली को किनारे पर ही भूल गया। एलियोट मछली को घर ले गया। दूसरी बार जनवरी में वह मछली उस पादरी के पास भेजी जा सकती थी। इधर नवम्बर और दिसम्बर मे एलियोट लोगों के डेरों मे खाद्य-सामग्री का बड़ा अभाव हो गया, वे लोग भूखों मरते रहे किन्तु उन्होंने मछली को नहीं छुआ। जनवरी आते ही मछली उसके निश्चित स्थान पर भेज दी गई।

उनकी नीति की नियमावली भिन्न-भिन्न प्रकार की और कठोर होती है। अनिवार्य मृत्यु मे भय खाना, शत्रु से क्षमा-याचना करना, किसी शत्रु को मारे विना मर जाना, चोरी के अपराध में दण्ड पाना, बन्दरगाह मे किसी नाव को उलट देना; तूफ़ानी मौसम में समुद्री यात्रा करने से डरना, खाद्य-सामग्री के अभाव में बीमार पड़ जाना, सामूहिक लम्बी यात्रा में सबसे आगे रहना और उपार्जित सामान के बँटवारे के वक्त लालची प्रवृत्ति का प्रदर्शन करना एलियोटों में निन्दनीय समझा जाता है। लालची आदमी को लज्जित करने के लिए हरेक आदमी अपना-अपना हिस्सा उसे दे डालता है। किसी सार्वजनिक रहस्य को अपनी पत्नी पर प्रकट कर देना, अपने साथ शिकार खेलनेवाले को शिकार का अच्छा हिस्सा न देना, अपने खुद के कामों

में, खास कर आविष्कृत कामों के लिए, शेखी बघारना भी उनमें बुरा समझा जाता है। भीख माँगना, दूसरे लोगों की उपस्थिति में अपनी पत्नी का लाड़-प्यार करना और उसके साथ नाचना तथा खुद सौदा-सूद करना भी उनमें अच्छा नहीं समझा जाता। तीसरा आदमी चीजों की क़ीमत स्थिर करता है, इसलिए बिक्री का काम भी उसकी मार्फ़त ही होता है। यदि स्त्री सीना-पिरोना, नाचना और घर-गृहस्थी के दूसरे काम न जानती हो और किसी अजनबी आदमी की मौजूदगी में अपने पति तथा बच्चों के साथ लाड़-प्यार करना तो अलग पति के साथ बोल भी लेती हो तो यह उसके लिए शर्म की बात होती है।

यह है एलिऑट लोगों का नीतिशास्त्र। एलिऑट लोगों के विषय में जो क़िस्से-कहानियाँ प्रचलित हैं, उनसे इस नीति-शास्त्र पर और भी अधिक प्रकाश पड़ सकता है। वेनियमिनोफ ने सन् १८४० में उपर्युक्त विवरण लिखा था। सन् १८०० से लगाकर उस समय तक चालीस वर्षों में ६० हजार की जन-संख्या मे केवल एक ख़ून हुआ, दूसरे किसी आम नियम का तो एक दफ़ा भी भंग नहीं हुआ। इस बात पर हमें आश्चर्य न होगा जब कि हम यह जानते हैं कि एलिऑट लोग झिड़कना, घृणा की दृष्टि से देखना, यहाँतक कि भद्दे शब्दों का प्रयोग करना भी बिलकुल नहीं जानते। उनके लड़के भी न तो आपस में लड़ते हैं, न एक-दूसरे को गाली देते हैं। अधिक से अधिक यदि वे कहते हैं तो यह कि 'तेरी मां सीना नहीं जानती' या 'तेरा बाप काना है।'

प्राकृत मनुष्यों के जीवन की बहुत-सी ऐसी बातें अब भी रह जाती हैं जिनको युरोपियन लोग नहीं समझ पाये हैं। वे जिस उच्च श्रेणी की जातीय एकता और सद्भावनाओं से प्रेरित होकर एक-दूसरे के साथ व्यवहार करते हैं उनको सिद्ध करने के लिए चाहे जितने विश्वसनीय प्रमाण दिये जा सकते हैं। किन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि यही प्राकृत मनुष्य बाल-हत्या करते है, कभी-कभी अपने बूढ़े आदमियों का त्याग कर देते हैं। आँख मूँदकर खून का बदला खून से लेते हैं। इसलिए हमको यह समझा देना है कि दो भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें प्राकृत मनुष्यों में एक साथ कैसे विद्यमान हैं। युरोपीय लोगों को तो ये बातें एक-दम एक-दूसरे के विपरीत प्रतीत होंगी। मैं अभी-अभी कह चुका हूँ कि एलिओट पिता किस प्रकार कई दिनों तक खुद भूखा रह कर अपने बच्चों को सब कुछ खिला देता है और किस प्रकार एक झड़वासी माता अपने बच्चे के पीछे दासी बन जाती है। प्राकृत मनुष्यों और उनके बच्चों के आपसी सच्चे कोमल सम्बन्धों के उदाहरणों से मैं पृष्ठ के पृष्ठ रँग दे सकता हूँ। संयोगवश यात्री लोग भी बराबर ऐसी घटनाओं का उल्लेख करते रहते हैं। कहीं आपको किसी माता के अन्ध प्रेम का वर्णन पढ़ने को मिलेगा तो कहीं आप यह पढ़ेंगे कि एक पिता सांप के काटे हुए अपने बच्चे को कंधे पर बिठाकर जंगलों में अधाधुन्ध भागा चला जा रहा है। कोई पादरी आपको यह सुनावेगा कि एक बच्चा था जिसे उसके माता-पिता ने जन्म के समय बलिदान नहीं होने दिया था। एक दिन जब वह बच्चा मर गया है, तो उस समय उसके माता-पिता

को कितनी भारी निराशा हुई है। आपको यह भी पता लगेगा कि प्राकृत मनुष्यों की स्त्रियाँ अपने बच्चों को चार वर्ष की उम्र होने तक दूध पिलाती हैं। नवीन हेबराइडो में जब कोई बहुत ही प्यारा बच्चा मर जाता है तो उसकी माता या चाची इस विचार से आत्म-हत्या कर लेती है कि वह दूसरी दुनिया में उस बच्चे की देख-भाल कर सकेगी।

बाल-हत्या का कारण

इस प्रकार के बीसियों उदाहरण मिलते हैं। इसलिए जब हम देखते हैं कि जो माता-पिता अपने बच्चों के साथ प्रेम करते हैं, वही उनकी हत्या भी करते हैं तो हमें मानना पड़ता है कि केवल आवश्यकता से विवश होने पर जातीय दायित्व पूरा करने और बड़ी उमर के बच्चों का पालन-पोषण करने की दृष्टि से ही उनमें इस प्रथा की शुरुआत हुई। कुछ अंग्रेज लेखकों के कथनानुसार प्राकृत मनुष्य आमतौर पर बेहिसाब बाल-बच्चे पैदा नहीं करते। इसके विपरीत वे उत्पत्ति-संख्या कम करने के लिए सभी क़िस्म के उपाय काम में लेते । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने प्रतिबन्धों का एक सिलसिला का सिलसिला निश्चित कर रखा । इन प्रतिबन्धों का कड़ाई के साथ पालन किया जाता हैं। युरोपीय लोगों को यह प्रतिबन्ध व्यर्थ से प्रतीत होंगे। यह सब कुछ होते हुए भी प्रारम्भिक मनुष्य अपने सभी बच्चों का पालन-पोषण नहीं कर सकते। किन्तु यह देखा गया है कि ज्योंही वे अपनी नियमित आजीविका बढ़ाने में सफल होते हैं त्योंही वे बालकों की हत्या करना भी छोड़ने लगते हैं। सब दृष्टियों से देखा जाय तो

पता लगेगा कि बाल-हत्या करने के जातीय दायित्व को वे खेद-पूर्वक पूरा करते हैं। । वे जब अपने-आपको समर्थ पाते हैं, तो अपने नवजात बच्चों को बचाने के लिए भांति-भांति के समझौतों का आश्रय लेते हैं । मेरे मित्र एली रेकलस ने बड़ी खूबी के साथ बताया है कि वे कुछ अच्छे और कुछ बुरे दिन नियत कर लेते हैं और अच्छे दिनो में पैदा हुए बच्चो को जान से नहीं मारते । वे इस बात की कोशिश करते हैं कि मारने का समय कुछ घण्टों के लिए स्थगित कर दिया जाय और फिर कहते हैं कि यदि बच्चा एक दिन जीवित रह गया है तो क्यों न उसको अपनी स्वाभाविक मौत आने तक जीवित रहने दिया जाय । अगर वे जंगल में से छोटे बच्चों के रोने की आवाज सुन लेते हैं तो समझ लेते कि यह रोना जाति के लिए दुर्भाग्य का सूचक है । चूँकि उन लोगों में ऐसी संस्थायें नहीं होतीं जिनमें वे पूरे समय के लिए या दिन-दिन के लिए बच्चो को रख कर उनसे अपना पिण्ड छुड़ा सकें, उनमें से हरेक बाल-हत्या जैसे निर्दय कार्य के आगे हिचकिचाता है । वे बलपूर्वक बच्चे की जान लेने की अपेक्षा उसे जंगल में छोड़ देना अधिक पसन्द करते हैं। निर्दयता नहीं, अज्ञान के कारण उनमें बालकों की हत्या करने की प्रथा अब तक जारी है । उन लोगों को नीतिमान बनाने के लिए उपदेश देना छोड़ कर पादरी लोग वेनियमिनोफ का अनुकरण करें तो कितना अच्छा हो । वेनियमिनोफ जब तक बुड्ढा न हो गया तब तक प्रति वर्ष एक भद्दी-सी नाव में बैठ कर ओखोत्सक सागर के पार जाता या कुत्तों पर सवार होकर चुक्चिस लोगों में यात्रा करता और

उनमें रोटी और मछली पकड़ने के औजार बाँटता। उसने ऐसा करके वास्तव में बाल-हत्या को रोक दिया।

पितृ हत्या का कारण

जिस बात को सरसरी तौर से देखने वाले लोग पितृ-हत्या कहते हैं, उसके सम्बन्ध में भी यही सही है। हम अभी-अभी देख चुके हैं कि उन लोगों में बुड्ढे आदमियों को त्याग देने का रिवाज इतना व्यापक नहीं है जितना कि कुछ लेखकों ने बताया है। उसको बहुत ही अतिरंजित स्वरूप दे दिया गया है, लेकिन मिलता वह करीब-करीब सभी प्राकृत (जंगली) मनुष्यों में है। जो बात बच्चों को जंगलों में निराश्रय छोड़ देने के मूल में है, वही इसके मूल में भी है। कल्पना कीजिए कि एक जंगली आदमी है जो अपने आपको जाति के लिए भार-स्वरूप समझता है। बच्चों के मुँह का कौर छीन-कर हर रोज सुबह उसको खिलाना पड़ता है, उस हालत में जब कि ये छोटे-छोटे बच्चे बड़े-बुड्ढों की भाँति अपनी इच्छाओं का पूरी तरह दमन नहीं कर सकते और भूखे होने पर चिल्लाते हैं। जवान लोगों को उसे अपने कन्धे पर बिठाकर हर रोज पथरीले किनारे या घने जंगल के उस पार ले जाना पड़ता है कारण कि उनके पास न तो अशक्त लोगों को इधर-उधर ले जाने के लिए गाड़ियां ही होती है न उनको खींचने वाले मजदूर ही। ऐसी अवस्था में वह जंगली आदमी क्या करेगा? जैसा कि रूस का बुड्ढा किसान अब भी कहता है, वैसा ही वह कहने लगता है, "मैं दूसरे लोगों की जिंदगी बसर करता हूँ, अब मुझे मर जाना चाहिए।" वह हट जाता है। इस प्रकार की स्थिति हो जाने पर

जैसा एक सिपाही आचरण करता है, वैसा ही वह भी करता है। जब किसी सैनिक टुकड़ी की मुक्ति और आगे बढ़ने पर निर्भर हो, उस समय उस टुकड़ी के एक सिपाही में आगे बढ़ने की शक्ति न रहे और वह यह जानता है कि यदि उसे पीछे छोड़ दिया गया तो वह अवश्य मर जायगा तो वह सिपाही अपने किसी एक घनि" मित्र से प्रार्थना करता है कि पड़ाव छोड़ कर जाने से पहले वह उसकी एक अन्तिम सेवा करता जाय । इस पर मित्र काँपते हाथों से अपनी बन्दूक-द्वारा उस मरणासन्न सिपाही का खातमा कर देता है। प्राकृत मनुष्य भी ऐसा ही करते हैं। बुड्ढा आदमी स्वयं मृत्यु-याचना करता है। वह इस अन्तिम जातीय कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए आग्रह करता है और उसके लिए जाति की स्वीकृति प्राप्त कर लेता है। वह अपने हाथों से अपनी क़ब्र खोदता है और अन्तिम विदाई के भोज में शामिल होने के लिए जाति के लोगों को निमन्त्रण देता है। उसके पिता ने ऐसा ही किया था, अब वह अपनी बारी समझता है। वह बड़े प्रेम के साथ अपनी जाति के लोगों से विदा होता है। प्राकृत मनुष्य को अपनी जाति के प्रति जो कर्त्तव्य पूरे करने पड़ते हैं उनमें मृत्यु को भी वह अपना एक कर्त्तव्य समझता है। अगर आप उसे मौत के मुँह से बचाना चाहें, तो वह न केवल बचने से इन्कार ही कर देता है, बल्कि आपके प्रयत्नो को विफल करने की भी चेष्टा करता है। एक बार एक स्त्री का उसके पति की क़ब्र पर बलिदान होने वाला था। कुछ पादरी उस स्त्री को बचा कर एक टापू में ले गये, किन्तु रात को मौका पाकर वह

स्त्री भागी, एक चौड़ी समुद्री की खाड़ी को तर कर पार किया और क़ब्र पर मरने के लिए अपनी जाति वालों के साथ पुनः शामिल हो गई। उन लोगो में इस प्रकार मौत को बुलाना एक धार्मिक रिवाज बन गया है। किन्तु लड़ाई को छोड़ कर आम तौर पर ये लोग किसी का प्राणान्त करने में बड़ा आगा-पीछा करते हैं, उनमें से कोई भी आदमी नर-रक्त बहाने का अपने पर जिम्मा नहीं लेता, उससे बचने के लिए वे तरह-तरह की तरकीबों से काम लेते हैं। इन तरकीबों का बड़े ग़लत रूप में बयान किया गया है। बहुत करके वे बुड्ढे आदमी को उसकी साधारण खुराक से कुछ अधिक हिस्सा देकर जंगल में छोड़ देते हैं। उत्तरी ध्रुव के अन्वेषक-दलों ने भी अपने अशक्त साथियों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया है। ये दल जब देख लेते हैं कि अब अशक्त साथियों को लेकर नहीं चला जा सकता तो वे उन्हें यह कह कर छोड़ देते हैं कि 'कुछ दिन और जीवित रहो; सम्भव है कोई आकस्मिक मदद मिल जाय।'

पश्चिम युरोपीय वैज्ञानिक प्राकृत मनुष्यों में जब इस प्रकार की बातें देखते हैं तो वे उनको बिल्कुल ही नही समझ सकते। वे नहीं जानते कि इन बातों में और प्राकृत मनुष्यो की उच्च श्रेणी की जातीय नैतिकता में किस तरह सामञ्जस्य किया जा सकता है। एक ओर तो उनकी ऊँची श्रेणी की जातीय नैतिकता है और दूसरी ओर साथ ही साथ अपने माता-पिताओं को त्याग देने तथा बाल हत्या की प्रथा है। इन दो भिन्न-भिन्न क़िस्म की बातो के साथ-साथ होने का रहस्य

गलतफहमी

समझने की चेष्टा करने के बजाय वे नितान्त प्रामाणिक अन्वेषकों के सही मत के विषय में शङ्का करने लगते हैं। किन्तु यही युरोपियन यदि किसी प्राकृत मनुष्य से जाकर कहे कि युरोप में ऐसे लोग रहते हैं जो बहुत ही मिलनसार होते हैं; अपने बच्चों से प्रेम करते हैं और नाटक में किसी दुर्घटना को देखकर भी जिनका दिल हिल जाता है, उन्हीं लोगो के घरों के पास की झोंपड़ियो में बच्चे भूख से तड़प-तड़प कर मर जाते हैं तो क्या वह प्राकृत मनुष्य उनकी यह बात समझ सकेगा ? कदापि नहीं। मुझे याद है कि मैंने अपने कुछ तुंगस मित्रों को वैयक्तिक सभ्यता का तात्पर्य समझाने की कितनी चेष्टा की, किन्तु वे न समझ सके। वे उसके विषय में अजीब-अजीब तर्क करने लगे। बात यह है कि एक ओर तो वह प्राकृत मनुष्य है जो जातीय एकता के वायु-मण्डल में पाला-पोसा गया है, हर भली-बुरी बात में उस जातीय एकता का परिचय देता है और दूसरी ओर वह युरोपियन है जो उस जातीय एकता के विचार से सर्वथा अपरिचित है। ऐसी दशा में जिस प्रकार वह प्राकृत मनुष्य उस 'नीतिमान' युरोपियन का व्यवहार नहीं समझ सकता उसी प्रकार आम युरोपियन भी उस प्राकृत मनुष्य के व्यवहार को नहीं समझ सकता। किन्तु यदि हमारे वैज्ञानिक किसी अध-भूखी जाति के लोगों के बीच में रहे होते, जिनके पास एक आदमी के लिए कुछ दिन का खाना भी नहीं होता, तो सम्भव है वे उनके बाल-हत्या, पितृ-त्याग आदि कामों के कारण समझ सके होते। इसी प्रकार यदि कोई प्राकृत मनुष्य हम लोगों के साथ रहे, उसको

हमारे-जैसी शिक्षा मिले तो सम्भव है वह पड़ोसियों के प्रति हमारी उपेक्षा को और उत्पत्ति को रोकने के लिए क़ायम होने वाले शाही कमीशनो की बात को समझ सके। रूसी किसानों में यह कहावत प्रचलित है कि 'पत्थर के मकान में रहने से दिल भी पत्थर को भाँति कड़ा हो जाता है।' किन्तु बिना पत्थर के मकान मे पहले रहे उसे क्यों कर अनुभव हो कि पत्थर का दिल इस तरह हुआ करता है।

नर-मांस भक्षण करने के विषय में भी इसी प्रकार की बात कही जा सकती है। पेरिस के पुरातत्त्व-संघ में हाल ही में इस विषय पर वाद-विवाद हुआ। इस वाद-विवाद में जो बातें मालूम हुईं और प्राकृत मनुष्यों-सम्बन्धी साहित्य में सर्वत्र जो बहुत सी इस विषय की प्रासंगक बातें फैली हुई मिलती हैं, उनके आधार पर हमें मानना पड़ेगा कि केवल आवश्यकता से विवश होने पर ही उन लोगों में इस प्रथा का जन्म हुआ। अन्ध-विश्वास और धर्म के नाम पर इस प्रथा का और भी विकास हुआ। उसका इतने अधिक परिमाण में प्रचार हुआ जितना कि फ़ौजी और मैक्सिको के इतिहास में हमें देखने को मिलता है। यह मानी हुई बात है कि आज दिन तक बहुत से प्राकृत मनुष्य ऐसे हैं जो विवश होकर अत्यन्त सड़ी हुई लाशों को भी खा जाते हैं उनमें से कुछ लोगों ने तो खाद्य-सामग्री के नितान्त अभाव के समय जमीन में गड़ी हुई मनुष्य की लाशों तक को निकाल-निकाल कर खाया है। इतना ही नहीं, भयंकर बीमारी के ज़माने में भी उन्होंने ऐसा किया है। ये जाँच की हुई बातें हैं। अब उन परिस्थितियों पर

विचार कीजिए जिनका बर्फीले युग में मनुष्य को सामना करना पड़ा। उस समय की आब-हवा नम और सर्द थी। खाने के लिए थोड़ी-सी वनस्पति को छोड़ कर कुछ नहीं मिलता था। नीलिका रोग* का भयंकर प्रकोप होता रहता था। आज भी इस रोग से अधपेट रहने वाले पृथ्वी के असली वाशिन्दों का भीषण संहार होता रहता है। अपनी खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए मांस खाने और ताजा रक्त पीने के अलावा उस समय के मनुष्य को अन्य कोई उपाय ज्ञात न थे। जब हम इन परिस्थितियों पर विचार करते हैं तो हमें यह मानना होगा कि जो मनुष्य पहले अन्नाहारी था, वह बर्फील युग में मांसाहारी बन गया। उस समय हिरनों की बहुतायत थी, किन्तु बहुधा ये हिरन उत्तरी ध्रुव के प्रदेशों में प्रवास कर जाते हैं और कभी-कभी अपने मूल निवासस्थान को कई वर्षों के लिए बिल्कुल त्याग देते हैं। जब ऐसा होता था तो मनुष्य के अन्तिम साधन भी लुप्त हो जाते थे। इस प्रकार के कठिन प्रसंगों पर युरोपीय लोगों तक ने मनुष्य का मांस खाया है। प्राकृत मनुष्य तो खाते ही थे। वर्तमान समय में भी वे कभी-कभी अपनी जाति के मृत लोगों की लाशें खा लेते हैं, तो उस समय वे निश्चय ही उन लोगों की लाशें खाते रहे होंगे, जिनके पास मरने के सिवाय और कोई चारा नहीं रह

*इस रोग की यह निशानी है कि शरीर पर चकते ही चकते पड़ जाते हैं और जीवन-शक्ति क्षीण हो जाती है। यह उन लोगों को हुआ करता है जिन्हें ताज़ा खुराक और काफी मात्रा में शाक भाजी नहीं मिलती। नीबू के रस से इस रोग के रोगी को लाभ होता है।

जाता था। यही कारण है कि कुछ प्राकृत जातियाँ मनुष्य-मांस-भक्षण की प्रथा को ऐसा समझती हैं जैसे उनकी दैवी उत्पत्ति हुई हो--आकाश-वाणी द्वारा उसकी अनुमति दी गई हो। किन्तु बाद में इस बात का कोई विचार नहीं रखा जाने लगा कि वास्तव में मनुष्य-मांस-भक्षण की आवश्यकता है या नहीं; उस प्रथा का असली रूप लुप्त हो गया और वह एक अन्ध-विश्वास के रूप में क़ायम रही। शत्रुओं को इसलिए खाया जाने लगा कि खाने वालों को उनका साहस प्राप्त हो जाय। इसके कुछ और बाद के युग में इसी उद्देश्य से शत्रु की आँख या उसका हृदय खाया जाता था। उन्हीं लोगों की कुछ अन्य जातियाँ ऐसी थीं जिनमें पण्डे-पुजारियों के कई सम्प्रदाय बन चुके थे, और पौराणिकता का विकास हो चुका था। इन जातियों में मानवरक्त-पिपासु देवता गढ़े गये और पण्डे-पुजारी उन देवताओं को तृप्त करने के लिए मानवी बलिदानों की माँग करने लगे। मनुष्यमांस-भक्षण की प्रथा ने अपने इस धार्मिक युग में अत्यन्त घृणित रूप धारण कर लिया था। इस विषय में मेक्सिको का उदाहरण प्रसिद्ध है। फिजी में हमें पुजारियों की एक शक्तिशाली जाति, जटिल पौराणिकता और एक-तंत्री सत्ता का पूर्ण विकास देखने को मिलता है। पुराने ज़माने में वहाँ का राजा अपने प्रजाजनों मे से किसी को खा सकता था। आवश्यकता-पूर्ति के लिए मनुष्य-मांस-भक्षण प्रथा का जन्म हुआ-किन्तु आगे चलकर वह धार्मिक संस्था बन गई। जिन जातियों में निश्चय ही पुराने ज़माने में यह प्रथा प्रचलित थी उन जातियो में से उसका लोप हो जाने के बहुत अर्से बाद तक वह

प्रथा अपने धार्मिक रूप में क़ायम रही है, हां उस दर्जे तक उसका कभी विकास नहीं हुआ जब किसी शासन-संस्था द्वारा ईश्वरीय संकेत के नाम पर उसका पालन कराया गया हो। बाल-हत्या और माता-पिताओं के त्याग देने के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। कहीं-कही इन दोनों प्रथाओं को भी पुराने ज़माने के चिन्ह-स्वरूप कायम रक्खा गया है।

एक रिवाज और है जिसको लेकर प्राकृत मनुष्यों के सम्बन्ध में बहुत ही भ्रमात्मक परिणाम निकाले जाते हैं। इस रिवाज का उल्लेख करके मैं अपना कथन समाप्त कर दूंगा।

बदले की भयकर प्रथा

वह रिवाज यह है कि खून का बदला अवश्य लिया जाना चाहिए। सभी प्राकृत मनुष्यों का यह ख़्याल है कि ख़ून का बदला ख़ून करके ही चुकाया जा सकता है। यदि किसी की हत्या हुई है तो हत्यारे की भी अवश्य हत्या होनी चाहिए। इसी तरह यदि कोई जख़मी हुआ है तो आक्रमणकारी का रक्त भी अवश्य बहाया जाना चाहिए। इस नियम में कोई अपवाद नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि यदि कोई शिकारी किसी जानवर का शिकार करके गाँव को लौटता है तो उसका भी रक्त बहाया जाता है। न्याय के सम्बन्ध में प्राकृत मनुष्यों का यही विचार था। पश्चिमी युरोप में अब तक भी हत्या के सम्बन्ध में ऐसे ही विचार प्रचलित हैं। अब यदि वादी और प्रतिवादी दोनों एक ही जाति के हुए तो उस जाति के लोग और प्रतिवादी मिलकर उस

मामले का फैसला कर लेते हैं* किन्तु यदि प्रतिवादी दूसरी जाति का हो और वह जाति अमुक-अमुक कारण से मुआविजा देने से इन्कार कर दे तो वादी पक्ष की जाति खुद अपने आप बदला लेने का निश्चय करती है। प्रारम्भिक मनुष्य व्यक्तिगत मामले को भी जातीय मामले समझते हैं। उनका ख़याल है कि जाति की अनुमति के बिना कोई कुछ कर ही नहीं सकता। यही कारण है कि वे एक व्यक्ति के काम के लिए सारी जाति को जिम्मेदार ठहराते हैं। इसके अनुसार प्रतिवादी के रिश्तेदारों या उसकी जाति के किसी भी आदमी से उचित बदला लिया जा सकताहै। फलस्वरूप बहुधा अपराध की अपेक्षा बदले की गुरुता कहीं अधिक बढ़ जाती है। थोड़ी चोटें पहुँचाने की नीयत होते हुए भी इसमें संयोग से प्रतिवाद मारे जाने या अधिक चोटें पहुँच आने की संभावना रहती है। कहीं वास्तव में वैसा हो जाय तो एक नये झगड़े का कारण और उठ खड़ा होता है। इन सब कारणों से प्रारम्भिक मनुष्यों के क़ानून-रचयिता सावधानी के साथ इस बात पर आग्रह करते थे कि आंख का बदला आंख से, दांत का बदला दांत से और खून का बदला ख़ून से ही लिया जाय।

---

*यह एक उल्लेखनीय बात है कि मृत्यु-दण्ड के मौके पर कोई अपराधी की हत्या करने के लिए तैयार नहीं होता। प्रत्येक बहुत आहिस्ते से पत्थर या कुल्हाड़ी मारता है जिससे उसके हाथ से कहीं मृत्यु न हो जाय। बाद के युग में पुरोहित 'पवित्र' छुरा भोंक कर जान लेते थे, उसके बाद प्राण लेने का काम राजा के जिम्मे आया। बाद में फांसी देने वाले एक अलग आदमी की नियुक्ति की प्रथा चली।

फिर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि अधिकांश प्राकृत मनुष्यों में इस प्रकार के झगड़े बहुत कम होते हैं। हां, उनकी कुछ जातियाँ अवश्य ऐसी है जिनमें इन झगड़ों का असाधारण परिमाण में होना सम्भव है। खास कर उन पहाड़ी लोगों में ये झगड़े अधिक होते हैं, जिनको विदेशी आक्रमण-कारियों ने मैदानो से पहाड़ी स्थानों की ओर भगा दिया था। काकेसिया के पहाड़ी लोगों, विशेषतः बोर्नियो के डायकों की हम उन्हीं में गिनती कर सकते हैं। डायक लोगो में ये झगड़े इस हद तक पहुँच गये थे कि बिना किसी शत्रु का सिर प्राप्त किये कोई नौजवान न तो विवाह कर सकता था, न बालिग ही घोषित किया जा सकता था। इस भयंकर प्रथा का एक आधुनिक अंग्रेजी ग्रन्थ में विशद वर्णन किया गया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह-वर्णन बहुत अतिरंजित है। इसके अलावा जब हम देखते हैं कि जिस व्यक्ति को हम सिर का शिकार खेलने वाला समझते है वह व्यक्तिगत वासनाओ से प्रेरित नहीं होता,तो डायक लोगों की सिर उतार लेने की प्रथा का बिल्कुल दूसरा ही रूप हो जाता है। 'खून के बदले खून करना' स्पष्टतया ग़लत सिद्धान्त है। किन्तु जिस प्रकार उस सिद्धान्त के अनुसार एक युरोपियन न्यायाधीश हत्या के लिए सजा प्राप्त व्यक्ति को फांसी लगाने वाले जल्लाद के सुपुर्द कर देता है, ठीक उसी प्रकार वह डायक भी जिस बात को जाति के प्रति अपना नौतिक दायित्व समझता है,उसके अनुसार आचरण करता है। यदि कही सहानुभूति-वश डायक और न्यायाधीश के दिल में हत्यारे को बचाने के लिए दया का संचार हो जाय, तो उसके लिए दोनों को ही समान

रूप से खेद होगा। यही कारण है कि डायकों से परिचित सभी लोगों ने उनको बहुत सहानुभूति-प्रिय जाति बताया है। अपनी न्याय-बुद्धि से प्रेरित होकर वे जो हत्यायें करते हैं, उनको तो इसमें अपवाद समझना ही पड़ेगा। वही कार्लबोक जिसने कि उनके सिर उतार लेने की प्रथा का ऐसा भयंकर चित्र खीचा है उनके सम्बन्ध में लिखता है:—

"जहां तक नैतिकता का सवाल है, डायक लोगों को मुझे सभ्यता की श्रेणी में ऊंचा स्थान देना पड़ेगा।......वे यह जानते भी नहीं कि चोरी और डकैती किसे कहते हैं। वे बड़े सच्चे होते हैं।........यह हो सकता है कि मुझे उनसे सदा पूर्णांश में ही सत्य मालूम न हुआ हो, किन्तु कम से कम मुझे उनसे जो कुछ मालूम होता, वह सत्य के अलावा और कुछ न होता था। मैं चाहता हूँ कि मलाया के लोगों के बारे में भी मैं यही बात कह सकूँ।"

बोक के इस कथन का श्रीमती इदा फ़ेफर ने पूर्णतया समर्थन किया है। वह लखती हैं—"मैं यह हृदय से स्वीकार करती हूँ कि मुझे उनके बीच में और अधिक काल तक यात्रा करने में बड़ी प्रसन्नता होगी। मैंने उन को आम तौर पर ईमानदार, भला और आत्म-सन्तोषी पाया।......मैं ऐसी किसी जाति को नहीं जानती, जो इन गुणों में डायक लोगों से बढ़ी-चढ़ी हो।" इन लोगों के विषय में लिखते समय स्कोलटज्जे ने करीब-करीब इसी प्रकार की भाषा का व्यवहार किया है। साधारणता भी एक डायक के एक ही पत्नी होती है। वह उसके साथ अच्छा व्यवहार करता है।

डायक लोग बड़े सामाजिक प्राणी होते हैं। हर रोज सुबह उनकी सारी की सारी जाति बड़े-बड़े दलों में विभक्त होकर मछलियां पकड़ने, शिकार खेलने अथवा बाग़-बग़ीचे लगाने के लिए जाती है। उनके गाँवों में बड़ी-बड़ी झोपड़ियां होती हैं। हरेक झोंपड़ी में कोई दस-बारह कुटुम्ब रहते है। कभी-कभी एक ही झोंपड़ी में रहने वालो की संख्या कई सौ तक पहुँच जाती है। किन्तु सब शक्तिपूर्वक एक साथ रहते हैं। वे अपनी पत्नियों के प्रति बड़ा आदर प्रकट करते हैं और बच्चों को बड़े लाड़-चाव से रखते हैं। जब कोई बच्चा बीमार पड़ जाता है तो स्त्रियां बारी-बारी से उसकी सेवा-शुश्रूषा करती हैं। सामान्यतया वे खाने-पीने में बहुत संयम-शील होते हैं। यह है डायक लोगों का सच्चा दैनिक जीवन-क्रम !

यदि हम प्राकृत मनुष्यों के जीवन-क्रम के और अधिक उदाहरण देने लगें तो यह व्यर्थ ही एक बात को बार-बार दुहराना मात्र होगा। जहां-कहीं हम चले जायें हमें वही सामाजिक रहन-सहन के ढंग और वही एकता की भावना देखने को मिलती है। हम भूतकालिक युगों के अन्धकार में प्रवेश करने की चेष्टा करते हैं तब भी हमें पारस्परिक सहयोग के लिए निर्मित वही जातीय जीवन और वही मानवी संस्थायें दिखाई देती हैं, फिर चाहे उनका रूप कितना ही आरम्भिक क्यों न हो। इसलिए जब डार्विन ने देखा कि मनुष्य के आगे के विकास के लिए उसके सामाजिक गुण मुख्य साधन के रूप में काम करते हैं; उस समय वह बिल्कुल सही

सामाजिकता ही विकास का कारण है।

गुण है, वह यह कि वह अपने अस्तित्व को अपनी जाति के अस्तित्व के साथ मिला देता है। कठोर जीवन-संघर्ष की आवश्यकताओं ने ही उसके इस गुण को व्यापक बनाया है और क़ायम रखा है। उसके बिना मानव-जाति उस स्थान पर कभी न पहुँची होती, जिस स्थान पर कि वह आज विद्यमान है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रारम्भिक मनुष्य अपने जीवन को जाति के जीवन के साथ इतना मिला लेते हैं कि उनका हरेक काम चाहे वह कितना ही साधारण क्यों न हो, जातीय मामला समझा जाता है। उनमें नीति और सदाचार-विषयक असंख्य अलिखित नियम प्रचलित हैं। इन नियमों के अनुसार उनका समस्त व्यवहार होता है। जाति के लिए क्या भला है और क्या बुरा, दूसरे शब्दों में कौन बात लाभदायक है और कौन हानिकर—इस सम्बन्ध में उनका जो सामुदायिक अनुभव है, उसी के फलस्वरूप इन नियमों का जन्म हुआ है। निस्सन्देह जिन दलीलों के आधार पर उनके ये नीति-नियम बनते हैं, वे दलीलें कभी-कभी बिल्कुल बेहूदा होती हैं। उनमें से बहुत-सी दलीलों का जन्म अन्ध-विश्वास के कारण होता है। वह जो कुछ करता है उसमें कुल मिलाकर वह केवल अपने कामों के तात्कालिक परिणाम को देखता है। वह उनके अप्रत्यक्ष और दूरवर्ती परिणाम को नहीं देख सकता। इस प्रकार वह उस दोष को बढ़ाता है जिसके लिए बेंथम ने सभ्य क़ानून-व्यवस्थापकों की भी निन्दा की है। किन्तु बेहूदा हो या न हो, प्रारम्भिक-मनुष्य आम क़ानून के विधि-विधानों का पालन करता

प्रारंभिक मनुष्य की विशेषता

है, चाहे वे कितने ही असुविधाकारक क्यों न हों। लिखित कानून के विधि-विधानो को जितना सभ्य मनुष्य मानता है उसकी अपेक्षा वह कही अधिक अन्ध-श्रद्धा के साथ अपने अलिखित क़ानून को मानता है। उसका धर्म ही उसका आम क़ानून है, उसके बिना वह जी नहीं सकता। उसके मस्तिष्क में जाति का विचार सदा मौजूद रहता है, जाति की भलाई के लिए आत्म-निग्रह और आत्म-बलिदान की घटनायें आये दिन होती रहती हैं। यदि कोई प्राकृत मनुष्य किसी तुच्छ से जातीय नियम का उल्लंघन कर देता है तो औरतें खिल्ली उड़ा-उड़ाकर उसे तंग कर डालती है और यदि कहीं किसी गम्भीर नियम का उल्लंघन हुआ तो अपराधी को यह डर दिन-रात सताता रहता है कि उसने जाति पर एक आफ़त बुला ली। अगर संयोग से उसके हाथो उसी की जाति का कोई आदमी घायल हो जाय तो यह उसका सब से बड़ा अपराध समझा जाता है, ऐसे अवसर पर वह बड़ा दुखी हो जाता है। वह जंगल में भाग जाता है और आत्म-हत्या करने को तत्पर हो जाता है। उसको तभी संतोष होता है जब जाति के लोग उसको शारीरिक कष्ट पहुँचा कर और उसका थोड़ा रक्त बहा कर उसे अपराध से मुक्त कर देते हैं। जाति के भीतर हर एक चीज का सब मिलकर उपयोग करते है, खाने का एक-एक ग्रास सभी उपस्थित लोगों में बाँटा जाता है। अगर कोई आदमी जंगल में अकेला हो तो वह बिना तीन बार जोर से चिल्लाये खाना शुरू नहीं करता। इसका मतलब यह कि जो कोई भी उसकी आवाज सुने, उसे वह भोजन में शरीक होने के लिए निमन्त्रण देता है।

संक्षेप में, जब तक स्वतंत्र कुटुम्ब पैदा होकर जातीय एकता को नष्ट नहीं कर देते, जाति के भीतर यह नियम सर्वोपरि होता है कि 'व्यक्ति समाज के लिए है।' किन्तु यह नियम पड़ोसी जातियों पर लागू नही किया जाता जो जातियाँ पारस्परिक संरक्षण के लिए किसी एक संघ में शामिल होती है, उनके साथ भी इस नियम के अनुसार व्यवहार नही किया जाता। उक्त नियम की दृष्टि से हर एक जाति अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। पशु और पक्षियों की भांति, प्राकृत मनुष्यो की अलग-अलग जातियों के लिए मोटे तौर पर अलग-अलग भू-भाग बँटे होते है। युद्ध-काल के अलावा एक जाति के लोग दूसरी जाति की सीमा मे नही जाते। जब कोई अपने पड़ोसी की सीमा मे प्रवेश करने लगे तो उसे यह बताना पड़ता है कि उसके कोई बुरे इरादे नही हैं। जितने जोर से वह अपने आगमन की सूचना देगा उतना ही अधिक वह विश्वासपात्र बनेगा। किसी के घर मे घुसते समय घुसनेवाले को अपनी कुल्हाड़ी दर्वाजे पर रख देनी पड़ती है। किन्तु कोई भी जाति दूसरी जाति को भोजन मे अपने साथ शामिल करने के लिए बाध्य नही है; वह शामिल करे, न भी करे। यही कारण है कि प्राकृत मनुष्य का जीवन दो प्रकार के कार्यों मे बँटा हुआ है और उसके दो भिन्न-भिन्न नैतिक स्वरूप दिखाई देते है। पहले स्वरूप के नीचे जाति के भीतर के सम्बन्ध आ जाते हैं और दूसरे के नीचे बाहर वाले लोगो के साथ के सम्बन्ध आते है। हमारे अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की भांति उनके अन्तर्जातीय क़ानून मे और उनके आम क़ानून मे बड़ा अन्तर है। इस अन्तर्जातीय क़ानून

के कारण ही युद्ध के समय घृणित से घृणित निर्दयताओं को भी एक जाति के लिए प्रशंसा की बात समझा जा सकता है। मानव-जाति के सारे विकास-काल में नैतिकता की ये दो विचार-धारायें रही हैं और अब भी मौजूद हैं। नीति की इस द्वैधता को मिटाने में हम युरोपियनों ने बहुत नही कुछ प्रगति अवश्य की है। किन्तु साथ ही यह भी कहना पड़ता है कि जहाँ एक ओर हमने चाहे सिद्धान्ततः ही क्यों न हो जातीय एकता के विचार को कुछ अंश में व्यापक बनाया है, अर्थात् उस विचार के भीतर राष्ट्र और कुछ हद तक राष्ट्रों को भी शामिल करते हैं, वहां दूसरी ओर हमने स्वयं अपने राष्ट्रों और कुटुम्बों तक के भीतर एकता के बन्धनों को ढीला कर दिया है।

जाति में स्वतंत्र कुटुम्बों के बनने से प्रस्थापित एकता में अनिवार्यतः बाधा पहुँचती है। स्वतंत्र कुटुम्ब का मतलब ही यह है कि उसकी अलग सम्पत्ति हो और उसके लिए धन-दौलत का संग्रह किया जाय। हम देख चुके है कि एस्किमो लोग इस अड़चन को किस प्रकार दूर करते हैं। जातीय एकता को तोड़ देने के लिए बहुत से कारण काम करते रहे हैं, फिर भी आम जनता ने भिन्न-भिन्न सस्थाओं (ग्राम-पंचायतों आदि) द्वारा उस एकता को बनाये रखने की चेष्टा की है। यदि कोई यह जानने का प्रयत्न करे कि शुरू से लगाकर अब तक इन संस्थाओं का कैसा-कैसा रूप रहा तो यह उसके लिए बड़ा मनोरंजक अनुशीलन होगा। इसके विपरीत, ज्ञान के प्रथम सूत्रों का आविर्भाव अत्यन्त दूरवर्ती भूतकाल में हुआ, उस समय लोग उनको जादू टोना

मानने लगे । फलतः कुछ व्यक्तियों के हाथों में वे सूत्र एक ऐसी शक्ति वन गये, जिसका जाति के विरुद्ध उपयोग किया जा सकता था। इन सूत्रों को वड़ी सावधानी के साथ गुप्त रखा जाता था, उनका ज्ञान जादूगरो, पण्डों और पुजारियो की गुप्त संस्थाओ में दीक्षा प्राप्त लोगो को ही कराया जाता था। सभी प्राकृत मनुष्यो मे हमे ऐसी गुप्त संस्थायें मिलती हैं। उसी जमाने मे युद्धो और चढ़ाइयों ने सैनिक सत्ता और योद्धाओं की जातियों को जन्म दिया इन योद्धाओं की संस्थाओं को वड़ी शक्ति प्राप्त हुई। यह सव कुछ होते हुए भी, मनुष्य-जीवन के किसी भी काल में युद्ध जीवन की सामान्य स्थिति नही वने। योद्धा एक दूसरे का नाश करते थे, और पुजारी लोग उनके हत्याकाण्डों के उपलक्ष मे उत्सव मनाते थे, किन्तु आम जनता तो शन्ति के साथ अपना जीवन विताती थी, दैनिक मेहनत-मजदूरी करके आनन्द मनाती थी। समानता,पारस्परिक सहयोग और समर्थन के विपय में जनता के जो विचार थे उनके आधार पर ही उसने अपना सामाजिक संगठन किया था। एक शब्द में यों कह लीजिए कि सार्वजनिक क़ानून ही उस संगठन का आधार-स्तम्भ था। धर्मान्ध अथवा एकतंत्री सत्ता के अत्यन्त भयंकर आक्रमणो के होते रहने पर भी जनता ने उस संगठन को क़ायम रखा। जनता के उस जीवन को समझना और उन उपायों का अध्ययन करना, जिनके द्वारा उसका वह जीवन क़ायम रहा, मानव-विकास का एक पहलू है। अव इस पहलू का अध्ययन करना सच्चे मानव-विज्ञान के सम्मुख एक वड़ी समस्या है, उसका कर्तव्य है।

[४]

बर्बर (असभ्य) जातियों में पारस्परिक सहयोग

अगर हम प्रारम्भिक मनुष्य-जाति का अध्ययन करें तो उसकी सामाजिकता का हम पर गहरा प्रभाव पड़े बिना नही रह सकता। मानव-जाति ने अपने जीवन के प्रारम्भ काल से ही इस सामाजिकता का परिचय दिया है। प्राचीनतम और उत्तरी—दोनो ही पत्थर युगों के ध्वंसावशेषो में मानव-संस्थाओ के चिन्ह मिलते हैं। आज भी ऐसे प्राकृत मनुष्य मौजूद हैं जिनका जीवन-क्रम उत्तरी पत्थर युग के मनुष्यो से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। जब हम इन प्राकृत मनुष्यो का अन्वेषण करते है तो हमें पता चलता है कि वे एक अत्यन्त प्राचीन जातीय संगठन-द्वारा एक-दूसरे के साथ घनिष्ट रूप में बँधे हुए हैं। इस जातीय संगठन के सहारे ही वे अपनी व्यक्तिशः कमजोर शक्तियों को एकत्र करके सामुदायिक जीवन का आनन्द उठाते हैं और प्रगति करते है। प्रकृति मे मनुष्य का उदाहरण कोई अपवाद नहीं हो सकता। पारस्परिक सहयोग का वह महान् सिद्धान्त अन्य प्राणियो की भाँति उस पर भी लागू होता है। यह सिद्धान्त उन्ही प्राणियों को जीवित रहने के उत्तम अवसर प्रदान करता है जो जीवन-संघर्ष मे एक-दूसरे का भली-भांति समर्थन करते हैं। पिछले अध्यायो में हम इन्हीं परिणामों पर पहुँचे है।

प्राकृत मनुष्य की सामाजिकता

अब सभ्यता की उस उच्चतर श्रेणी को लीजिए, जिसके विषय में इतिहास में पहले से ही कुछ न कुछ सामग्री मौजूद है। इस इतिहास में लड़ाई-झगड़ों के इतने वर्णन मिलते हैं कि हमें स्तम्भित रह जाना पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो पुराने बन्धन बिल्कुल टूट ही गये हों। एक कुनबा दूसरे कुनबे से, एक जाति दूसरी जाति से और एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से लड़ता हुआ पाया जाता है। विरोधी शक्तियों के इस अन्धाधुन्ध संघर्ष के कारण मानव-जाति भिन्न-भिन्न जातियों में विभक्त हुई, निरंकुश व्यक्तियों की गुलाम बनी और अलग-अलग राज्य बने जो सदा एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध करने को तत्पर रहते थे। मानव-जाति के इस इतिहास को लेकर निराशावादी तत्त्ववेत्ता बड़े गर्व के साथ यह नतीजा निकालता है कि लड़ाई-झगड़े और दमन-अत्याचार मानव-स्वभाव के मुख्य अंग ही हैं और एक शक्तिशाली सत्ता ही मनुष्य की झगड़ालू और लुटेरेपन की प्रवृत्तियों को किसी ख़ास सीमा में मर्यादित रख सकती है। उसके मतानुसार यह सत्ता शान्ति क़ायम रखती है और इस प्रकार कुछ सज्जन लोगों को मानव-जाति का भावी उच्चतर जीवन निर्माण करने का अवसर देती है।

ऐतिहासिकों की भ्रामक विचार-पद्धति

फिर भी इतिहासकालिक मनुष्य के दैनिक जीवन की जब हम अधिक नजदीक से समीक्षा करते हैं—कुछ अर्से से अत्यन्त आरम्भिक संस्थाओं के अनेक धैर्यशील विद्यार्थी ऐसा करने भी लगे हैं—तो वह बिल्कुल दूसरे ही रूप में हमारे सामने आता है। अधिकांश इतिहासवेत्ता पहले से अपने विचार निश्चित कर

लेते हैं। इतिहास के पद्यात्मक स्वरूप के प्रति उनकी रुचि भी प्रसिद्ध है। इन दोनों बातों को एक ओर रख दिया जाय तो हमें पता चलता है कि जिन ग्रन्थो का ये इतिहासकार बहुधा आश्रय लेते हैं, उनमें मनुष्य के जीवन में होने वाले लड़ाई-झगड़ो को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है और उसकी शांतिप्रियता का कम मूल्य आँका गया है। लोग दुर्दिनों के आगे सुदिनों को भूल जाते है। स्वयं अपने जमाने में ही हम अखबारों में, अदालतों में, सरकारी दफ्तरो में और यहाँ तक कि कहानियों और कविताओं तक में भावी इतिहासवेत्ताओं के लिए जो जटिल सामग्री तैयार करते हैं, उसमें भी वही एकाङ्गिता का दोष मौजूद रहता है। इस सामग्री में भावी पीढ़ियो के लिए हर युद्ध, लड़ाई, झड़पा-झड़पी, संघर्ष, हिंसात्मक कार्य और हर प्रकार के व्यक्तिगत कष्ट-सहन का तो सविस्तर वर्णन रहता है, किन्तु पारस्परिक सहयोग और गाढ़ प्रेम के उन असंख्य कामों का कहीं उल्लेख भी नही होता जिनको हम में से हरेक अपने निजी अनुभव से जानता है, हमारे दैनिक जीवन की नस-नस में जो चीज व्याप्त है यानी हमारी सामाजिक प्रवृत्तियाँ और हमारे सामाजिक रीति-रिवाज, उन पर कोई ध्यान नही दिया जाता। जब हमारे जमाने में ही यह हाल है तो कोई आश्चर्य नही यदि भूतकालिक ऐतिहासिक सामग्री इतनी अधूरी है। प्राचीन इतिहासकार उन छोटे-छोटे युद्धों और संकटो के वर्णन संग्रह करने में कभी पीछे न रहे, जिनसे उनके समकालिक व्यक्तियो को कष्ट पहुँचा था, किन्तु उन्होंने आम जनता के जीवन की ओर आँख

उठाकर भी नहीं देखा । लड़ने वाले तो कुछ ही व्यक्ति होते थे, बाक़ी जनता तो मुख्यतया शान्ति के साथ मेहनत-मजदूरी करके रहती थी। वीर-गीतों, कीर्ति-स्तम्भो पर खुदे हुए उद्गारों, सुलह-नामों आदि क़रीब-क़रीब सभी दस्तावेजो में एक ही बात मिलती है। उनमें शान्ति-भंग करने वाली घटनाओ का विवेचन किया गया है, स्वयं शान्ति का नही। यही कारण है कि अच्छे-से-अच्छे उद्देश्य रखने वाला इतिहास भी अनजान में ही सही, जिस समय का वह वर्णन करना चाहता है, उसका विगड़ा हुआ चित्र खींच देता है। अतः एकता और संघर्ष के पारस्परिक महत्व का ठीक-ठीक अनुमान लगाने के लिए हमे उन हजारो छोटी-छोटी बातों और अस्पष्ट संकेतों की सूक्ष्म समीक्षा करनी पड़ेगी जो संयोग-वश भूतकालिक चिन्हो के तौर पर बचे हुए है। हमे तुलनात्मक मानव-इतिहास की सहायता से उन बातों और संकेतो को समझाना होगा और मनुष्यो में भेद-भाव पैदा करने वाली वस्तुओ के विषय में इतना सुन चुकने के बाद हमें एक-एक ईंट जोड़ कर उन संस्थाओं की इमारतों की पुनर्रचना करनी पड़ेगी जो मनुष्य को ऐक्य-सूत्र मे पिरोती रहती हैं।

मानव-जीवन की इन दो विचार-धाराओ को ध्यान में रखते हुए हमें शीघ्र ही इतिहास की नये ढङ्ग पर पुनर्रचना करनी होगी। हमें यह भी देखना होगा कि प्रत्येक विचारधारा ने विकास के लिए कितना-कितना काम किया है। किन्तु इस बीच में हम दूसरी धारा की मुख्य विशेषताओं को सामने लाने के लिए जो प्रारम्भिक काम किया

विचार की ठीक पद्धति

गया है, उसका लाभ उठा सकते हैं । इस विचार-धारा की अब तक तो उपेक्षा ही होती रही है । इतिहास के सुपरिचित कालों की जनता के जीवन से कुछ उदाहरण देकर हम बता सकेंगे कि उन जमानों में पारस्परिक सहयोग ने कितना काम किया है, परंतु ऐसा करते समय स्थानाभाव के कारण हमे मिश्र और यूनान तथा रोम के प्राचीन काल का विचार छोड़ देना होगा । कारण कि दरअसल मानव-जाति के विकास का एक-सा सिल-सिला नही रहा है जो बीच मे कभी टूटा न हो । एक क्षेत्र-विशेष में रहने वाली एक जाति-विशेष की सभ्यता का कई बार अन्त हुआ और दूसरे स्थानो की दूसरी जातियो में नये सिरे से उस की शुरुआत हुई । किन्तु हरेक नई शुरुआत के अवसर पर वही नई जातीय संस्थायें फिर से बनी जिनको हम प्राकृत मनुष्यो में देख चुके हैं । इस तरह से यदि हम खुद अपनी सभ्यता की अन्तिम शुरुआत को लें तो हम कुनबों से लगाकर आधुनिक समय की संस्थाओं तक विकास की सारी मंजिलो पर विचार कर सकेंगे । रोमन लोग जिनको 'बर्बर' जातियां कहते थे, उनमें वर्तमान युग की प्रथम शताब्दियो में यह सभ्यता फिर से प्रारम्भ हुई थी । अगले पृष्ठो मे इन्ही उदाहरणो की चर्चा की जायगी ।

उस महान प्रवास का कारण

वैज्ञानिक लोग अभी तक इस बात का निर्णय नही कर सके हैं कि कोई दो हजार वर्ष पूर्व सारी की सारी जातियां एशिया से युरोप क्यों चली गई और उन बर्बर जातियो के महान प्रवास क्योकर हुए जिन्होने पश्चिमी रोम-साम्राज्य का खात्मा कर दिया था । जब कोई भूगो-

लवेत्ता मध्य एशिया के रेगिस्तानों में किसी जमाने में बसे हुए बड़े-बड़े नगरों के अवशेषों पर विचार करता है या इस समय लुप्तप्राय नदियों के प्राचीन प्रवाहस्थलों और झीलों के चौड़े दायरों को देखता है तो स्वभावतः एक कारण पर उसका ध्यान चला जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये झीलें घटती-घटती छोटे-छोटे तलावों के बराबर रह गई हैं। हां, तो वह कारण है पृथ्वी की नमी का सूखते जाना। इस सूखने की क्रिया को शुरू हुए बहुत अर्सा नहीं हुआ। यह अब भी इतनी तेजी के साथ जारी है, जिसको कुछ काल पहले हम स्वीकार करने को राजी न थे। सूखने की इस क्रिया के आगे मनुष्य का कुछ बस न चला। उत्तर-पश्चिम मंगोलिया और पूर्वी तुर्किस्तान के निवासियों ने जब देखा कि पानी उनका साथ छोड़ता जा रहा है तो उनके पास सिवाय इसके और कोई उपाय नहीं रह गया कि वे चौड़ी घाटियों की राह से निचले मैदानों की ओर बढ़ते और वहाँ के बाशिन्दों को और पश्चिम की तरफ भगा देते। थोड़े-बहुत स्थायी निवास स्थानों की तलाश में कुनवे के बाद कुनवे ने इस प्रकार युरोप में प्रवेश किया। पीछे से पहुँचनेवाला कुनबा पहले से पहुँचे हुए कुनवे को पूर्व और पश्चिम की ओर आगे बढ़ने के लिए विवश करता था। कुनबों का यह प्रवाह शताब्दियों तक जारी रहा। प्रवास के इन जमानों में एक क़िस्म की जातियाँ दूसरी क़िस्म की जातियों के साथ मिलती रहीं। मूल निवासियों के साथ प्रवासी, आर्यों के साथ यूरल अलत्यानी मिले। जिन संस्थाओं ने इन जातियों को अपने मातृ-देशों में

हज़ारों वर्षों तक एक सूत्र में बाँधे रक्खा, यदि वे संस्थायें जातियों की इस दलादली के जमाने में बिलकुल ही नष्ट-भ्रष्ट हो गई होतीं तो कोई आश्चर्य की बात न होती। किन्तु ऐसा न हुआ। उनके स्वरूप में केवल उतना ही परिवर्तन हुआ जितना जीवन की नवीन परिस्थितियों के फलस्वरूप आवश्यक था।

कुटुम्बों का जन्म

टीटन, केल्ट, सेण्डिनेवियन, सालवोनियन और दूसरी जातियाँ जब पहले-पहल रोमन लोगों के सम्पर्क में आईं, उस समय इनके सामाजिक संगठन की परिवर्तन-शील अवस्था थी। जातीय संघों का आधार यह ख़याल था कि एक ही मूल से उनका उदय हुआ है। यह हो सकता है कि कहीं यह ख़याल सही हो और कहीं खाली ख़याल हो। जो कुछ हो, इन जातीय संघों ने हज़ारों वर्ष तक लगातार उन जातियों को साथ-साथ रखा, किन्तु ये संघ उनके उद्देश्य की तभी तक पूर्ति कर सकते थे, जबतक स्वयं जाति के भीतर स्वतंत्र कुटुम्बों का अस्तित्व न हो। लेकिन जातियों के भीतर पैतृक सत्ताधारी स्वतंत्र कुटुम्बों का धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता के साथ विकास हुआ। इसका आगे चलकर यही नतीजा निकल सकता था कि सम्पत्ति और शक्ति का व्यक्तिगत संग्रह हो और दोनो ही वंश-परम्परागत चीजें बन जायँ। स्वतंत्र कुटुम्बों के बनने के कारण हम पहले बता चुके हैं। बर्बर जातियो के लगातार प्रवास होते रहे और उनके फलस्वरूप लड़ाइयाँ भी होती रहीं। इस कारण से जातियों के स्वतंत्र कुटुम्बों में बँट जाने में और भी जल्दी हुई। उधर कुनबों को उनके स्थानों से हटाया

गया, और विदेशियों के साथ उनका सम्मिलन हुआ, जिसकी वजह से उन जातीय संघों के अन्तिम विच्छेद की विशिष्ट सुविधायें पैदा हो गईं जिनकी रचना एक जातीयता के आधार पर हुई थी। इस प्रकार बर्बर जातियों के लिए दो रास्ते थे। एक तो यह कि उनकी जातियाँ टूट कर असंगठित कुटुम्बो का संग्रह-मात्र रह जायँ और उन पर सब से अधिक धनवान लोग अपनी सत्ता क़ायम कर लें। ख़ास कर जिन लोगो के पास धन के साथ-साथ धार्मिक अधिकार अथवा सैनिक कीर्ति हो उनके लिए ऐसा कर सकना और भी सरल था। दूसरा रास्ता यह था कि वे किसी नये सिद्धान्त के अनुसार कोई नये प्रकार का संगठन बनाते।

ग्राम-पचायत का आरम्भ

अनेक कुनबों में यह शक्ति न थी कि वे अपने विच्छेद को रोक सकते। वे छिन्न-भिन्न हुए और इतिहास के पृष्ठो में से उनका नाम सदा के लिए मिट गया। किन्तु जो अधिक शक्तिशाली थे, वे छिन्न-भिन्न न हुए। उस संकट को पार करके उन्होंने एक नये संगठन का निर्माण किया। यह ग्राम-पंचायतों का संगठन था जिसने उनको आगामी पन्द्रह या इससे अधिक शताब्दियों तक साथ-साथ एक सूत्र में रखा। सब लोग मिलकर एक भू-भाग पर अधिकार करते थे और उसकी रक्षा करते थे। इसलिए यह माना जाने लगा कि उस प्रदेश पर समस्त समुदाय का अधिकार है। इस विचार को व्यापक बनाया गया और उसने लुप्त होते जाने वाले एक जातीयता के विचार का स्थान ले लिया। सार्वजनिक देवताओं का पुरातन स्वरूप धीरे-धीरे नष्ट हो गया, उन्हें

स्थानीय प्रादेशिक स्वरूप मिला। वे एक स्थान-विशेष के देवता या महात्मा माने जाने लगे। इसी प्रकार एक स्थान-विशेष में रहने वाले लोग उस स्थान के नाम से पुकारे जाने लगे। पुराने जातीय संघो के स्थान पर प्रादेशिक संघों का जन्म हुआ। इस नये संगठन से परिस्थिति-विशेष मे स्पष्टतः अनेक लाभ हुए। उसने कौटुम्बिक स्वाधीनता को स्वीकार किया, उस पर जोर भी दिया। ग्राम-पंचायत ने कुटुम्ब की चहारदीवारी के भीतर हस्तक्षेप करने के सब अधिकार त्याग दिये, व्यक्तिगत कर्तृत्व को उसने और अधिक स्वाधीनता प्रदान की। सिद्धान्ततः वह विभिन्न जातियो के आपसी ऐक्य के विरुद्ध न थी, किन्तु साथ ही उसने कार्य और विचार की आवश्यक एकता भी क़ायम रखी। वह जादूगरों, पुजारियों और पेशेवर अथवा ख्यातनामा योद्धाओं के अल्पसंख्यक समुदायो की अधिकार-लोलुप प्रवृत्तियो का मुक़ाबला करने के लिए काफी सशक्त थी। फलस्वरूप ग्राम-पंचायतें भावी संगठन की बुनियाद बन गईं, बहुत से राष्ट्रो में आज भी उनका वही स्वरूप बना हुआ है।

ग्राम पचायतों की व्यापक प्रथा

अब यह विदित हो चुका है कि ग्राम-पंचायतें न तो सालवोनियन लोगों की ख़ास विशेषता थी और न प्राचीन टीटनों की ही। इस कथन की सत्यता का कोई प्रतिवाद भी नहीं करता है। सैक्सन और नारमन दोनों ही जातियो के जमाने में इंग्लैण्ड में ग्राम-पंचायतें क़ायम थीं और कुछ अंशों में वे गत शताब्दी तक क़ायम रही हैं। प्राचीन स्काटलैण्ड, प्राचीन आयर्लैण्ड.

और प्राचीन वेल्स के सामाजिक संगठन की जड़ में यही ग्राम पंचायतें थीं। फ्रांस में आधुनिक युग की प्रथम शताब्दी से लेकर टुरगोट के जमाने तक ग्राम-संस्थाओं का सम्पत्ति पर अधिकार था और वे ही लोगों को जोतने के लिए जमीनें बांटती थीं। टुरगोट ने इन ग्राम-संस्थाओं को बहुत गड़बड़ मचाने वाली संस्थायें समझ कर उनको नष्ट कर दिया। इटली में रोमन लोगों के शासन-काल में भी ये ग्राम-पंचायतें बची रहीं और रोमन-साम्राज्य का अन्त हो जाने पर उन्होंने फिर जोर पकड़ा। स्केण्डि-नेवियन, स्लेवीनियन, फिन, कोयुरे और लिवे लोगों में तो ग्राम पंचायतो का होना आम बात थी। प्राचीन और आधुनिक अर्थात् अनार्यकालिक और आर्यकालिक भारतवर्ष की ग्राम-पंचायतें सर हेनरीमैन के युग-निर्माणकारी ग्रन्थो द्वारा प्रसिद्ध हो चुकी हैं। एलफिस्टन ने अफगान लागो की ग्राम-पंचायतों का वर्णन किया है। मंगोलियनों में उलस नाम से, कबाबले लोगो में थड्डुई नामसे, जावा-निवासियों में देसा नाम से और मलायावालों में कोटा या तोफा नाम से हमें ये पंचायतें मिलती है। अबीसीनिया और सुदान में, अफ्रीका के भीतरी भागो में, अमेरिका के दोनों मूल निवासियो में और प्रशान्त महासागर के टापुओं की हर छोटी-बड़ी जातियो में ये भिन्न-भिन्न नामों से मौजूद हैं। संक्षेप में, हमे एक भी ऐसी मानव-जाति या राष्ट्र का पता नहीं है जिसके इतिहास में ग्राम-पंचायतो का काल न रहा हो। अकेली यह बात ही उस सिद्धान्त का खण्डन कर देती है, जिसके अनुसार यह माना जा सकता है कि युरोप में गुलामी की प्रथा में पंचायतों

का जन्म हुआ। किन्तु असल में गुलामी की प्रथा शुरू होने से पहले ही उनका अस्तित्व था। और स्वयं गुलामी की प्रथा तक उनको तोड़ सकने में अशक्त रही। कम से कम उन कुनबों के सम्बन्ध में जिन्होने इतिहास के बनाने में कुछ भाग लिया है या अब ले यह विकास का सार्वत्रिक पहलू था, जातीय संगठन का स्वाभाविक परिणाम था।

चूंकि ग्राम-पंचायतों की उत्पत्ति स्वभाविक रीति से हुई थी इसलिए उन सबके ढांचे बिल्कुल एक जैसे हो सकना सम्भव न था। आम तौर पर यह उन कुटुम्बो क संघ होता था जिनका उद्गम-स्थल एक ही समझा जाता था और जो एक खास भू-प्रदेश पर सामुदायिक अधिकार रखते थे। किन्तु कुछ घरानो में पहले इसके कि उनकी सन्तानें नये कुटुम्ब बनावें, खास-खास परिस्थितियो में कुटुम्बो मे रहने वाले मनुष्यो की संख्या बहुत बढ़ जाती थी। एक ही छत के नीचे या एक ही चहारदीवारी के भीतर पाँच-पाँच सात-सात पीढ़ियों तक के आदमी रहा करते थे; संयुक्त घर-गृहस्थी और पशुओं पर सब का अधिकार होता था। ऐसी दशा मे वे उसका नाम 'संयुक्त कुटुम्ब' अथवा 'अविभाजित घर-गृहस्थी' रखते थे। मानव-इतिहासवेत्ता हमको कुटुम्ब के नाम से ही पुकारता है। ये संयुक्त कुटुम्ब आज भी चीन और भारतवर्ष में हमे सर्वत्र मिलते है। अफ्रिका, अमेरिका, डेन्मार्क, उत्तरी रूस और पश्चिमी फ्रांस में भी ये कहीं-कहीं मिलते है। दूसरे घरानों में अथवा दूसरी परिस्थितियो मे जिनकी अभी तक इतनी अच्छी तरह विशेषता निश्चित नही की जा सकी है, कुटुम्बो की मनुष्य-

संख्या उतनी नहीं बढ़ती। उन में पोते और कभी-कभी लड़के की ज्योंही शादी हो जाती है कि वह घर-गृहस्थी से अलग हो जाता है और खुद अपना नया घर बसा लेता है। किन्तु कुटुम्ब संयुक्त रहे हो अथवा-अलग, नजदीक-नजदीक रहे हो या जंगलों में दूर-दूर फैले हुए, ग्राम-पंचायतों के सूत्र मे वे अवश्य वद्ध रहे हैं। कई गांवों की एक-एक जाति बनाई गई और ये जातियां एक बड़े संघ में शामिल होती थीं। यह है वह सामाजिक संगठन जिसका 'बर्बर' कही जाने वाली जातियो में उस समय विकास हुआ जब वे कम या ज्यादा युरोप में स्थायी रूप से बस रही थीं।

एक अलग झोपड़ी में रहनेवाले पैतृक सत्ताधारी कुटुम्ब का स्वतंत्र अस्तित्व जाति स्वीकार कर ले, इसके लिए दीर्घकालिक विकास आवश्यक था। किन्तु ऐसा स्वीकार कर लिये जाने के बाद भी आम तौर पर जाति में व्यक्तिगत सम्पत्ति संचय करने की प्रथा प्रचलित न हुई। एक व्यक्ति को जो थोड़ी-सी चीजें होतीं उन्हे उसकी कब्र पर या तो नष्ट कर दिया जाता था या जला दिया जाता था। इसके विपरीत ग्राम-पंचायतों ने कुटुम्ब के भीतर सम्पत्ति के व्यक्तिगत संग्रह को और उसके वंश परम्परागत अधिकार को पूर्णतया स्वीकार किया। उन्होने केवल जंगम संपत्ति की धन-दौलत में गिनती की। इस गिनती में उन्होंने पशुओं, औजारों, हथियारों और रहने के मकानों को भी शामिल किया जो 'आग से नष्ट की जा सकने वाली अन्य वस्तुओं की भांति' उसी श्रेणी में आ सकते थे। जहां तक जमीन का सवाल है ग्राम-

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की मर्यादा

पंचायत ने उसको किसी भी रूप में व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं माना है; वह ऐसा मान ही नहीं सकती थी। नियम के तौर पर तो वह उसे अब भी स्वीकार नहीं करती। जमीन जाति की या समस्त कुनवे की सार्वजनिक सम्पत्ति थी और ग्राम-पंचायत भी अपने हिस्से के जातीय प्रदेश पर तभी तक कब्जा रखती थी जब-तक कि जाति गांवों के लिए निश्चित की हुई जमीन के पुनर्विभाजन का दावा पेश न करती थी। जंगलो की सफ़ाई और मैदानों को ठीक रखने काम ज्यादातर पंचायतें ही करती थीं अथवा कम से कम कई परिवार मिलकर इस काम को करते थे। इसके लिए पंचायत की स्वीकृति लेना हर अवस्था में आवश्यक था। जो जमीन के टुकड़े इस प्रकार साफ़ किये जाते थे उन पर प्रत्येक परिवार चार, बारह या बीस वर्ष तक अपना अधिकार रख सकता था। इसके बाद में जमीनें सार्वजनिक कृषि-योग्य जमीनों के साथ मिला दी जाती थीं। व्यक्तिगत सम्पत्ति अथवा 'सदा के लिए' किसी वस्तु पर किसी का अधिकार होना ग्राम-पंचायत के मूल सिद्धान्तों और धार्मिक विचार-योजनाओं के उतना ही विपरीत था जितना कि जातीय सिद्धान्तो के विपरीत हो सकता था। जमीन व्यक्तिगत सम्पत्ति है, इस विचार से बर्बर जातियों को परिचित कराने के लिए यह आवश्यक था कि रोमन क़ानून और ईसाई धर्म (इसने बड़ी जल्दी रोमन सिद्धान्तो को ग्रहण कर लिया था) दीर्घकाल तक उन पर प्रभाव डालते। फिर भी जब इस किस्म की सम्पत्ति को अथवा एक अमर्यादित काल के लिए उसपर किसी के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया तो भी

अलग जायदाद के स्वामी का अनुपयोगी जमीनों, जगलों और चरागाहों पर एकाधिपत्य न होता था, उसके साथ-साथ दूसरे भी उनके स्वामी होते थे। इसके अतिरिक्त हम सब जगह, और विशेषत: रूस के इतिहास में, बराबर देखते हैं कि जब कभी थोड़े से अलग-अलग रहने वाले परिवारों ने अजनबी जातियों की कुछ जमीन पर कब्जा किया है, तभी वे बड़ी जल्दी एक हो गये हैं और अपनी ग्राम-पंचायत बना ली है। तीसरी या चौथी पीढ़ी में यह पंचायत अपने आप को प्रारम्भिक पंचायत कहने लगती थी।

ग्राम पंचायतों के अधिकार

जमीन के सार्वजनिक स्वामीत्व के आधार पर लगातार कई शताब्दियों में जाकर संस्थाओं के एक सारे के सारे सिलसिले का विकास हुआ है। कुछ अंशों में ये संस्थायें जातीय काल की विरासत थीं। बर्बर जातियों को रोमन और बिजेंटाइन ढंग पर संगठित राष्ट्रों की अधीनता में लाने के लिए इतना लम्बा समय गुजर जाना आवश्यक था। ग्राम-पंचायत का उद्देश्य केवल सार्वजनिक भूमि में से हरएक को उसका उचित हिस्सा दिलाना ही न था, बल्कि सामुदायिक संस्कृति की रक्षा करना और हर सम्भव तरीके पर पारस्परिक सहयोग से काम लेना भी उसका उद्देश्य था। इसके अलावा वह हिंसात्मक आक्रमणों से अपने नागरिकों की रक्षा करती थी और ज्ञान, (जातीय) राष्ट्रीय बन्धन और नैतिक विचारों के और अधिक विकास के साधन उपस्थित करती थी। न्याय, सेना, शिक्षा अथवा अर्थ-सम्बन्धी व्यवस्था में यदि कोई परिवर्तन करना होता तो इसका निश्चय ग्राम-पंचायत,

जातीय पंचायत या पंचायत-संघ में ही हो सकता था। चूँकि वंशगत संगठन से ही पंचायतो का जन्म हुआ था, इसलिए उनको उस संगठन के समस्त अधिकार विरासत में मिले। संक्षेप में ये पंचायतें अपना सारा कारोबार खुद चला लेती थीं।

ग्राम-पंचायतें बनने से पहले के पुराने खानदानों में शिकार खेलने, मछली पकड़ने, बाग़-बग़ीचे या फलदार वृक्ष लगाने से जो उपज होती थी, वह सार्वजनिक सम्पत्ति समझी जाती थी। बर्बर जातियों की ग्राम-पंचायतों में खेती की उपज को सार्वजनिक सम्पत्ति माना गया। अवश्य ही इस बात की सत्यता के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष प्रमाण बहुत थोड़े हैं। प्राचीन काल के ऐतिहासिक साहित्य में केवल डिओडोरस और जुलियस सीजर ने लिपरी टापुओं के निवासियो और स्युवे लोगो के विषय में इस बात का उल्लेख किया है। किन्तु यह सिद्ध करने के लिए प्रमाणों का अभाव नहीं है कि कुछ टीटन जातियो मे और स्काटलैण्ड आयर-लैंण्ड तथा वेल्स की पुरानी जातियो में खेती की उपज को सार्व-जनिक सम्पत्ति मानने की प्रथा प्रचलित थी। इस प्रथा के बाद के अवशेषों की तादाद तो एक दम असंख्य है। जिस फ्रांस ने रोमन पद्धति का पूर्णतया अनुकरण किया था उसके ही मोर-बियन (ब्रिटेनी) जिले में कोई पच्चीस वर्ष पहले सम्मिलित खेती होती थी। काकेशस जातियों तक सभ्यता की सबसे कम पहुँच हुई है। किन्तु इन जातियों मे भी कृषकों के संयुक्त दल होते हैं और धर्म-स्थलो के लिए निश्चित ज़मीन की सम्मिलित खेती होती है। ये कृषक-दल पुराने वेल्शियन कृषक-दलों से मिलते-जुलते

होते हैं। रूसी किसानों में सम्मिलित खेती करने के लिए काके-ससी जातियों की तरह संयुक्त कृषक दल आये दिन बनते रहते हैं। इसके अलावा यह प्रसिद्ध है कि ब्रेजील, मध्य अमेरिका और मेक्सिको की अनेक जातियाँ साथ मिलकर खेती किया करती थीं। यही प्रथा न्यूकेलेडोनिया के कुछ मलायी लोगों और कई हब्शी कुनबों इत्यादि में भी विस्तार से फैली हुई थी। संक्षेप में, अनेक आर्य, यूरल अलत्यन, मंगोलियन, हब्शी, रेड इण्डियन, मलायी और मलेनेसियन कुनबों में सम्मिलित खेती इतने अधिक परिमाण में होती थी कि उसे प्रारम्भिक कृषि का सार्वत्रिक स्वरूप समझा जाना चाहिए। हमारे कहने का यह मतलब नहीं है कि उस समय कृषि केवल इसी ढंग से होती थी; हो सकता है उसके दूसरे ढंग भी रहे हों, किन्तु आम तौर पर तो खेती का यही ढंग प्रचलित था।

भोजन की अलग व्यवस्था

किन्तु सम्मिलित खेती का अनिवार्यतः यह मतलब नहीं होता कि सब लोगों का भोजन एक ही जगह बने। जातिगत संगठन में ही बहुधा ऐसा होता था कि जब फलों और मछलियों से भरी हुई नावें गांव को लौटतीं तो वह भोजन-सामग्री झोंपड़ियों और लम्बे मकानों में रहने वाले कुटुम्बों में बांट दी जाती थी। इस सामग्री को अलग-अलग पका लेते थे। इस तरह रिश्तेदारों या साथियों के संकुचित दायरे में भोजन करने का रिवाज जातिगत जीवन के प्रारम्भिक काल में भी प्रचलित था। यह प्रथा ग्राम-पंचायतों के जमाने में भी जारी रही। सार्वजनिक उपयोग के

लिए कुछ हिस्सा अलग रखने के बाद सम्मिलित प्रयत्न से उपजाई हुई खाद्य-सामग्री को भी आमतौर पर कुटुम्बों में बाँट दिया जाता था। परन्तु सहयोग का रिवाज ज्यों का त्यों क़ायम रखा गया। श्राद्ध, त्यौहार, जन्म, विवाह, मरण, खेत पर काम की शुरूआत या समाप्ति आदि हर प्रसंग का लाभ उठाकर जाति-भोज कर डाला जाता था। इंग्लैण्ड में तो फसल करने पर भोज देने के रिवाज का अब भी काफी प्रचार है। यह रिवाज जल्दी खत्म होने वाला नहीं है। दूसरी ओर खेतों का शामलात में जोता और बोया जाना बन्द हो जाने के बहुत समय बाद भी अनेक वस्तुओं की सम्मिलित खेती होती रही और अब भी हो रही है। अनेक स्थानों में असहायों और धार्मिक उत्सवों के उपयोग के लिए अथवा सामुदायिक भण्डार को फिर से भरने के लिए अब भी जमीन के कुछ हिस्से की शामलात में खेती होती है। कृषि की सिंचाई के लिए नहरों की खुदाई और मरम्मत मिल कर होती है। सामुदायिक चरागाहों को समुदाय काटता है। जिस समय रूसी किसानों का समुदाय किसी चरागाह को काट रहा हो तो वह दृश्य बड़ा ही उत्साहवर्द्धक होता है। पुरुष दरांतियाँ चलाने में एक दूसरे से बाज़ी मार ले जाना चाहते हैं और स्त्रियाँ घास के पूले बाँध-बाँध कर ढेर लगा देती हैं। यह दृश्य हमको मानव-कार्य की महत्ता का परिचय देता है। इस प्रकार से जो घास काटकर इकट्ठी की जाती है, वह अलग-अलग कुटुम्बों में बाँट दी जाती है। यह तो स्पष्ट ही है कि बिना अनुमति अपने पड़ोसी की ढेरी से किसी को घास लेने का अधिकार नहीं होता, क़िन्तु

काकेससी ओसेते लोगों में इस अन्तिम नियम की मर्यादा बड़ी ध्यान देने योग्य है। जब कोयल अपने मीठे स्वर में वसन्त के आगमन की सूचना देती है और कहती है कि चरागाह शीघ्र ही घास से भर जावेंगे उस समय हरएक जरूरतमन्द व्यक्ति को अपने पशुओं के लिए पड़ोसी की ढेरी में से आवश्यकतानुसार घास लेने का अधिकार होता है। प्राचीन सामुदायिक अधिकार जोर पकड़ता है। मानो इससे यह सिद्ध होता है कि असंयत व्यक्तिवाद मानव-स्वभाव के कितना विरुद्ध है।

यदि आप प्रशान्त महासागर के किसी छोटे टापू में उतरें और थोड़ी दूर पर दिखाई देने वाले खजूर के वृक्षों के झुण्ड की ओर बढ़ें तो आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि छोटे-छोटे गांवों का सड़कों द्वारा सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। ये सड़कें बड़े-बड़े पत्थरों को जमा कर बनाई हैं और नंगे पैर फिरने वाले आदिम निवासियों को उन पर चलने में कोई असुविधा नहीं होती। स्वीजरलैण्ड की 'पुरानी पहाड़ी सड़कों' से ये सड़कें बहुत मिलती-जुलती होती हैं। बर्बर जातियों ने सारे युरोप में ऐसी सड़कें बनाई थीं। आज से कोई दो हजार वर्ष पहले युरोप मे जंगलों और दलदलों की भरमार थी। वहाँ रहने योग्य स्थान बनाने के लिए बर्बर जातियों को जो भारी काम करना पड़ा, उसका पूरा महत्व समझने के लिए यह आवश्यक था कि कोई आवागमन के मुख्य रास्तों से बहुत दूर जंगली और अल्प आबादी वाले देशों की यात्रा करता। एकान्तिक कुटुम्ब उस जंगली और दलदली प्रदेश पर कभी

सहयोग मे यह संभव हुआ

विजयी नहीं हो सकते थे, कारण कि वे कमजोर तो थे ही, उन के पास औजार भी न थे, उल्टा वहां के सुनसान वायु-मण्डल ने उनको परास्त कर दिया होता। अकेले ग्रामीण समुदाय साथ-साथ काम करके घने जंगलो, गहरे दलदलो और अनन्त तराइयों को क़ाबू में कर सके, साधारण सड़कें, नावें, लकड़ी के पुल, गांवों की अहातेबन्दी और लकड़ी की चहार-दीवारियाँ, पत्थर और मिट्टी के क़िले तथा छोटी-छोटी बुर्जे ये सब बर्बर जातियों की रचनायें थी। लकड़ी के पुल सर्दी में हटा लिये जाते थे और बसन्त के बाद जब बाढ़ का समय निकल जाता तो वापस नदियों पर बना दिये जाते थे। गांवो में मिट्टी की चहार-दीवारियां होती थी तथा जगह-जगह मिट्टी के क़िले एवं बुर्ज बने होते थे। जब एक समुदाय अधिक बड़ा हो जाता तो वह अपने में से कुछ लोगों को छाँटकर एक नया समुदाय बना दिया करता था। थोड़े-थोड़े काल पीछे एक नया समुदाय बनता और इस प्रकार धीरे-धीरे जंगलो और तराइयों को मनुष्य की अधीनता में लाता रहता था। इन ग्रामीण समुदायो के इस तरह बढ़ते जाने से ही युरोप की भिन्न-भिन्न जातियाँ बनी हैं। आज भी रूसी किसान, यदि दरिद्रता ने उनकी कमर नही तोड़ दी है तो, समुदाय बना कर प्रवास करते हैं और अमूर नदी के किनारे या मणिटोवा में जब बसते है तो साथ मिलकर जमीन जोतते हैं और मकान बनाते हैं। स्वयं अंग्रेज लोगों ने जब पहले-पहल अमेरिका में बसना शुरू किया था तो वे पुरानी पद्धति का आश्रय लिया करते थे। वे अपने आप को ग्राम्य समुदायो में विभक्त करते थे।

विरोधी प्रकृति के साथ कठिन संघर्ष करने में ग्राम-पंचायतों का संगठन वर्बर जातियों का मुख्य अस्त्र था। यही वह संगठन था जिसके द्वारा वे जातियाँ सबसे अधिक चालाक और मजबूत व्यक्तियों के जुल्म का मुक़ाबला करती थीं। अन्यथा उस समय के अशान्त जमाने में उन व्यक्तियों का जुल्म बड़ी आसानी से बढ़ गया होता। जिस प्रकार 'रक्त-पिपासु' प्राकृत मनुष्य-जैसे किसी प्राणी का अस्तित्व नहीं था, उसी प्रकार उस कल्पित वर्बर मनुष्य का भी अस्तित्व नहीं मिलता जो केवल वहम में आकर लड़ता और लोगो को मार डालता हो। इसके विपरीत सच्चा वर्बर मनुष्य संस्थाओं के एक विस्तृत दौर की अधीनता में रहता था जिनमें इस बात का ध्यान रखा जाता था कि जाति या संघ के लिए कौन बात लाभ-दायक और कौन हानिकर है। ये संस्थायें पद्यों, गीतों, कहावतों, वाक्यों और हिदायतों-द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज्यों-की-त्यों क़ायम रखी जाती थीं। जितना ही अधिक हम उनके विषय में अध्ययन करते हैं, उतना ही अधिक हमको उन कठोर बंधनों का पता चलता है जिनके द्वारा मनुष्य अपने-अपने गाँवों मे मिलकर रहते थे, दो व्यक्तियों के पारस्परिक झगड़े को सामुदायिक मामला समझा जाता था, यहां तक कि कसी झगड़े के दौरान में दुःख पहुँचाने वाले शब्दो का बोलना भी समुदाय और उसके पूर्वजों के प्रति अपराध करना माना जाता था। अपराधी को व्यक्ति और समुदाय दोनों के ही प्रति उन शब्दो के लिए परिमार्जन करना होता था। अगर कसी झगड़े का परिणाम मारा-मारी और ख़ून-

सामाजिकता के कई पहलू

खच्चर में समाप्त हुआ और देखने वालों ने उसमें हस्तक्षेप न किया तो वे भी आक्रमणकारी के जितने ही दोषी समझे जाते थे।

न्याय-प्रणाली

न्याय करने के ढंग में भी वही भावना व्याप्त थी। हरेक झगड़ा पहले मध्यस्थ लोगों अथवा पंचों के सामने लाया जाता था। बहुत करके उसकी वहीं समाप्ति हो जाती थी। 'बर्बर' समाज में पंच बड़ा महत्वपूर्ण भाग लेते थे। अगर कोई इतना गंभीर मामला होता कि इस तरह फ़ैसल न होता तो वह ग्राम-पंचायत के सामने आता। इस पंचायत के लिए यह आवश्यक था कि वह दण्ड का निर्णय करे और उसको शर्तिया तौर पर घोषित करे यानी इस प्रकार कि "अगर अपराध साबित हो गया तो इतना मुआविजा लिया जाना चाहिए।" यह अपराध इस तरह साबित करना होता था कि छः या बारह आदमी शपथ लेकर उसकी सत्यता अथवा असत्यता के विषय में अपना बयान देते थे। दोनों प्रकार के पंचों में मत-भेद होने की अवस्था में किसी कड़ी परीक्षा के द्वारा निर्णय किया जाता था। इस क्रम पर दो हजार वर्षों से भी अधिक काल तक लगातार अमल होता रहा। उसके महत्व को बताने के लिए अकेली यह बात ही बहुत काफी है। इससे पता चलता है कि समुदाय के सभी सदस्यों में आपस में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसके अलावा, पंचायत के निर्णयो का पालन कराने के लिए उसकी खुद की नैतिक सत्ता के अतिरिक्त और कोई सत्ता न थी। अपराधी व्यक्ति के लिए इतना ही डर रहता था कि समुदाय कहीं उसको विद्रोही क़रार न दे दे लेकिन

यह डर भी पारस्परिक रहता था। पंचायत से असंतुष्ट व्यक्ति यह कह सकता था कि वह जाति को छोड़ कर दूसरी जाति में चला जावेगा। यह बड़ा भयानक खतरा होता था, कारण कि जिस जाति ने अपने एक सदस्य के प्रति पक्षपात किया हो उस पर इस प्रकार एक व्यक्ति के चले जाने से हर तरह की मुसीबतें निश्चित रूप से आ सकती थीं। हेनरीमेन ने बिल्कुल ठीक ही कहा है कि प्रचलित क़ानून के सही निर्णय के विरुद्ध बग़ावत करने की कल्पना भी न की जा सकती थी, क्योंकि उस जमाने में " क़ानून, नैतिकता और सत्य घटना " को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता था; समुदाय की नैतिक सत्ता इतनी प्रबल थी कि ग्राम-पंचायतों ने भू-स्वामियों की अधीनता में आजाने के बहुत काल पीछे तक भी अपने न्याय-सम्बन्धी अधिकारों को क़ायम रक्खा, भू-स्वामी अथवा उसके सहायक को उन्होंने केवल इतनी इजाजत दी कि वह प्रचलित कानून के अनुसार उपर्युक्त प्रकार के शर्तिया दण्ड का 'निर्णय' करदे और पहले जो जुर्माना पंचायत लेती थी वह खुद ले ले। किन्तु इसके पूर्व भू-स्वामी को प्रचलित क़ानून का पालन करने की शपथ खानी पड़ती थी, समुदाय की अनुपयोगी जमीन पर दूसरे लोगों के साथ-साथ मालिक बने रहने की दशा में स्वयं भू-स्वामी एक बड़े अर्से तक सामुदायिक मामलों में पंचायत के निर्णय मानता रहा था। चाहे वह उच्चवंशीय हो चाहे धर्मध्वजी, उसे पंचायत की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी, " जो यहाँ पानी पीता है और चारागाहों का उपयोग करता है, उस को आज्ञा पालन

करना ही चाहिए।" यह एक पुरानी कहावत है। जिस समय किसान भू-स्वामी के गुलाम बन गये, उस समय भी बुलाये जाने पर स्वामी जन-पंचायत के सम्मुख उपस्थित होने के लिए बँधा हुआ था।

न्याय-सम्बन्धी विचारों में बर्बर मनुष्य और प्राकृत मनुष्यों में बहुत अन्तर नहीं था। उनकी भी यह धारणा थी कि हत्यारे को मृत्यु-दण्ड मिलना ही चाहिए, चोट के बदले में उतनी ही चोट पहुँचाई जानी चाहिए और जिस कुटुम्ब को हानि पहुँची हो, उसके लिए यह आवश्यक था कि वह प्रचलित क़ानून के अनुसार दिये गये दण्ड का भुगतान करे। यह एक पवित्र कर्तव्य माना जाता था, पूर्वजों की सन्तुष्टि के लिए वह नितान्त आवश्यक था। इस कर्तव्य का पालन लुक-छिपकर नहीं, दिन-दहाड़े किया जाता था और आम लोगों को उसकी सूचना दी जाती थी। इसलिए ऐतिहासिक कहानियों और काव्यों में यदि कहीं अत्यन्त स्फूर्तिदायक प्रकरण मिलते हैं तो वहाँ मिलते हैं जहाँ तात्कालिक न्याय की कीर्ति का बखान किया गया है। स्वयं देवता-गण उसमें सहायता देने के लिए उनके साथ सहयोग करते थे। फिर भी बर्बरी न्याय की मुख्य विशेषता यह है कि एक ओर तो वह उन व्यक्तियों की संख्या मर्यादित कर देता है, जिनको किसी एक झगड़े में शामिल किया जा सकता हो और दूसरी ओर खून के बदले खून और जख्म के बदले जख्म के पाशविक विचार को नष्ट कर उसके स्थान मे वह मुआवजे की पद्धति प्रस्थापित करता है। बर्बर क़ानूनों ने पहले बदले के स्थान में मुआविजा

दिलाये जाने की अनुमति दी, फिर उस विचार को प्रोत्साहन दिया और अन्त में उसपर अमल कराना शुरू कर दिया। ये. क़ानून आम नियमों के संग्रह होते थे जिनको न्यायाधीशों के उपयोग के लिए लेखबद्ध कर दिया जाता था। किन्तु उन लोगों ने मुआविजे के अर्थ को बिलकुल ही ग़लत समझा है, जिन्होंने उसे जुर्माने के रूप में लोगों के सामने रक्खा है और बताया है कि उसके अनुसार धनिकों को जो मन में आये, एक प्रकार से वही करने की खुली छूट दे दी गई थी। मुआविजे का रुपया जुर्माने से बिलकुल ही भिन्न होता था। वह सभी क़िस्म के क्रियात्मक अपराधों के लिए आमतौर पर इतने अधिक परिमाण में दिलाया जाता था कि उससे निस्सन्देह ही उन अपराधों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिल सकता था। हत्या के मामले में बहुधा वह हत्यारे की सारी सम्पत्ति से अधिक होता था। काकेससी ओसेट लोगों में उस मुआविजे की संख्या '१८ की १८ गुनी गायें' निश्चित है। ये लोग इस संख्या से अधिक गिनना नहीं जानते और इसीलिए '१८ की १८ गुनी गायें' बोलते हैं। अफ्रिका की जातियों में यह संख्या बच्चे-बच्चियों सहित ८०० गायों अथवा १०० ऊँटों तक या ग़रीब जातियों में ४१६ भेड़ों तक पहुँच जाती है। अधिकांश मामलों में मुआविजे का रुपया बिलकुल ही नहीं दिया जा सकता था। उस दशा में हत्यारे के पास सिवाय इसके और कोई उपाय नहीं रह जाता था कि वह पश्चात्ताप करके पीड़ित कुटुम्ब को उसे अपना लेने के लिए राजी करे। काकेसस लोगों में आज भी जब झगड़ों का खात्मा होता है तो अपराधी

व्यक्ति पीड़ित जाति की सबसे बुड्ढी स्त्री के स्तनों से अपने ओठ छुआकर उस जाति के सब आदमियो के साथ भाई का रिश्ता क़ायम कर लेता है। अफ्रिका की कई जातियों में अपराधी व्यक्ति पीड़ित कुटुम्ब के किसी भी एक आदमी के साथ अपनी लड़की या बहन को शादी कर देता है। दूसरी जातियों में जिसके पति को उसने मारा हो, उस स्त्री के साथ उसे विवाह करना पड़ता है। यह बात तो सभी जातियों में पाई जाती है कि अपराधी पीड़ित कुटुम्ब का सदस्य बन जाता है। इस तरह एक बार सदस्य बन जाने के बाद सभी महत्वपूर्ण कौटुम्बिक मामलों में उसकी सलाह ली जाती है।

बर्बर जातियों ने मनुष्य के प्राणों की कभी उपेक्षा नहीं की। वे उन सजाओं की बात तक न जानते थे जिनका बाद के युग में सर्व-साधारण लोगों और पादरियों ने रोमन और बिजेण्टाइन सभ्यता से प्रभावित होकर आविष्कार किया था। कारण कि जहाँ सेक्सन जातियो के क़ानून में अकारण आग लगा देने और सशस्त्र डाकाज़नी करने तक के मामलों में मुक्तहस्त होकर मृत्युदण्ड दिया जाता था, वहाँ अन्य बर्बर क़ानून अपने कुटुम्बियों के साथ विश्वासघात करने और सामुदायिक देवताओं की वस्तुयें चुरा लेने के मामलों में ही मृत्यु दण्ड देते थे। बर्बर लोग समझते थे कि देवताओं को केवल एक इसी उपाय से सन्तुष्ट किया जा सकता है। ये सिद्धान्त वेल्शियन सूत्रो, आर्थर राजा के किस्सों, ब्रेहन के भाष्यों, पुराने जर्मन क़िस्सों आदि में प्रकट हुए थे और आधु-

नीति-सम्बन्धी बातें

निक बर्बर जातियों की कहावतों में अब भी प्रकट होते हैं। जार्ज डेसेण्ट ने अपने एक उपन्यास (The Story of Burnt Njal) की भूमिका में उत्तरी लोगों की विशेषताओं का संक्षेप में इस प्रकार ठीक-ठीक उल्लेख किया है:—

"उत्तर-निवासी शत्रु, भूत-प्रेत या भाग्य के भय से रहित होकर अपने कर्तव्य को खुले तौर पर और एक मर्द की भांति पूरा करता है।.....वह अपने कार्यों में स्वतन्त्र और साहसी होता है; मित्रों और रिश्तेदारों के साथ वह सज्जनोचित और उदार व्यवहार करता है; हानि पहुँचानेवाले शत्रुओं के प्रति वह कठोर और क्रूर होता है, किन्तु उनके साथ भी वह सभी निश्चित कर्तव्यों को पूरा करता है।...... वह संधि भंग नहीं करता, न ग़लत अफवाहें फैलाता है और न चुगली ही खाता है। किसी आदमी के विरुद्ध वह ऐसी बात नहीं कहता, जिसे वह स्वयं उसके सामने नहीं कह सके। अपने द्वार पर भोजन या आश्रय प्राप्त करने के लिए आनेवाले किसी भी व्यक्ति को वह निराश नहीं जाने देता, चाहे वह उसका दुश्मन ही क्यों न हो।"

वेल्शियन सूत्रों और ऐतिहासिक काव्यों में सर्वत्र ऐसे या इससे भी अच्छे सिद्धान्त मिलते हैं। क़ानून-निर्माता कवि वालिस कहता है बिना शत्रु-मित्र का भेद किये 'नम्रतापूर्वक और समानता के सिद्धान्तानुसार आचरण करना' और 'अपराध का परिमार्जन' मनुष्य के सब से बड़े कर्तव्य हैं, 'बुराई मृत्यु और भलाई जीवन है।' ब्रहन क़ानून कहता है—"यदि जबानी इक़रारनामों का पालन न किया जाय तो दुनिया मूर्खों का घर

हो जायगी।" और विनीत मोरडोवियन तांत्रिक इन गुणों की तो प्रशंसा करेगा ही, इसके अलावा प्रचलित क़ानून के सिद्धान्तों में यह और जोड़ देगा कि "पड़ोसियो में गाय और दूध का घड़ा सब के उपयोग के लिए है", "गाय का दूध अपने लिए ही मत निकालो, उसमें दूसरो का हिस्सा भी समझो", "बच्चों का शरीर पीटने से लाल हो जाता है, किन्तु पीटने वाले का चेहरा शर्म से लाल हो जाता है," आदि-आदि। बर्बर मनुष्यों ने इस प्रकार के अनेक सिद्धान्त कहे है और उनके अनुसार आचरण किया है। उनके वर्णन में पृष्ठ के पृष्ठ रंगे जा सकते हैं।..

प्राचीन ग्राम्य-समुदायों की एक और विशेषता का खास-तौर पर उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। यह विशेषता है एक सगठन के अधीन मनुष्यों की संख्या का धीरे-धीरे बढ़ना। न केवल कुनबों में मिलकर रहने वाली जातियाँ, बल्कि भिन्न उद्गम वाले कुनबे भी एक बड़े संघ मे शामिल होते थे। उनमें बड़ी गहरी एकता होती थी। उदाहरण के लिए वण्डल लोगों के आचरण को देखिए। उनके संघ में सम्मिलित कुछ व्यक्ति पहले तो राइन प्रदेश मे गये और वहाँ से स्पेन और अफ्रिका चले गये, किन्तु शेष बचे हुए व्यक्तियों ने चालीस वर्ष तक परित्यक्त प्रदेश और गाँवों की ओर मुँह उठाकर भी नहीं देखा। अपने दूत भेज कर उन्होंने जब यह निश्चय कर लिया कि उनके साथी वापस लौटकर आने वाले नहीं हैं; तभी उन्होंने परित्यक्त जगहो पर अधिकार किया। अन्य बर्बर जातियों में कुनबे के कुछ लोग खेती करते थे और कुछ सामु-

एक और विशेषता

दायिक प्रदेश की सीमाओं पर या दूसरे प्रदेशों में लड़ने के लिए जाते थे। अनेक कुनबों का मिलकर एक संघ बना लेना तो बिलकुल मामूली बात थी। सिकम्बर चेससक्यु और सुवे लोगों के साथ, कुआदे समेंटे लोगों के साथ, समेंटे अलन, कार्प और हूण लोगों के साथ एक संघ में शामिल हुए। इसके बाद हमें युरोप में धीरे-धीरे राष्ट्र के विचार का विकास होता दिखाई देता है। बर्बर जातियों-द्वारा अधिकृत महाद्वीप के किसी भी हिस्से में राज्यसंस्था जैसी कोई वस्तु के जन्म होने से यह बहुत पहले की बात है। मेरोविनजियन फ्रांस अथवा ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी से रूस को राष्ट्र के नाम से सम्बोधित न करना असम्भव है। इन राष्ट्रों के एक सूत्र में बँधे रहने की केवल यह कुंजी है कि उनमें एक भाषा बोली जाती थी और छोटे-छोटे प्रजातन्त्रों ने यह ठहराव कर लिया था कि वे अपने सरदारों का चुनाव कुटुम्ब-विशेष में से ही करेंगे।

सैनिक जाति के जन्म का कारण

निस्सन्देह युद्ध अवश्यम्भावी थे, सामूहिक प्रवास का अर्थ ही युद्ध होता है; किन्तु सर हेनरीमैन अन्तर्जातीय क़ानून के सम्बन्ध में एक उत्तम पुस्तक लिखकर यह पूर्णतया सिद्ध कर चुके हैं, "मनुष्य कभी इतना भयंकर अथवा मूर्ख जीव नहीं रहा कि उसने युद्ध—जैसे दुष्कृत्य के आगे बिना उसको रोकने का कुछ प्रयत्न किये सिर झुकाया हो।" सर हेनरी ने बताया है कि उन प्राचीन संस्थाओं की तादाद कितनी अधिक थी जो युद्ध को रोकने अथवा उसका प्रकारान्तर खोजने का काम करती थी।

मनुष्य को युद्धप्रियप्राणी समझा जाता है, किन्तु वास्तव में वह इस बात से कोसों दूर है। उदाहरण के लिए जब बर्बर मनुष्य एक बार बस गये तो उनका लड़ाई-झगड़े करने का स्वभाव इतनी तेजी के साथ नष्ट हुआ कि उन्हे सम्भव आक्रमणकारियों से आत्मरक्षार्थ सरदार और उमराओं को एक अलग जाति बना देनी पड़ी और योद्धाओं के विशेष दल खड़े करने पड़े। वे लड़ाई की अपेक्षा शान्ति के साथ श्रम करने को अधिक पसन्द करते थे। मनुष्य की शान्ति-प्रियता के कारण ही सैनिक पेशे को विशेषता प्राप्त हुई है। इस विशेषता ने आगे चलकर मनुष्य को गुलामी के गर्त में डाला और मानव-इतिहास के 'राज-सत्ता-कालिक' सभी युद्धों का कारण बनी।

इतिहासकार की कठिनाइयां

बर्बर जातियो की संस्थाओं का सच्चा चित्र खींचने में इतिहास को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। हर क़दम पर इतिहासकार को कुछ ऐसे अस्पष्ट संकेत मिलते है कि वह केवल अपने प्रमाणों की सहायता से ही उनका तात्पर्य नहीं समझा सकता। किन्तु आज भी बहुत-सी ऐसी जातियाँ हैं जिनका सामाजिक संगठन प्राचीन बर्बर जातियों के संगठन से क़रीब-क़रीब मिलता-जुलता है। जब हम इन जातियो की संस्थाओं पर दृष्टि डालते हैं तो भूतकाल पर भी गहरी रोशनी पड़ जाती है। उस दशा में हमारे सामने कठिनाई है तो यही कि हम किन जातियो का अवलोकन करें, कारण कि प्रशान्त महासागर के द्वापू, एशिया की तराइयाँ और अफ्रिका के पठार सच्चे ऐति-

हासिक अजायबघर हैं। प्राकृत मनुष्य के वंशगत संगठन से लगाकर राज्य-सत्ता के संगठन तक मनुष्य-जाति जिन-जिन बीच की स्थितियों में रही है, उन सभी सम्भव स्थितियों के नमूने इन अजायबघरों में मिलते हैं। तो आइए, इनमें से कुछ नमूनों पर हम विचार करें।

कुछ नमूनों पर विचार

मंगोली बुरयातों, खास कर लीना नदी के ऊपरी भाग में स्थित कुदिंस्क तराई के बुरयातों की ग्राम-पंचायतों को लीजिए। अन्य समुदायों की अपेक्षा ये रूसी प्रभाव से अधिक अछूती रही है। यहाँ हमें पशु-पालन और कृषि के बीच की परिवर्तन-शील स्थिति में रहने वाले बर्बर मनुष्यों के अच्छे नमूने मिलते हैं। ये बुरयात अब भी 'संयुक्त कुटुम्बों' में रहते हैं। यद्यपि पुत्र का विवाह होने पर वह अलग झोपड़ी में रहने लगता है, तथापि कम से कम तीन पीढ़ी तक ये झोपड़ियाँ एक ही अहाते में रहती हैं। संयुक्त कुटुम्ब अपने खेतो में मिलकर काम करते हैं, घर-गृहस्थी और पशुओं तथा ' बछड़ों के रखने की जगहों' पर सम्मिलित अधिकार होता है। (बछड़ों का पालन करने के लिए जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों में नरम घास उगाई जाती है और उसके चारों ओर बाढ़ कर दी जाती है।) आमतौर पर खाना हरेक झोपड़ी में अलग-अलग खाया जाता है, किन्तु जब मांस पकाया जाता है तो संयुक्त कुटुम्ब के २० से लगाकर ६० आदमी तक एक साथ भोजन करते हैं। ग्राम-पंचायत में पास-पास रहने वाले कई संयुक्त और उसी गांव में बस जाने वाले कई छोटे-छोटे कुटुम्ब

शामिल होते है। कई ग्राम-पंचायतों की मिलकर एक जाति बनती है और कुदिस्क तराई की ४६ जातियों का एक बड़ा संघ होता है। खास आवश्यकता पैदा होने पर कई जातियाँ इस से छोटे या घनिष्ठतर संघ भी बना लेती है। वे जमीन को व्यक्तिगत सम्पित्त नहीं मानते, उस पर पंचायत का, या यों कह लीजिए, पंचायत-संघ का, सम्मिलित अधिकार होता है। आवश्यकता पड़ने पर जातीय पंचायत विभिन्न कौटुम्बिक पंचायतों में और पंचायत-संघ की बैठक ४६ जातियों में प्रदेश का पुनर्विभाजन करती है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि यद्यपि पूर्वी साइबेरिया के बुरयातों को रूसी शासन X के अधीन रहते तीन शताब्दियाँ बीत चुकीं और वे रूसी संस्थाओ से भली-भाँति परिचित हो चुके है, फिर भी उनमें उपर्युक्त प्रकार का संगठन ही प्रचलित है। पूर्वी साइबेरिया में बुरयातो की आबादी २ लाख ५० हजार है।

यह सब होते हुए भी, बुरयातों में साम्पत्तिक असमानताओं का तेजी के साथ विकास होता है, विशेष कर इसलिए कि रूसी सरकार उनके निर्वाचित राजाओ को बहुत अधिक महत्व दे रही है। वह उनको लगान-वसूली के लिए उत्तरदायी समझती है और रूसी लोगों के साथ शासन-कार्य में और व्यापारिक सम्बन्धों तक में उनको पंचायत-संघो का प्रतिनिधि मानती हैं। इस प्रकार थोड़े से लोगों के धनवान बनने के अनेक मार्ग हैं, इसके अलावा

X रूसी सरकार से मतलब बोल्शेविक सरकार से नहीं, जार सरकार से है। जब यह पुस्तक लिखी गई थी उस समय रूस में जार की सरकार कायम थी।

बुरयाती जमीनों पर रूसी लोगों का आधिपत्य जमते जाने के कारण एक बड़ी तादाद में लोग साथ-साथ दरिद्र होते जाते हैं। किन्तु बुरयातो, विशेष कर कुदंस्की बुरयातो में यह रिवाज है कि यदि किसी कुटुम्ब के पास पशु न रहे तो धनिक कुटुम्ब उसको कुछ गायें और घोड़े दे देते हैं ताकि वह अपनी दरिद्रता दूर कर सके। इस रिवाज का क़ानून से भी अधिक महत्व है। कोई कुटुम्ब-हीन असहाय आदमी हुआ तो वह अपनी जाति की झोपड़ियो में भोजन करता है। वह एक झोपड़ी में प्रवेश करता है और भीख मांगने के लिए नही, अधिकार समझ कर चूल्हे के आगे बैठता है तथा उस कुटुम्ब के साथ भोजन करता है। भोजन हमेशा बराबर बाँटा जाता है। जहाँ वह शाम को भोजन करता है, वहीं वह सोता है। साइबेरिया के रूसी विजेताओ को बुरयातों के साम्यवादी आचरण देखकर इतना आश्चर्य हुआ कि वे उनको 'भाई लोगों' के नाम से पुकारने लगे। उन्होंने रूस को रिपोर्ट भेजी कि "उनमें प्रत्येक वस्तु सार्वजनिक मानी जाती है; जो कुछ उनके पास होता है, उसका सब मिलकर उपयोग करते है।" आज भी जब लीना नदी के किनारे रहने वाले बुरयात अपना नाज बेचते हैं या अपने पशुओं को किसी रूसी क़साई के हाथों बेचने को भेजते हैं तो ग्राम-पंचायत या जातीय संगठन के अधीनस्थ कुटुम्ब अपने नाज और पशुओं को साथ-साथ रखते हैं और सबको एक मुश्त बेच देते हैं। इसके अलावा हर एक पंचायत आवश्यकता पड़ने पर क़र्ज देने के लिए नाज का एक कोठार रखती है। उसके अधीन एक सार्वजनिक भोजन-शाला

और एक लुहार भी रहता है। इस लुहार को हिन्दुस्तानी लुहार की भाँति समुदाय का काम करने की कुछ मजदूरी नहीं दी जाती, कारण कि वह उसी समुदाय का एक सदस्य होता है। उसे समुदाय का सब काम मुफ्त में करना पड़ता है। वह अपने फ़ालतू समय में क़लई और नक़्शदार लोहे की छोटी-छोटी तश्तरियाँ बनाता है। इन तश्तरियों को वह कभी-कभी दूसरी जाति की स्त्रियों को भले ही बेच दे, किन्तु अपनी जाति की स्त्रियों को तो उन्हें भेंट में ही देनी पड़ती है। बुरयात प्रदेश में ये तश्तरियाँ पोशाक को सजाने के काम में आती है। समुदाय के भीतर आपस में क्रय-विक्रय नहीं हो सकता। इस नियम का इतनी कड़ाई के साथ पालन होता है कि धनवान कुटुम्ब को मजदूर भी दूसरी जाति से या रूसी लोगों में से लेना पड़ता है। यह रिवाज अकेले बुरयात लोगों की ही विशेषता नहीं है, वह आधुनिक बर्बर जातियो, आर्यों, यूरल अलत्यनों मे इतने विस्तार के साथ फैला हुआ है कि हमारे पूर्वजो मे तो वह अवश्य ही सार्वत्रिक रूप में रहा होगा।

जातियों के समान हितों, पंचायतों और त्याहारों के जरिये पंचायत-संघ के भीतर एकता की भावना जीवित रखी जाती है।

एकता की भावना

जब-जब पंचायतों की बैठकें होती है, तब-तब आम तौर पर त्यौहार मनाये जाते हैं। एक और प्रथा है जिसके द्वारा एकता की इस भावना को क़ायम रखा जाता है। वह प्रथा है मिलकर शिकार खेलने की। यह रिवाज अत्यन्त प्राचीन काल का स्मृति-चिन्ह है। हर बसन्त काल में

कुर्दिस्क की ४६ जातियां सम्मिलित शिकार खेलने के लिए एकत्र होती हैं और शिकार कर चुकने के बाद मांस सब कुटुम्बों में बराबर बांट लिया जाता है। इसके अलावा, समस्त बुरयाती जाति की एकता पर जोर देने के लिए समय-समय पर जातीय शिकारो का आयोजन किया जाता है। इन अवसरों पर बेकाल झील के पूर्व और पश्चिम में सैकड़ो मील के घेरे में फैले हुए बुरयाती खानदानों को अपने शिकारी प्रतिनिधि भेजने पड़ते हैं॥ महीने-महीने भर का खाने का सामान अपने साथ लेकर हजारों आदमी इकट्ठे होते हैं। हर एक के सामान का हिस्सा सब लोगों के हिस्से के बराबर होना चाहिए, इसलिए सब सामान का ढेर करने के पहले हर एक का हिस्सा एक वृद्ध अनुभवी निर्वाचित व्यक्ति तौलता है। (यह तुलाई सदा 'हाथ' से होती हैं, तराजू बाट का नाम लेना तो पुराने रिवाज को भ्रष्ट करना समझा जाता है।) तुलाई हो चकने के बाद शिकारी बीस-बीस के दलों में विभक्त होकर एक सुनिश्चित योजना के अनुसार शिकार के लिए चल देते हैं। शिकार के इन आयोजनो में सारी बुरयात जाति अपनी उस समय की ऐतिहासिक प्रथाओं को पुनरुज्जीवित कर देती है जिस समय कि वह एक शक्तिशाली संघ के रूप में संगठित थी। असुरी नदी के किनारों पर रेड इण्डियनों और चीनियों में इस प्रकार के सामुदायिक शिकारों का आम तौर पर रिवाज है।

कबिले लोगों के रहन-सहन का फ्रांसीसी अन्वेषक यात्रियों ने बड़ा अच्छा वर्णन लिखा है। कृषि की दृष्टि से इस बर्बर जाति को और उन्नत कहा जा सकता है। ये अपने खेतों की भलीभांति देख-भाल करते हैं; सिंचाई करते हैं, खाद डालते है। पहाड़ी भागों में जमीन के प्रत्येक उपलब्ध हिस्से में फावड़े से खेती की जाती है। कबिले जाति के जीवन-काल में अनेक उतार-चढ़ाव हुए हैं। कुछ समय तक उन्होंने मुस्लिम विरासती क़ानून का पालन किया, किन्तु वह उनके अनुकूल न पड़ा और इसलिए १५० वर्ष हुए, उन्होंने पुनः अपने प्राचीन जातीय रिवाज का आश्रय ले लिया है। इस क़ानून के अनुसार जमीन की मिल्कियत का मिश्रित स्वरूप है; जमीन व्यक्तिगत सम्पत्ति होने के साथ-साथ सामुदायिक सम्पत्ति भी मानी जाती है। फिर भी ग्राम-पंचायत ही उनके वर्तमान संगठन का आधार है। उनकी ग्राम-पंचायत कई संयुक्त कुटुम्बों और अजनबी लोगों के छोटे-छोटे कुटुम्बों से मिलकर बनती है; वह अपनी मौलिक उत्पत्ति का दावा रखती है। कई गांव मिलकर एक जाति और कई जातियां मिलकर एक संघ बनाती हैं। कभी-कभी अनेक संघ, मुख्यतया आत्म-रक्षार्थ, एक बड़े संघ में भी सम्मिलित हो जाते है।

कृषि-कार्य में—

कबिले लोगों में जन-पंचायत के अतिरिक्त और किसी सत्ता का अस्तित्व नहीं है। प्रत्येक बालिग़ व्यक्ति इस जन-पंचायत की बैठकों में हिस्सा लेता है। ये बैठकें मैदानों में अथवा खास तौर पर बनी हुई इमारतों में होती हैं जिनमें बैठने के लिए पत्थर की कुर्सियां बनी होती है। पंचायत के निर्णय एकमत से होते हैं, अर्थात् विवाद तबतक चलता रहता है, जब तक सभी उपस्थित व्यक्ति एकमत न हो जायँ या एक फैसले के आगे अपना सिर न झुका लें। ग्राम्य-पंचायत में किसी फ़ैसले को मनवाने के लिए किसी तरह की सत्ता न होने के कारण, जहाँ कहीं ग्राम्य-पंचायते रही है, वहां मानव-जाति ने इसी पद्धति का अनुसरण किया है। आज भी जहाँ कहीं ग्राम-पंचायतें हैं, वहाँ उनका अनुसरण किया जाता है। अर्थात् दुनिया में सर्वत्र करोड़ो आदमी इस पद्धति का पालन करते हैं। जन-पंचायत अपनी कार्य-कारिणी निर्वाचित करती है जिसमें एक वयोवृद्ध सभापति, एक लेखक और एक कोषाध्यक्ष होता है। वह अपने कर स्वयं निश्चित करती है और सार्वजनिक जमीनों के पुनर्विभाजन की तथा सार्वजनिक लाभ के सभी किस्म के कार्यों की व्यवस्था करती है। काम एक बड़े परिमाण में मिलकर किया जाता है। सड़के, मस्जिदें, फव्वारे, कृषि को सींचने की नहरें, लुटेरों से रक्षा पाने के लिए खड़े किये गये बुर्ज, अहाते आदि ग्राम-पंचायतें ही बनाती है। बड़ी सड़को, बड़ी मस्जिदों और बड़े-बड़े बाजारो का निर्माण जाति के हाथों होता है। सामुदायिक संस्कृति के अनेक चिन्ह अब तक विद्यमान

पंचायत ही मुख्य संस्था है

हैं। मकानात गाँव के सब स्त्री-पुरुषों के द्वारा या उनकी सहायता से बनाये जाते हैं। कुल मिलाकर उनका यह 'सहयोग' आये दिन की बात है, खेतों के बोने, जोतने और फ़सल काटने आदि के लिए उसका बराबर आवाहन किया जाता है। कारीगरी के काम के लिए प्रत्येक समुदाय में एक लुहार होता है। यह अपने हिस्से की जमीन का उपभोग करता है और समुदाय का काम करता है। जब जमीन जोतने का समय नजदीक आता है तो वह घर-घर जाकर औजारो तथा हलों की मरम्मत कर देता है। इस काम के लिए वह किसी मजदूरी की आशा नही करता। नये हल बनाना तो इतना पवित्र कर्तव्य समझा जाता है कि उसका बदला रुपये अथवा अन्य किसी वेतन के रूप में दिया ही नहीं जा सकता।

चूँकि कबिलों में व्यक्तिगत सम्पत्ति का पहले से ही अस्तित्व है, इसलिए उनमें प्रकटतः धनी और दरिद्र दोनो ही

धनी और दरिद्र

क़िस्म के लोग हैं। किन्तु उन सब लोगो की भांति जो नजदीक-नजदीक रहते है, वे यह जानते हैं कि दरिद्रता का प्रारम्भ किस तरह होता है, वे उसे एक ऐसी घटना समझते हैं, जिसका हर कोई शिकार बन सकता है। "यह मत कहो कि तुम्हें कभी भिखारी की झोली न पकड़नी होगी, या जेल न जाना होगा।" यह रूसी क़िसानों की एक कहावत है। कबिले इस कहावत के अनुसार आचरण करते हैं; धनिक और दरिद्र के पारस्परिक बाहरी व्यवहार में कोई अन्तर नहीं दिखाई दे सकता। जब कोई गरीब सामुदायिक 'सहयोग'

का आवाहन करता है तो जिस प्रकार बदले में ग़रीब लोग बारी-बारी से उसके खेत में काम करते हैं, उसी प्रकार धनवान भी काम करते हैं ।× इसके अतिरिक्त जन-पंचायत (जमाअत) कुछ बाग़-बग़ीचे और खेत सबसे अधिक ग़रीब लोगों के उपयोग के लिए अलग रख देती है। ये बाग़-बग़ीचे और खेत कभी-कभी सम्मिलित प्रयत्न से तैयार किये जाते हैं। इस तरह के अनेक रिवाज बने हुए हैं। चूँकि अधिक दरिद्र कुटुम्ब मांस नहीं ख़रीद सकते, इसलिए जुर्मानों के रुपयो से, या जन-पंचायत को भेंट में मिलनेवाली रक़म से अथवा सार्वजनिक जैतूनी तैल के कुण्डो के लिए आई हुई रक़म से नियमित रूप से मांस ख़रीदा जाता है और उन लोगों में बराबर-बराबर हिस्सों में बाँट दिया जाता है जो स्वयं नही ख़रीद सकते। बाजार के दिन के अलावा अन्य किसी दिन यदि कोई कुटुम्ब अपने उपयोग के लिए भेड़ या बैल को हलाल करता है तो इस बात की सूचना सड़कों पर डुग्गी पीटकर दी जाती है ताकि बीमार आदमी और गर्भवती स्त्रियाँ अपनी आवश्यकतानुसार मांस ले जा सकें। कबिले जीवन की नस-नस में पारस्परिक सहायता देने की भावना प्रवाहित होती

× सहयोग का आवाहन करने के लिए यह आवश्यक होता है कि समुदाय को किसी न किसी प्रकार का भोज दिया जाय। मेरे एक काकेशमी मित्र का कहना है कि जार्जिया में जब एक गरीब आदमी 'सहयोग' का आवाहन करता है तो वह भोज के के लिए धनिक व्यक्ति से एक दो भेड़ उधार ले जाता है । समुदाय के लोग अपने काम के अलावा इतनी सामग्री अपने साथ ले आते हैं कि गरीब आदमी अपना कर्ज चुका सकता है। मारडोवियनों में भी ऐसी ही प्रथा है।

रहती है। यदि कोई सम्पन्न व्यक्ति दूर देश की यात्रा कर रहा हो और वहाँ किसी अन्य जरूरतमन्द क़बीले की उससे भेंट हो जाय तो वह अपनी सम्पत्ति और प्राणों तक को ख़तरे में डाल कर उसकी सहायता करेगा। कहीं उसने ऐसा नहीं किया तो उपेक्षित व्यक्ति की जन-पंचायत इस बात की शिकायत कर सकती है। इस पर स्वार्थी व्यक्ति की जन-पंचायत तुरन्त क्षति-पूर्ति कर देती है। मध्यकालिक व्यापारिक क़ाफ़िलों में ठीक इसी प्रकार की प्रथा प्रचलित थी। कबिले गाँव मे प्रवेश करनेवाला प्रत्येक अजनबी अधिकारतः सर्दियो में मकान के भीतर ठहर सकता है और हर समय उसके घोड़े सार्वजनिक जमीन पर चौबीस घण्टे तक चर सकते हैं। किन्तु आवश्यकता के समय वह असीम सहायता की आशा रख सकता है। १८६७-६८ के दुष्काल में जो कोई भी उनके गाँवों में आश्रय की तलाश में गया, उन्होने विना इस बात का विचार किये कि वह किस जाति का है, उसको आश्रय दिया और भोजन खिलाया। इस रीति से डेलीस जिले में कम से कम १२ हजार लोगों को आश्रय मिला, जो अलजीरिया के सभी हिस्सों और मोरक्को तक से आये थे। जहाँ एक ओर अलजीरिया में लोग भूख के मारे मरते रहे, वहाँ दूसरी ओर कबेलियन प्रदेशों में उस कारण से एक भी मृत्यु नही हुई। जन-पंचायतों ने अपनी आवश्यकताओ को सीमित करके दुष्काल-निवारण कार्य का संगठन किया। उन्होने सरकार से कभी कोई सहायता नहीं माँगी, न जरा भी चूँ-चरा की। उन्होने तो इसको अपना स्वाभाविक कर्तव्य समझा। दुष्काल के समय युरोपीय

बाशिन्दों में अजनबी लोगों की इस दौड़ा-दौड़ी के फलस्वरूप होनेवाली चोरियों और अव्यवस्था को रोकने के लिए हर क़िस्म का पुलिस को बन्दोबस्त करना पड़ा, किन्तु कबिले-प्रदेश में वैसा कुछ भी न करना पड़ा। जन-पंचायतों को न तो बाहर से सहायता की आवश्यकता हुई न संरक्षण की। ×

दो अन्य विशेषतायें

कबिले जीवन की दो अन्य अत्यन्त मनोरंजक वशेषताओं का मैं केवल सरसरी तौर पर ही उल्लेख करूँगा। एक विशेषता को अनाय और दूसरी को कोफ कहते है। अनाय प्रथा के द्वारा युद्धकाल में कुओं, नहरों, मस्जिदों, बाजारों और कुछ स कों आदि की रक्षा की जाती है। इस प्रथा में युद्ध के दुष्परिणामों को कम करने और संघष को रोकने, इन दोनों ही बातों का, लिहाज रक्खा गया है। इस रीति से बाजार खासकर यदि सीमान्त पर स्थित हो और जिसमें अजनबी और कबिले दोनो ही एकत्र होते हों तो अनाय स्थल समझा जाता है। बाजार में शान्ति भंग करने का किसी को भी साहस नहीं होता; यदि कोई उपद्रव होता है तो बाजारवाले क़स्बों में एकत्र अजनबियों द्वारा तुरन्त दबा दिया जाता है। जिस सड़क से गाँव की स्त्रियाँ चश्मे पर पानी भरने जाती हैं, वह भी युद्धकाल में अनाय सड़क समझी जाती है, आदि। 'कोफ' संगठन का एक व्यापक रूप है जिसका उद्देश्य पारस्परिक संर-

× मगोली लोग भी अजनबियों के प्रति इसी तरह से आदर प्रदर्शित करते हैं। अगर किसी मगोली ने एक अजनबी व्यक्ति को आश्रय नहीं दिया और इस कारण उसको गहरा नुक़सान पहुँच गया तो मंगोल हत्या जितना मुआवजा देता है।

क्षण और राजनैतिक, बौद्धिक, और अन्य मानवीय भावनाओं का विकास करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति ग्राम्य, जाति और जाति-संघ जैसे प्रादेशिक संगठनो द्वारा नहीं हो सकती। कोफ में प्रादेशिक सीमाओं का विचार नहीं किया जाता। भिन्न-भिन्न गाँवों में रहनेवाले लोग, यहाँ तक कि अजनबी भी, इस संगठन के सदस्य बनाये जाते हैं। इनकी वह जीवन में होनेवाली सभी सम्भव आकस्मिकताओ से रक्षा करता है। सार यह कि यह प्रादेशिक संगठन को प्रादेशेतर संगठन द्वारा दृढ़ करने का प्रयत्न है जिसका उद्देश्य सीमा प्रदेशों के भी आगे सभी क़िस्म के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रदर्शित करना है। व्यक्तिगत रुचि और विचारो के अनुसार स्वतन्त्र अन्तर्जातीय संघों की स्थापना को हम आधुनिक जीवन की एक उत्तम विशेषता समझते है, किन्तु इसका जन्म बर्बरीय प्राचीनता में ही हुआ है।

अन्य बर्बर जातियों में

काकेसिया के पहाड़ी लोगों में भी इसी क़िस्म के अत्यन्त उपयोगी उदाहरण पाये जाते हैं। प्रोफेसर कोवलेवस्की ने ओसेटे लोगों के वर्तमान रिवाजो अर्थात् उनके संयुक्त कुटुम्बों, उनकी पंचायतो और उनके न्याय-संबंधी विचारों का अध्ययन करके 'आधुनिक रीति-रिवाज और प्राचीन क़ानून' नामक एक उपयोगी ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में उन्होने प्राचीन बर्बरीय क़ानूनो के सामुदायिक विकास-क्रम को बताया है और जागीरदारी प्रथा के उद्गम का अध्ययन भी किया है। अन्य काकेससी कुनबों में हमें कहीं-कहीं उन ग्राम-पंचायतो के उद्गम की झांकी मिल जाती है जिनका जन्म एक जातीयता की

भावना से नहीं, वल्कि भिन्न-भिन्न जातीय कुटुम्बों के स्वेच्छा-पूर्वक ऐक्य-सूत्र में बँध जाने से हुआ था । कुछ खेवसोरे गाँवों में थोड़े अर्से पूर्व ऐसा ही हुआ था, ग्रामवासियों ने 'समुदाय और भाईचारे' की शपथ ली । काकेसस के दाग़स्तान नामक दूसरे हिस्सों में हमें दो जातियो में जागीरदारी सम्बन्धों का विकास होता हुआ दिखाई देता है, किन्तु साथ ही दोनो जातियाँ अपने ग्राम-पंचायतो के संगठन को और वंशगत 'श्रेणियो' के चिन्हो को भी क़ायम रखे हुए है। वर्वर जातियों के इटली और गाल-विजय ने क्या स्वरूप ग्रहण किया, इसका दाग़स्तान की जातियों को जीवित उदाहरण कह सकते हैं । विजयी जाति लेज गाइन ने जकातली जिले के कई जार्जियन और तारतार गाँवो पर विजय प्राप्त की, किन्तु उन गॉवों को अलग-अलग कुटुम्बों की अधीनता में नही रखा। उसने जागीरदारों की एक अलग जाति ही बना दी जिसके इस समय तीन गॉवो में १२ हजार घर हैं। इस जाति का कम-से-कम २० जार्जियन और तारतार गॉवों पर सम्मिलित अधिकार है। विजेताओ ने जमीनों को अपनी जातियों में बांट लिया और जातियों ने उस जमीन को बराबर-बराबर अलग-अलग कुटुम्बों में बाँट दिया । उन्होंने अपनी सहायक जातियों की पंचायतों के काम में हस्तक्षेप नहीं किया । ये पंचायतें अब भी उस रिवाज का अनुकरण करती हैं, जिसका जूलियस सीज़र ने उल्लेख किया है। इस रिवाज के अनुसार पंचायत प्रतिवर्ष इस बात का फ़ैसला करती है कि सामुदायिक प्रदेश का कौन-सा हिस्सा जोता जाना चाहिए । इसके बाद जितने कुटुम्ब होते हैं, उतने

उस ज़मीन के हिस्से कर लिये जाते हैं और इन हिस्सों को लाटरी अर्थात् चिट्ठी डाल कर बाँट दिया जाता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जिस लेडगाइन जाति में जमीन को व्यक्तिगत सम्पत्ति माना जाता है और गुलामों को सामुदायिक, उसमें ग़रीब आदमियों का बाहुल्य है और उसी जाति के जार्जियन गुलामों में जो जमीन को सार्वजनिक सम्पत्ति मानते है, ग़रीबों की संख्या बहुत कम है। काकेसिया के पहाड़ी लोगों का प्रचलित क़ानून फ्रांस की लोंगोबार्ड अथवा सेलिक नामक बर्बर जातियों के क़ानून से बहुत-कुछ मिलता है। उस क़ानून में अनेक ऐसी बातें हैं जिन से प्राचीन ब्रर्बर मनुष्यों की न्याय-विधि पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। ये पहाड़ी लोग बड़े भावुक स्वभाव के होते है । वे किसी भी झगड़े में खून-खराबी की नौबत न आने देने के लिए भरसक प्रयत्न करते है । खेवसोरे लोगों में भी ऐसा ही होता है। उनमें झगड़ा पैदा होते ही फौरन तलवारें खिंच जाती हैं किन्तु यदि कोई स्त्री दौड़ कर अपना दुपट्टा बीच में डाल देती है तो तलवारें वापस तुरन्त म्यानों में चलि जाती हैं और झगड़ा शांत हो जाता है। स्त्री का यह दुपट्टा शान्ति का चिन्ह समझा जाता है। अगर कोई झगड़ा समय से पहले शान्त न हो और उसमें किसी का खून हो जाय तो हत्यारे को मुआविजे की इतनी अधिक रक़म देनी पड़ती है कि वह जन्म भर के लिए बर्बाद हो जाता है। इस दुर्भाग्य से वह तभी बच सकता है जब पीड़ित कुटुम्ब उसको अपना ले। इसी तरह अगर किसी तुच्छ से झगड़े में कोई आदमी दूसरे आदमी को तलवार से घायल कर दे तो वह अपनी

जाति की कृपा को सदा के लिए खो बैठता है। प्रत्येक झगड़े को, मध्यस्थल लोग अपने हाथ में ले लेते हैं, वे छोटे मामलो में ६ और गम्भीर मामलों में १० से १५ तक अपनी जाति में से न्यायाधीश चुनते हैं। इनकी निष्पक्षता की रूसी अन्वेषकों ने भी गवाही दी है। इन लोगों में शपथ का इतना महत्व है कि सम्मानित व्यक्ति शपथ खाकर किसी भी आरोप से मुक्त हो सकता है, वैसे साधारण स्वीकारोक्ति ही काफी समझी जाती है। इससे भी अधिक गम्भीर मामलो में खेवसोरे लोग अपना अपराध स्वीकार करने में कभी आगा-पीछा नहीं करते। (निस्सन्देह मेरा तात्पर्य उन खेवसोरों से है, जिन्हे अभी तक आधुनिक सभ्यता ने स्पर्श नहीं किया है।) शपथ तो मुख्यतया साम्पत्तिक झगड़ों-जैसे मामलों में ही ली जाती है। इन मामलों में साधारण बयान के अलावा किसी-न-किसी प्रकार की गवाही की भी जरूरत होती है। ऐसे मामलों में जिन आदमियों की गवाही पर झगड़े का निर्णय निर्भर होता है, वे बड़ी सतर्कता से काम लेते हैं। सार यह कि काकेसस की बर्बर जातियों में किसी भी तरह से न तो ईमानदारी का अभाव है और न अपने भाइयों के अधिकारों के प्रति अनादर का अभाव।

अफ्रीका में इतनी अधिक मात्रा में भिन्न-भिन्न प्रकार की और अत्यन्त मनोरंजक बर्बर-संस्थायें मिलती हैं कि मुझे यहाँ उन संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन के मुख्य निष्कर्ष देने का विचार भी त्याग देना चाहिए। वहाँ प्रारम्भिक ग्राम-पंचायतों से लगाकर एक-तंत्री बर्बर

अफ्रीका की बर्बर जातियाँ

राजसत्ता तक की बीच की सभी संस्थायें विद्यमान हैं। यहाँ तो इतना कह देना ही काफी होगा कि भयंकर से भयंकर स्वेच्छाचारी राजाओं की अधीनता तक में ग्राम्य समुदायों की जन-पंचायतों तथा उनके प्रचलित क़ानून की सत्ता बहुत से मामलों में सर्वोपरि बनी हुई है। राज्य-क़ानून ने राजा को इस बात का अधिकार दे रखा है कि वह केवल वहम के वश होकर अथवा अपनी रक्त-पिपासा की तृप्ति के लिए किसी भी व्यक्ति के प्राणों का अन्त कर सकता है, किन्तु लोगों का प्रचलित क़ानून पारस्परिक सहयोग के लिए निर्मित संस्थाओं के उसी जाल को क़ायम रखे हुए है जो अन्य बर्बर जातियों में मौजूद है या जो हमारे पूर्वजों में मौजूद था। बोरनू, उगाण्डा, अबीसीनिया के कुछ खुशक़िस्मत कुनबों और ख़ासकर बोगों के प्रचलित क़ानून में कुछ बातें तो ऐसी हैं जो वास्तव में सुन्दर और कोमल भावनाओं द्वारा प्रेरित हैं।

अमेरिका की बर्बर जातियाँ

दोनों अमेरिका के मूल निवासियों की ग्राम-पंचायतों की भी यही अवस्था है। ब्रेजील की सारी की सारी टुपी जाति 'लम्बे मकानों' में रहती हुई पाई गई थी। वह सम्मिलित खेती किया करती थी। आरनी लोग, जो सभ्यता की दृष्टि से बहुत आगे बढ़े हुए हैं, मिलकर खेती करते थे। यही बात उकागा लोगों के बारे में भी कही जा सकती है। प्रारम्भिक साम्यवाद और 'लम्बे मकानों' की पद्धति की अधीनता में वे अच्छी सड़कें बनाना और विभिन्न प्रकार के गृह-उद्योगों को चलाना सीख गये थे। ये उद्योग आर-

म्भिक मध्यकालिक युरोप के उद्योग-धन्धों से हल्के नहीं थे। इन सब लोगों में उसी प्रचलित क़ानून का दौर-दौरा था, जिसका हम पिछले पृष्ठो में उल्लेख कर चुके हैं। दुनिया के दूसरे सिरे पर हमें मलायी जमींदारी के दर्शन होते है किन्तु यह जमींदारी ग्राम-पंचायत को नष्ट कर सकने में असमर्थ सिद्ध हुई है। जमीन के कुछ भाग पर इस पंचायत का सामुदायिक अधिकार है और वह अपनी मातहत पंचायतों में जमीन का विभाजन करती है। मिनहसा के अलफरू लोगों मे फ़सल पर एक के बाद एक गिरोह का अधिकार होता है। व्यन्दोत लोगो के आदिम कुनबो में जाति के भीतर निश्चित समय पर जमीन का पुनर्विभाजन और सम्मिलित खेती होती है। सुमात्रा के उन सब हिस्सों में, जहाँ मुस्लिम संस्थाओं ने प्राचीन संगठन का नाश नहीं कर दिया है, हमें संयुक्त कुटुम्ब और ग्राम-पंचायतें मिलती है। जमीन पर इन ग्राम-पंचायतो का अधिकार बना हुआ है। बिना उनकी स्वीकृति के कोई जमीन का हिस्सा कृपि के योग्य बना लिया जाय, उस पर भी उनका अधिकार होता है। किन्तु यह सब कहने का मतलब यह है कि पारस्परिक संरक्षण तथा लड़ाई-झगड़ों की रोक के लिए उन सब रीति-रिवाजों का अस्तित्व है जिनका ग्राम-पंचायत की विशेपता के तौर पर पिछले पृष्ठों में संक्षेप में उल्लेख किया गया है। इससे अधिक जो बात कही जा सकती है, वह यह है कि जमीन पर जितना अधिक सामुदायिक अधिकार क़ायम रखा गया है, उतनी अधिक अच्छी और सज्जनोचित लोगों की आदतें रही हैं। डेस्टुअर्स का यह निश्चय रूप से कहना

है कि विजेताओं ने जहाँ कहीं ग्राम-पंचायतों के अधिकारो पर कम हस्तक्षेप किया है, वहीं साम्पत्तिक विषमता कम पैदा हुई है और बदले के क़ानून की मंशा कम निर्दयतापूर्ण रही है । इसके विपरीत जहाँ-कही ग्राम-पंचायतें बिल्कुल टूट-फूट गईं, वहाँ के लोग अपने निरंकुश शासकों के अत्यधिक असहनीय अत्याचार से पीड़ित हैं । यह बिल्कुल स्वाभाविक है । वैट्ज़ ने कहा है कि जिन कुनबों ने अपने जातीय संघ क़ायम रखे, वे उन कुनबो की अपेक्षा विकास की उच्चतर सीढ़ी पर पहुँच चुके है, जिन्होने प्राचीन ऐक्य-सूत्रों को तोड़ डाला । उनका साहित्य भी अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध है। वैट्ज़ ने ठीक वही कहा है जिसकी पहले से भविष्यद्वाणी की जा सकती थी ।

हर क़िस्म की जल-वायु में रहने वाली सभी जातियो की बर्बर संस्थाओ में इतना अधिक साम्य है कि और अधिक उदाहरण देने के लिए मुझे कष्ट-दायक पुनरुक्ति की झंझट करनी पड़ेगी । मनुष्य जाति मे सर्वत्र विकास का ठीक ऐसा ही क्रम आश्चर्यजनक समानता के साथ चल रहा है। जिस समय जातिगत संगठन पर भीतर से स्वतंत्र कुटुम्ब आक्रमण कर रहे थे और बाहर से प्रवास करने वाले कुटुम्ब उससे अलग हो रहे थे, जिस समय भिन्न-भिन्न फिरको के अजनवी लोगों को अपने साथ शामिल करने की आवश्यकता पैदा हुई, उस समय प्रादेशिक विचारो के आधार पर ग्राम-पंचायत के संगठन का जन्म हुआ । इस नई संस्था को स्वभावतः इससे पहले की संस्था-जाति—का बच्चा कहना चाहिए। इसके सहारे बर्बर जातियो

विकास का क्रम

ने इतिहास के एक अत्यन्त अशान्त काल को पार किया और अपने को एकान्तिक कुटुम्बों में विभक्त नहीं होने दिया जो निश्चय ही जीवन-संघर्ष में न टिक सके होते। नवीन संगठन की अधीनता में संस्कृति के नवीन स्वरूपो का विकास हुआ। खेती की इतनी उन्नति हुई कि वहुजन समाज उससे आगे नहीं वढ़ा है। गृह-उद्योगों की भी काफी उन्नति हुई। जंगलो और दलदलों पर क़ावू किया गया, इस छोर से उस छोर तक सड़के वनाई गई और मातृ-समुदायो से निकलकर असंख्य मनुष्य स्थान-स्थान पर रहने लगे। वाजारों, क़िलों और सार्वजनिक उपासना-स्थलों का निर्माण हुआ। ऐसे विस्तृत संघ के विचार का धीरे-धीरे विकास हुआ, जिसमें एक जातीयता की सीमा तोड़कर अन्य जातियो का भी समावेश हो सके। न्याय-सम्वन्धी प्राचीन विचारो में धीरे-धीरे गहरा परिवर्तन हुआ। जहाँ पहले केवल वदले की भावना काम करती थी, वहाँ अपराधों के परिमार्जन के विचार का जन्म हुआ। मानव-जाति के दो-तिहाई से भी अधिक हिस्से का दैनिक जीवन आज भी प्रचलित रीति-रिवाजों के अनुसार संचालित होता है। इन मनुष्यों में ये रिवाज ही क़ानून का काम करते हैं। इस क़ानून का विस्तार इस नये संगठन के अधीन ही हुआ। साथ ही अल्प-संख्यक समुदाय आम जनता पर अत्याचार न कर सकें, इसके लिए भी कुछ प्रथायें जारी की गईं। कारण कि व्यक्तिगत सम्पत्ति-संग्रह की ज्यो-ज्यो सुविधायें वढ़ती गई, त्यो-त्यों उसी परिमाण में कुछ लोगों की शक्तियो में वृद्धि होती जाती थी। पारस्परिक सहायता के लिए जनता की प्रवृत्तियो ने यह नया स्वरूप ग्रहण किया।

इस नवीन सार्वत्रिक संगठन के सहारे मानव-जाति ने आर्थिक, बौद्धिक और नैतिक इतनी अधिक प्रगति की कि आगे जाकर जब राज्य-संस्थायें क़ायम हुईं तो उन्होंने अल्प-संख्यक समुदायों के हित में न्याय, अर्थ और शासन-सम्बन्धी उन सब अधिकारों पर क़ब्ज़ा-मात्र कर लिया जिनका ग्राम-पंचायतें सब समुदायों के हित में पहले ही व्यवहार कर चुकी थीं।

[५]

मध्यकालिक नगरों में सहयोग

सहयोग मानवी स्वभाव है

सामाजिकता, सहयोग तथा पारम्परिक सहायता मानव-स्वभाव के ऐसे जन्मजात अंग हैं कि इतिहास में किसी भी समय हमें मानव-प्राणी छोटे-छोटे एकान्तिक कुटुम्बों में रहता हुआ नहीं मिलता, न यही मिलता है कि वह जीवित रहने के साधनों की खातिर आपस में एक-दूसरे के साथ लड़ता रहा हो। इसके विपरीत, जैसा कि हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं, आधुनिक अन्वेषण ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य अपने पूर्व इतिहास-कालिक जीवन के प्रारम्भ से ही खानदानों तथा छोटी और बड़ी जातियों के रूप में एकत्र होकर रहा करता था। वह यह समझता था कि एक ही पिता की सन्तान होने के कारण उसके लिए मिलकर रहना आवश्यक है। मनुष्य को बाध्य करने के लिए किसी भी प्रकार की सत्ता का अस्तित्व न होने पर भी इस जाति-गत संगठन ने उसे हजारों वर्षों तक ऐक्य-सूत्र में बांध कर रखा है। उसने मानव-जाति के बाद के समस्त विकास पर गहरा असर डाला है। फिर वह जमाना आया जब बड़े-बड़े पैमानों पर प्रवास हुए और जाति में स्वतन्त्र कुटुम्बों का विकास हुआ। एक ओर जहाँ इन प्रवासों ने एक जातीयता के बन्धनों को ढीला किया,

वहाँ दूसरी ओर स्वतन्त्र कुटुम्बो ने जाति की प्रचीन एकता को नष्ट कर दिया। तब मनुष्य की सामाजिक प्रतिभा ने एक नवीन संगठन को जन्म दिया। यह संगठन यानी ग्राम-पंचायतो का संगठंन प्रदेश का लिहाज रख कर बनाया गया था। इसने पुनः मनुष्य को कुछ शताब्दियों तक एकता-पाश मे रखा और अपनी सामाजिक संस्थाओ का और विकास करने का अवकाश दिया। उसके सहारे वह बिना तितर-वितर हुए इतिहास के कुछ काले से काले जमानों को पार कर सका। इस प्रकार मनुष्य अपने विकास की ओर एक और कदम बढ़ा सका और अनेक सामजिक उप-संस्थाओं का निर्माण कर सका जिनमें से कई आज भी विद्यमान हैं। अब हमें पारस्परिक सहयोग की उसी अमर प्रवृत्ति के भावी विकास पर विचार करना है। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद बर्बर कहलाने वाली जातियों ने नये सिरे से एक नई सभ्यता का निर्माण शुरू किया। हमें उस समय की बर्बर जातियो की ग्राम-पंचायतों पर विचार करने के बाद मध्यकालिक जनता की सामाजिक आवश्यकताओ के नवीन स्वरूप का अध्ययन करना होगा। विशेषतः हमें मध्यकालिक जमायतों (Guilds) और नगरो की तरफ ध्यान देना है।

इस समय की मंगोल, अफ्रिकन, अरबो आदि अनेक बर्बर जातियों को भांति वर्तमान युग की प्रथम शताब्दियों के बर्बर

सहयोग की नींव पर—

मनुष्यो ने सदैव युद्ध की अपेक्षा शान्ति को पसन्द किया है। बहुधा उनकी तुलना लड़ाकू पशुओं से की गई है, किन्तु वास्तव मे वे इस वृत्ति से कोसों दूर

रहे हैं। बड़े-बड़े प्रवासों के जमाने में कुछ जातियाँ बंजर रेगिस्तानों अथवा पहाड़ी प्रदेशों में भगा दी गई थीं। इन जातियों को विवश होकर ही समय-समय पर अपने अधिक खुशक़िस्मत पड़ोसियों पर आक्रमण करना पड़ता था, इनके अलावा टीटन, सेक्सन, केल्ट, सालवेनियन आदि जातियों का बड़ा हिस्सा नवीन अधिकृत स्थानो में बस जाने के बाद शीघ्र ही खेती और पशु-पालन में लग गया। प्राचीन से प्राचीन बर्बरीय क़ानून हमें यह बता चुके हैं कि उस समय के मनुष्य-समाज की रचना एक-दूसरे के साथ लड़ने-झगड़नेवाले गिरोहो से नहीं, बल्कि शान्ति से खेती-बाड़ी करनेवाले समुदायो से हुई थी। इन बर्बर मनुष्यों ने देश के गाँव-गाँव और खेत-खेत पर मकान ही मकान बना दिये; उन्होंने जंगलों को साफ किया, नदियो की तेज़ धाराओं पर पुल बाँधे और जो प्रदेश पहले बिलकुल सुनसान थे, उनको आबाद किया। उन्होंने लड़ाई-झगड़ों जैसे अनिश्चित धन्धो को छोड़कर भाई-चारे को स्वीकार किया या वे उत्पाती व्यक्तियों का आश्रय छोड़कर उन अस्थायी सरदारों के झंडे तले आ गये जो जन-समाज के संरक्षणार्थ अपने साहस, हथियारों और युद्ध-विषयक ज्ञान का लाभ देने को इधर-उधर घूमा करते थे। जन-समाज तो शान्ति के साथ रहने के लिए बहुत उत्सुक था ही। योद्धा लोगों के दल आये और गये, उन्होने अपने कौटुम्बिक झगड़ो को जारी रखा, किन्तु आम जनता जमीन को जोतने के काम में लगी रही। उसने अपने भावी शासकों पर तबतक कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, जबतक उन्होने ग्राम-पंचायतों की स्वाधी-

नता में हस्तक्षेप करने की चेष्टा नहीं की। युरोप के नये बाशिंदों ने जमीन की मिल्कियत और खेती करने की उस पद्धति का विकास किया जिसका आज भी करोड़ों मनुष्य अनुसरण कर रहे हैं। उन्होंने प्राचीन जातीय रक्त-प्रतिशोध के स्थान पर अपराधों के लिए मुआविजे का तरीका निकाला और उद्योग के प्रथम सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया। जहाँ एक ओर उन्होंने नये आक्रमण के समय आश्रय प्राप्त करने के लिए अपने गाँवों के चारों ओर लकड़ी के लट्ठों की दीवारें खड़ी कीं अथवा बुर्जों और मिट्टी के क़िलों का निर्माण किया, वहाँ दूसरी ओर शीघ्र ही इन बुर्जों और क़िलों की रक्षा का भार उन लोगों पर छोड़ दिया, जिन्होंने लड़ना अपना पेशा बना लिया था।

इस प्रकार बर्बर जातियों की कल्पित युद्धप्रियता नहीं, बल्कि उनकी यह शान्तिप्रियता ही उनको आगे चलकर सैनिक सरदारों की अधीनता में डालने का कारण बनी है।

सत्ता का आविर्भाव

यह स्पष्ट है कि हथियारबन्द गिरोह जिस प्रकार का जीवन बिताते थे, उस जीवन में कृषि पर निर्वाह करनेवाले समुदायों की अपेक्षा उनके लिए धनवान बनने के अधिक साधन थे। आजकल भी हम देखते हैं कि कभी-कभी सशस्त्र डाकू मटाबेले लोगों की हत्या करने और उनके पशुओं के झुण्डों को लूट ले जाने के लिए इकट्ठे होकर आते हैं, हालांकि मटाबेले लोग केवल शान्ति चाहते हैं और उसकी ऊँची क़ीमत देकर भी ख़रीदने को तैयार रहते हैं। निस्सन्देह पुराने जमाने के रक्षक दल आजकल के रक्षक दलों की अपेक्षा अधिक ईमानदार न थे। वे

पशुओं के झुण्डों, लोटो (यह समय अत्यन्त मूल्यवान वस्तु थी) और गुलामों पर आक्रमण करके अधिकार कर लेते थे। यद्यपि इस प्रकार से प्राप्त किया गया ज्यादातर माल घटनास्थल पर ही उन शानदार दावतो में उड़ा दिया जाता था, जिनका ऐतिहासिक कविताओं में इतना अधिक वर्णन किया गया है। फिर भी लूट के माल का कुछ हिस्सा और अधिक धनवान वनने के लिए वचा लिया जाता था। जमीन की वहुतायत तो थी ही। आवश्यक पशुओं और औजारो की सुविधा होने पर उसको जोतनेवालो की भी कमी न थी। मरी (पशु-रोग) और प्लेग के आक्रमणों तथा बार-बार आग लगने और प्रवासियों के धावों के कारण गॉव के गॉव वर्बाद हो गये, वहॉ के निवासी उन गॉवों को छोड़कर नये स्थान तलाश करने के लिए जहॉ-तहॉ चले गये। इस प्रकार की परिस्थितियो में रूस में आज भी लोग ऐसा ही करते हैं। उस दशा में यदि सशस्त्र दल के किसी मुखिया ने किसानों को काम शुरू करने के लिए कुछ पशु और हल न सही तो हल के लिए कुछ लोहा ही दे दिया, भावी आक्रमणों से उनकी रक्षा करने का जिम्मा ले लिया और कुछ साल तक सभी करों से उनको मुक्त कर दिया तो वे किसान उसी जगह वस गये। बुरी फसलों, सैलावों और महामारियों से घोर संघर्ष कर चुकने के वाद, जब ये पुरुपार्थी अपना यह कर्ज अदा करना शुरू करते,तो उस समय प्रदेश का रक्षक उन पर अनेक अधीनतासूचक दायित्व लाद देता। इसमें कोई शक नहीं कि इस रीति से धन का संग्रह हुआ और धन के पीछे सत्ता का जन्म होना तो अवश्यम्भावी है।

फिर भी वर्तमान युग की छठी और सातवीं शताब्दियों के मनुष्य-समाज के जीवन में हम जितना ही अधिक प्रवेश करते हैं, उतना ही अधिक हमें पता चलता है कि कुछ व्यक्तियों की सत्ता क़ायम होने के लिए धन और सैनिक शक्ति के अलावा एक और पदार्थ की आवश्यकता थी। उस पदार्थ को क़ानून और अधिकार का नाम दिया जा सकता है। जनता की यह इच्छा थी कि शान्ति बनी रहे और जिसे वह न्याय समझती है, उसकी प्रस्थापना हो। उसकी इस इच्छा ने सशस्त्र रक्षक दल के सरदारों यानी राजाओं, उमरावों आदि को वह शक्ति दी जिसे प्राप्त करने में उन्हें अगले दो-तीन सौ वर्ष लगे। अपराधों का पर्याप्त प्रतिशोध लिया जाना चाहिए, न्याय-विषयक इस विचार का मनुष्य के जातिगत संगठन काल में जन्म हुआ। आगे चलकर मानवजाति ने जिन-जिन संगठनों की रचना की, उन सब में इस विचार को महत्व दिया गया है। सैनिक और आर्थिक कारणों की अपेक्षा भी यह कहीं अधिक प्रबल कारण है जिसके आधार पर राजाओं और जागीरदारों की सत्ता की नींव पड़ी है।

ग्राम-पंचायतों की समस्या

वास्तव में बर्बर जातियों की ग्राम-पंचायतों का हमेशा यही मुख्य काम रहता था कि उस समय प्राचीन न्याय-सम्बन्धी विचार से पैदा होनेवाले झगड़ों का किस तरह जल्दी से जल्दी खात्मा हो। हमारी समकालिक बर्बर जातियों में अब भी यही बात जारी है। जब कोई झगड़ा हो जाता तो पंचायत तुरंत हस्तक्षेप करती थी। वह सारे मामले को सुनने के बाद मुआविजे की रक़म निश्चित कर

देती थी जो पीड़ित व्यक्ति या उसके कुटुम्ब को मिलती थी। इस के अलावा वह शान्ति-भङ्ग करने पर जुर्माना भी करती थी; यह पंचायत के कोष में जाता था। समुदाय के भीतरी झगड़े इस तरह आसानी से शान्त कर दिये जाते थे। किन्तु यदि दो विभिन्न जातियों या दो जाति-संघों मे झगड़ों को रोकने के सभी साधन काम में लेने पर भी झगड़े पैदा हो ही जाते तो ऐसा पंच या निर्णायक तलाश करने में बड़ी कठिनाई पड़ती जिसका निर्णय उसकी निष्पक्षता और प्राचीनतम क़ानूनी ज्ञान के लिहाज से दोनों पक्षों को मान्य हो। यह कठिनाई इसलिए भी अधिक बड़ी प्रतीत होती थी कि भिन्न-भिन्न जातियों और जाति-संघों के रिवाजी क़ानून इस बात पर एक मत न थे कि किस अपराध के लिए कितना मुआविजा दिलाया जाना चाहिए। इसलिए निर्णायक आम तौर पर उन्हीं कुटुम्बों और जातियों में से चुना जाता था, जो प्राचीन क़ानून को विशुद्ध रखने के लिए प्रसिद्ध हों और जो उन गीतों, सूत्रों, ऐतिहासिक क़िस्सों आदि से परिचित हों, जिनके द्वारा क़ानून को कण्ठस्थ रखा जाता था। इस रीति से क़ानून को याद रखना एक प्रकार का कौशल बन गया। यह एक 'रहस्य' था जिसका ज्ञान कुछ ख़ास कुटुम्बों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी सावधानी के साथ कराया जाता था। आयर्लैण्ड और अन्य स्केण्डेनेवियन प्रदेशों में राष्ट्रीय पंचायत की प्रत्येक बैठक में सभा की जानकारी के लिए एक व्यक्ति (लोवसोगमाथर) समस्त क़ानून को अपनी स्मृति से सुनाया करता था। आयर्लैण्ड में मनुष्यों की एक ऐसी विशेष श्रेणी थी, जो प्राचीन प्रथाओं के ज्ञान के लिए प्रसिद्ध

थी और इसलिए न्यायाधीशों की हैसियत से वह बड़ी भारी सत्ता का उपयोग करती थी। रूसी इतिहास से हमें पता चलता है कि "उत्तर-पश्चिम रूस के कुछ कुनवों ने दिन प्रति दिन बढ़ती जाने वाली अव्यवस्था से घबड़ा कर नारमन वेरिनजियरों से अपील की थी कि वे उनके न्यायाधीश और योद्धा दल के सेनापति बन जायँ।" यह अव्यवस्था जातियो को आपस में एक-दूसरे के विरुद्ध उठ खड़े होने से पैदा हुई थी। हम यह भी देखते हैं कि उन्होंने आगामी दो सौ वर्ष तक हमेशा अपने उमराव उसी नारमन कुटुम्ब से चुने। इन सब कारणों से हमें यह मानना ही पड़ता हैं कि स्लेवोनियन लोग क़ानून के उच्चतर ज्ञान के लिए नारमन लोगों पर विश्वास करते थे। भिन्न-भिन्न स्लेवोनियन फिर्के भी उस क़ानून को उतना ही अच्छा समझते होंगे। इस उदाहरण में नारमन लोगों के पक्ष में यह एक निश्चित रूप से उपयोगी बात थी कि पुरानी प्रथाओं का पीढ़ी दर पीढी ज्ञान कराने के लिए उनमे एक विशेष प्रकार की लिपि का प्रचार था, किन्तु अन्य उदाहरणों में इस बात के अस्पष्ट चिन्ह मिलते हैं कि कुनबे की सबसे बड़ी शाखा, मातृ-शाखा, से न्यायाधीश देने को कहा जाता था और उसके निर्णयों को ठीक माना जाता था। कुछ बाद के जमाने में हमें ईसाई पादरियों में से न्यायाधीश चुनने की स्पष्ट प्रवृत्ति दिखाई देती है। उस समय के पादरी ईसाई धर्म के इस मूल सिद्धान्त को मानते थे कि बदला लेना न्याय का काम नहीं है। यह सिद्धान्त अब तो भुला दिया गया है। उस समय के

न्याय-पद्धति के सामयिक परिवर्तन

संघर्ष या सहयोग ?"]

ईसाई पादरी रक्त-प्रतिशोध के भय से भागकर आये हुए लोगों को गिरजाघरों में आश्रय देते थे। वे फौजदारी मामलों में स्वेच्छा-पूर्वक पंच बनते थे और मौत के लिए मौत और चोट के लिए चोट के प्राचीन जातीय सिद्धान्त का सदैव विरोध करते थे। संक्षेप में, प्रारम्भिक संस्थाओं के इतिहास में हम जितने ही गहरे प्रवेश करते हैं, उतने ही कम हमें इस बात के आधार मिलते हैं कि सत्ता का जन्म सैनिक सिद्धान्त के अनुसार हुआ। इसके विपरीत, उस शक्ति का जन्म भी जनता की शक्तिपूर्ण प्रवृत्तियों से हुआ प्रतीत हो रहा है जो आगे चल कर अत्याचार का इतना बड़ा साधन बनी।

दण्ड और सार्वजनिक कोष

इन सब मामलों में जो भी जुर्माना होता था, वह पंचायत के कोष में जाता था। बहुधा जुर्माना की रक़म मुआविजे की रक़म से आधी होती थी। इस रक़म का उपयोग बड़े प्राचीन काल से सार्वजनिक लाभ और रक्षा के लिए होता आया है। कबिलों और कुछ मंगोल कुनबों मे अब भी इस प्रकार की रक़म का वही उपयोग होता है, अर्थात् बुर्ज आदि बनाने में खर्च की जाती है। हमारे पास इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि कई शताब्दियों बाद तक स्कोव और कई फ्रांसीसी तथा जर्मन नगरों में जुर्माने की रक़म नगर की चहारदीवारी की मरम्मत करने में लगाई जाती थी। इस प्रकार यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि जुर्माने की रक़म न्यायधीश को सौंपी जाय। यह न्ययाधीश सशस्त्र दल का निर्वाह करता और दण्ड का भुगतान भी करता था। सशस्त्र

दल का निर्वाह करना इसलिए आवश्यक था कि प्रदेश की रक्षा का भार उस दल के सुपुर्द कर दिया गया था। आठवीं और नवीं शताब्दी में यह सर्वव्यापी रिवाज बन गया था। यहां तक कि जब निर्वाचित पादरी न्यायाधीश होता तब भी जुर्माने की रक़म पंचायत के पास ही जाती थी। जिसको हम आज न्याय-सत्ता और कार्यकारिणी सत्ता कहते हैं, उन दोनों के एक जगह एकत्र होने के बीज इस तरह प्रकट हुए। किन्तु इन दोनों विभागों के सम्बन्ध में उमराव या राजा के अधिकार बहुत मर्यादित थे। वह लोगों का शासक न था, सर्वोच्च सत्ता उस समय भी पंचायत के हाथ में थी, वह तो सार्वजनिक सेना का सेनापति भी न था। जब लोग लड़ाई के लिए जाते थे तो वे अपना सेनापति चुन लेते थे। इस सेनापति का दर्जा राजा से नीचा न होता था, बल्कि उसके बराबर होता था। राजा तो केवल अपने व्यक्तिगत प्रदेश का ही स्वामी होता था। असल में वर्बर जातियों की भाषा में राजा शब्द का अर्थ एक अस्थायी नेता या मुखिया के अतिरिक्त कुछ नहीं है। नावों के बेड़े का सरदार अथवा किसी एक डाका डालने वाली नाव का सरदार भी राजा के नाम से पुकारा जाता था। आज भी नाव में मछुओं का सरदार 'मछुओं का बादशाह' कहलाता है। आगे चलकर राजा को जो सम्मान प्राप्त हुआ, उस सम्मान का उस समय कहीं पता न था। जहाँ जाति-द्रोह करने पर मौत की सजा दी जाती थी, वहाँ किसी राजा को मारने वाला केवल मुआविजा देकर ही छूट जाता था। बस, साधारण आदमी की अपेक्षा राजा का इतना ही अधिक मूल्य

था ! एक वार राजा कैन्यूट ने अपने सशस्त्र दल के एक आदमी को मार डाला था। उसके वारे में ऐतिहासिक गाथा कहती है कि उस राजा ने अपने साथियों को एक स्थान पर एकत्र किया और घुटने टेककर क्षमा-याचना की। उसको क्षमा तो कर दिया गया, किन्तु तभी जब उसने साधारण मुआविजे की रक़म से नौ गुनी रक़म देना स्वीकार किया। इस रक़म में एक तिहाई तो स्वयं उस राजा को मिला, कारण कि उसके दल का एक आदमी मारा गया था, एक तिहाई मृत व्यक्ति के रिश्तेदारो को मिला और एक तिहाई सशस्त्र दल के कोष में गया। वास्तव में उस समय ईसाई मजहब और रोमन क़ानून के पण्डितों के दुहरे प्रभाव से तात्कालिक विचारो में पूर्ण परिवर्तन होना वाक़ी था। विना इस विचार-परिवर्तन के लोगों के लिए यह सम्भव न था कि वे राजा की हस्ती को एक पवित्र हस्ती मानना शुरू कर देते।

अभी-अभी हम जिन तत्त्वों का उल्लेख कर चुके हैं,उन में से सत्ता का धीरे-धीरे कैसे विकास हुआ, इस पर विचार करना प्रस्तुत पुस्तक के ध्येय के वाहर की वात है। प्रायः सभी देशों के इतिहासकारों ने इस विषय पर पूरी तरह से प्रकाश डाला है। उन्होंने वताया है कि जो जनता एक समय स्वाधीन थी और जिसने केवल अपने सैनिक रक्षकों के कुछ भाग का निर्वाह करने का जिम्मा लिया था, वही कैसे उन रक्षकों की गुलामी में फंस गई, पादरियों और रईसों को 'महत्व देना' स्वतन्त्र आदमियों के लिए किस प्रकार नितान्त आवश्यक हो गया, किस प्रकार रईसो और पादरियों के निवासस्थान लुटेरों के घर वने, संक्षेप में

जागीरदारी प्रथा कैसे स्थापित हुई—और किस प्रकार सैनिक चढ़ाइयों ने ईसाई धर्म मानने वाले गुलामों को मुक्ति देकर सर्व-साधारण की स्वाधीनता के लिए पहले-पहल प्रयत्न किया। यह यहाँ फिर से कहने की आवश्यकता नहीं है। जनता ने पारस्परिक सहयोग की संस्थाओं के द्वारा जिस रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है, उस पर विचार करना ही हमारा मुख्य उद्देश्य है।

जिस समय बर्बर जातियों की स्वाधीनता के अन्तिम चिन्ह ग़ायब होते हुए दिखाई दे रहे थे, युरोप हजारों छोटे-छोटे राजाओं के अधीन हो चुका था और ऐसी धार्मिक और निरंकुश राज्य-सत्तायें बन रही थीं जैसी सभ्यता के पिछले युगों में बर्बर अवस्था के बाद बनी थीं और आज भी अफ्रिका में मौजूद हैं, उस समय युरोप में मानव-जीवन की धारा ने दूसरी दिशा में बहना शुरू किया। प्राचीन युनान के नगरों में एक बार जो पहले हो चुका था, वही यहाँ भी हुआ। बड़े-बड़े शहरों से लगाकर छोटे-छोटे क़स्बों तक ने इस क़दर एक साथ अपने भौतिक और आध्यात्मिक प्रभुओं के जुए को उतार फेंकने की चेष्टा शुरू की, जिसकी कल्पना करना भी प्रायः असम्भव प्रतीत होता है। स्वयं इतिहासकार भी बहुत समय तक इस लहर को न समझ पाये। चहारदीवारी वाले गाँवों ने सत्ता-धारी प्रभुओं की हवेलियों के विरुद्ध बग़ावत का झण्डा खड़ा किया, पहले उनकी अवहेलना की, फिर उन पर आक्रमण किया और अन्त में उन्हें नष्ट कर दिया। यह आन्दोलन एक स्थान से दूसरे स्थान में फैलता गया, यहाँ तक कि युरोप का प्रत्येक क़स्बा

स्वतन्त्रता की लहर

इसमें शामिल हो गया। सौ वर्ष से भी कम समय में, भू-मध्य-सागर, उत्तरी सागर, बाल्टिक और अटलाण्टिक महासागर के किनारों से लगाकर स्केण्डिनेविया की सीमाओं तक, ओपिनाइन, आल्प, ब्लेकफोरेस्ट, ग्रेमपियन, कारपेथियन पहाड़ों की तराइयों में, और हंगरी, रूस, फ्रांस, और स्पेन के मैदानों में सब जगह स्वतन्त्र नगर बस गये। हर जगह वही विद्रोह हुआ, उसकी विशेषतायें और उसके स्वरूप एक से रहे और सब जगह परिणाम भी एक-सा ही आया। जहाँ कहीं लोगों को चहारदीवारियों का आश्रय मिला, या थोड़ा बहुत मिलने की आशा थी, वहीं उन्होंने एक ही तरह के विचार से सहमत होकर न्याय करने के लिए पंच नियुक्त किये, 'भ्रातृ-संघों' और 'मित्र-संघों' की स्थापना की और उस नवीन जीवन की ओर बहादुरी के साथ क़दम बढ़ाया जो पारस्परिक सहयोग तथा स्वतन्त्रता से परिपूर्ण था। तीन सौ चार सौ वर्षों में ही उन्हें इतनी सफलता मिली कि उन्होंने युरोप का स्वरूप ही बदल दिया। उन्होंने देश को सुन्दर और भव्य इमारतों से ढक दिया। ये इमारतें स्वाधीन आदमियों के स्वाधीन संघों की प्रतिभा की द्योतक थीं। सुन्दरता और भव्यता में अन्य इमारतें उनकी तुलना में नहीं ठहर सकतीं। उन्होंने आनेवाली पीढ़ियों के लिए भांति-भांति की कलाओं और उद्योग-धन्धों को जन्म दिया। यह सही है कि हमारी वर्तमान सभ्यता ने बड़े से बड़े काम किये और भविष्य में करने की आशा रखती है, किन्तु मध्यकालिक कलाओं और उद्योग-धन्धों के विकास से ही उसका निर्माण हुआ है। अब जब हम उन शक्तियों

की ओर दृष्टिपात करते है जिनके द्वारा ऐसे बड़े-बड़े परिणाम पैदा हुए तो हमें वे शक्तियाँ न तो व्यक्तिशः योद्धाओ की प्रतिभा में और न बड़ी-बड़ी राज्य-संस्थाओं के शक्तिशाली संगठन अथवा शासकों की राजनैतिक क्षमता में ही मिलती है। वे शक्तियाँ तो मिलती हैं पारस्परिक सहयोग और सहायता की उसी जीवन-दायिनी धारा में। इस धारा को हम ग्राम्य-समुदायों में काम करते हुए देख चुके है। यही धारा मध्यकालिक युगों में नवीन प्रकार के संगठन के रूप में विस्तार के साथ और नई ताक़त प्राप्त करके प्रकट हुई। प्रेरक भावना तो वही थी, किन्तु ढली वह नवीन ढाँचे में। इस ढाँचे का नाम था व्यवसाय-संघ।

इस समय तक यह भलीभाँति विदित हो चुका है कि जागीरदारी प्रथा के अस्तित्व में आने पर ग्राम-पंचायतों का विनाश नहीं हो गया था। यद्यपि भू-स्वामी किसानो से अधीनता-सूचक श्रम कराने लग गया था और ऐसे अधिकारों (करो, जमीन की मिल्कियत, पैतृक-सम्पत्ति और विवाह की लागतें आदि) पर उसने क़ब्ज़ा कर लिया था, जिनका पहले अकेली ग्राम-पंचायत ही उपभोग करती थी, फिर भी किसानों ने अपने समुदायों के दो मूल अधिकारों को क़ायम रखा। जमीन पर सम्मिलित क़ब्ज़ा और मामलों-मुक़द्मों को फ़ैसल करने की सत्ता—यही वे दो अधिकार थे। पुराने जमाने में जब कोई राजा किसी गाँव में अपना कर्मचारी भेजता, तो किसान एक हाथ में फूल और दूसरे हाथ में हथियार लेकर उसका स्वागत करते। वे उससे पूछते कि तुम कौन-सा क़ानून

फूल या तलवार।

लागू करने का इरादा रखते हो—एक क़ानून तो वह है जो हमारे गाँवों में प्रचलित है, और दूसरा क़ानून वह है जो तुम साथ लेकर आये हो ? यदि कर्मचारी पहले क़ानून को पसन्द करता, तो किसान लोग फूल उसकी भेंट कर देते और उसको स्वीकार कर लेते थे। दूसरी अवस्था में वे उसके साथ लड़ते थे। कुछ काल बाद, उन्होंने राजा या उमराव के कर्मचारी को स्वीकार कर लिया, कारण कि उसे अस्वीकार कर देने की उनमें शक्ति न रह गई थी, किन्तु उन्होंने पंचायत की न्याय करने की सत्ता को क़ायम रखा। वे छः-सात या बारह न्यायधीश नियुक्त करते थे जो पंचायत की उपस्थिति में उमराव द्वारा भेजे गये न्यायाधीश के साथ पंच और निर्णायकों की हैसियत से काम करते थे। ज्यादातर मामलों में राज-कर्मचारी केवल लोगों के न्यायाधीशों द्वारा निश्चित दण्ड पर अपनी मुहर लगा देता था और हस्ब मामूल जुर्माना वसूल करता था। बहुत लड़ाइयां हुईं, किन्तु न्याय करके इस बहुमूल्य अधिकार को कायम रखा गया। उस समय यह अधिकार स्व-शासन और अपने क़ानून आप बना लेने का भी अधिकार समझा जाता था। कार्ल दी ग्रेट (महान कार्ल) राजा के दरबार में अनेक क़ानूनवेत्ता थे, किन्तु ये भी पंचायतों के उस अधिकार को नष्ट नहीं कर सके, उल्टा उन्हें उसको स्वीकार करना पड़ा। साथ ही पंचायतों ने समुदाय से सम्बन्ध रखने वाले सभी मामलों में भी अपनी सत्ता को सर्वोपरि रखा और जैसा कि मौरर ने बताया है, वे बहुधा जमीन की मिल्कियत के मामलों में स्वयं उमराव को भी अपना निर्णय मनवाने का

दावा करती थीं। मीदारी का चाहे जितना विकास क्यों न हुआ हो, वह पंचायतों के इस विरोध की कमर नहीं तोड़ सकी। पंचायतें अपने अधिकारो पर डटी रहीं। नवीं और दसवीं शताब्दी में नारमन, अरब और उगरेयिन लोगों के आक्रमणों ने जब यह सिद्ध कर दिया कि जमीन की रक्षा के लिए सशस्त्र रक्षक दलों का वहुत उपयोग नहीं है तो सारे युरोप मे एक नया व्यापक आन्दोलन शुरू हुआ। गाँवों के चारों तरफ पत्थर की दीवारें और गढ़ बनाये जाने लगे। ग्राम-पंचायतो की शक्तियों के द्वारा हजारों क़िलेदार केन्द्र बन गये। इस तरह जब एक बार उन्होंने अपनी दीवार बना ली, इन नये पवित्र स्थलों में यानी क़सबों की दीवारों के भीतर उनके समान हित पैदा हो गये, तो उन्हें शीघ्र ही पता लग गया कि जिस प्रकार वे विदेशियों के आक्रमणो से आगे अपनी रक्षा कर सकेंगे, वैसे ही वे अपने भीतरी शत्रुओं के हस्तक्षेप का भी प्रतिरोध कर सकेगे। इन किलों में स्वाधीनता के एक नवीन जीवन का विकास होने लगा। मध्यकालिक नगरों का जन्म हुआ।

दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के सदृश हमें इतिहास में और कोई ऐसा जमाना नहीं मिलता जिसमें जन-साधारण की रचनात्मक शक्तियों का उतना अच्छा प्रदर्शन हुआ हो। उस समय चहारदीवारी वाले गाँवों ने अपने मालिकों के जुए से मुक्त होना प्रारंभ किया और धीरे-धीरे भावी नगर-संगठन का विकास किया था। ये गाँव ऐसे मालूम देते थे मानों जमीदारी रेगिस्तान मे हरे-भरे

नगर-संगठन का आरम्भ

कुछ हों। किन्तु दुर्भाग्यवश इस जमाने का ऐतिहासिक वर्णन खास तौर पर बहुत कम मिलता है। हम परिणामों को तो जानते हैं, किन्तु उनके कारणों के विषय में हमारी जानकारी बहुत अल्प है। नगरों की जन-पंचायतो ने अपनी चहारदीवारियों के संरक्षण में सेनानायक और नगरो का सर्वोच्च न्यायाधीश चुनने का अधिकार प्राप्त किया और उसको क़ायम रखा। जो लोग इन पदों के उम्मीदवार होने का दावा करते थे, कम से कम उनमे से किसी एक को चुनने का तो उन्हे अधिकार था ही। ये पंचायतें या तो स्वतंत्र रीति से या खास-खास कुलीन अथवा व्यापारिक कुटुम्बों के नेतृत्व में काम करती थीं। इटली में पंचायतें अपने सेनानायकों को बर्खास्त करती रहती थी, जो उस पद को छोड़ने से इन्कार करता, उसके साथ वे लड़ती थी। पूर्व में भी ऐसा ही हुआ। बोहेमिया में धनवान और गरीब दोनों सेनानायक आदि के चुनाव मे समान रूप से भाग लेते थे। रूसी नगरो की जन-पंचायतें नियमित रूप से अपने उमरावो का चुनाव करती थीं, किन्तु यह चुनाव एक ही रूरक कुटुम्ब से होता था। ये पंचायतें उमरावो के साथ शर्तें तय कर लेती थीं। यदि उमराव कोई असन्तोषकारक काम करता, तो वे उसको अलग कर देती थीं। साथ ही पश्चिमी और दक्षिणी युरोप के बहुत से नगरों मे पादरी को सेनानायक बनाने की ओर जनता की रुचि थी, परन्तु उसे वह स्वयं चुनती थी। नगरो की सुख-सुविधाओं और स्वाधीनता की रक्षा करने में इतने अधिक पादरियो ने अग्रगामी भाग लिया है कि उनमें से कई मृत्यु के बाद विभिन्न नगरो के महापुरुष और विशेष

संरक्षक माने गये। इन नये संरक्षकों के नेतृत्व में, चाहे वे आम लोगों में से हो चाहे पादरियो में से, नागरिकों ने अपनी पंचायतों के लिए न्याय करने की और एवं शासन की पूर्ण सत्ता प्राप्त की।

स्वाधीनता-संग्राम की सारी योजना की प्रगति उन अनेक अप्रकट-प्रयत्नों द्वारा हुई है जो सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए भक्ति भाव से प्रेरित होकर किये गये थे। इन प्रयत्नों को सफल करने वाले वे आदमी थे जो जन-साधारण में से ही पैदा हुए थे। इस श्रेणी के वीरों का नाम तक इतिहास में नही पाया जाता। यह ईश्वरीय शान्ति की स्थापना का आश्चर्य-जनक आन्दोलन था। इसके द्वारा आम जनता ने कुलीन लोगों के असीम कौटुम्बिक झगड़ों को सीमित करने की चेष्टा की। इस आन्दोलन का जन्म उन क़स्बों में हुआ था जो नये सिरे से निर्मित हुए थे। इन क़स्बों के पादरियों और नागरिकों ने अपनी चहारदीवारियों के भीतर जिस शाान्ति की स्थापना की, उसी शान्ति को उन्होंने कुलीन लोगों तक पहुँचाने का भी प्रयत्न किया। उसी जमाने मे इटली के व्यापारिक नगरों ने, खास कर अमलफी नगर ने, प्रचलित रीति-रिवाजों के आधार पर समुद्री और व्यापारी क़ानून की रचना की। यह क़ानून आगे चलकर समस्त युरोप के लिए नमूना बना। अमलफी नगर में सन् ८४४ से न्यायाधीश चुने जाने लगे थे। दसवीं शताब्दी में इन न्यायधीशों को बड़ी जल्दी-जल्दी बदल दिया जाता था। रवेना नगर ने अपने व्यावसायिक संगठन को व्यापक बनाया और मिलन नगर व्यापार का एक बड़ा भारी केन्द्र बना। इसके व्यवसाय ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्ण स्वाधीनता

का उपभोग करते हैं। ब्रास, घेण्ट और फ्रान्स के कई नगरों में भी ऐसा ही हुआ। फ्रांस के नगरों में तो अदालतें बिलकुल स्वतन्त्र संस्थायें बन गई थीं। उसी जमाने में इमारतो आदि के द्वारा नगरों को खूबसूरती के साथ सजाने का काम शुरू हुआ। यह काम उस समय की बौद्धिक प्रगति को पुकार-पुकार कर प्रमाणित करता है। उसकी हम आज भी प्रशंसा करते है। राओल ग्लेबर अपने इतिहास में लिखता है कि "क़रीब-क़रीब सारी दुनिया में सार्वजनिक भवनों का पुनर्निर्माण हुआ।" भवन-निर्माण-कला के कुछ सुन्दर से सुन्दर नमूने उसी जमाने में बने हैं। ब्रोमेन का आश्चर्यजनक प्राचीन गिरजा नवीं शताब्दि में बना था। वेनिस का सेंट मार्क गिरजा सन् १०७१ में और पीसा नगर का सुन्दर गुम्बद सन् १०६३ में पूरा हुआ। वास्तव में उस बौद्धिक आन्दोलन का जन्म उसी जमाने में हुआ जब अधिकांश नगर चहारदीवारी के भीतर इकट्ठे होकर रहनेवाले केवल छोटे-छोटे ग्राम्य समुदाय थे। इस आन्दोलन को बारहवीं शताब्दी का पुनरुत्थानकारक और बुद्धिवादी आन्दोलन बताया गया है। यही उस समय सुधार का सन्देशवाहक बनकर आया था।

व्यवसाय-सघों का उदय

यह सब कुछ होते हुए भी स्वाधीनता और जाग्रति के बढ़ते जानेवाले इन केन्द्रो को विचार और कार्य की एकता तथा कर्तृत्व शक्ति देने के लिए ग्राम-पंचायत के सिद्धान्त के अलावा एक और तत्त्व की आवश्यकता थी जिसने बारहवीं और तेरहवीं शताब्दि मे उनकी शक्ति

का निर्माण किया। पेशों, व्यवसायो और कलाओ में विविधता की वृद्धि होने और दूर-दूर देशों के साथ अधिकाधिक मात्रा में व्यापार होने के कारण एक नये प्रकार के संगठन की आवश्यकता पैदा हुई। इस आवश्यकता को व्यवसाय-संघों ने पूरा किया। इन संघों के बारे में ग्रन्थ के ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। रूस, सर्विया, तुर्की, जार्जिया आदि अनेक देशो में ये भिन्न-भिन्न नाम से पुकारे जाते हैं। मध्यकालिक युग में इन संघों का जबर्दस्त विकास हुआ। इन्होंने नगरों के उद्धार-कार्य में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया था। किन्तु इस संगठन की व्यापकता और उसकी असली विशेषताओं को समझने में इतिहासकारो को ६० से भी अधिक वर्ष लगे। अब तो सैकड़ों ही संघों की नियमावलियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं और उनका अध्ययन किया जा चुका है। यह भी जाना जा चुका है कि रोमन-संस्थाओं और यूनान तथा भारत के प्रारम्भिक संघो के साथ उनके कैसे सम्बन्ध थे। इसके बाद हम यह पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते हैं कि इन भ्रातृ-संघों का विकास उन्ही सिद्धान्तों के आधार पर हुआ था, जिन्हें हम प्राचीन जातिगत और सामुदायिक संगठन में काम करते हुए देख चुके हैं।

इन मध्यकालिक भ्रातृ-संघों का वर्णन देने के लिए वे अस्थायी संघ सबसे अच्छे साधन हैं जो समुद्र की यात्रा करते समय जहाजों पर बनते थे। जब हंसा कम्पनी का कोई जहाज बन्दरगाह छोड़ने के बाद अपनी प्रथम अर्द्ध दिवस की यात्रा पूरी कर लेता, तो उस जहाज़ का कप्तान जहाज पर के सब

लोगों को एकत्र करता और एक समकालिक लेखक के शब्दों में इस प्रकार कहता था:—

"इस समय हमारा जीवन ईश्वर और लहरों की दया पर निर्भर है, इसलिए हम सबको आपस में एक-दूसरे को बराबर समझना चाहिए। चूँकि हम तूफानों, ऊँची-ऊँची लहरों, समुद्री डकैतों और अन्य आपदाओं से घिरे हुए हैं, इसलिए हमें पूरी-पूरी व्यवस्था क़ायम रखनी चाहिए ताकि हमारी यात्रा सकुशल समाप्त हो सके। यही कारण है कि हम उत्तम वायु और सफलता के लिए प्रार्थना करेंगे और समुद्री क़ानून के अनुसार न्यायाधीश चुनेंगे।" इसके बाद सब लोग एक प्रमुख न्यायाधीश और चार सहायक न्यायाधीश चुनते थे। यात्रा की समाप्ति पर ये न्यायाधीश पद-त्याग कर देते थे और साथी यात्रियों को इस तरह सम्बोधन करते थे—"जहाज पर जो-कुछ घटनायें हुईं, उनके लिए हमें एक-दूसरे को क्षमा कर देना चाहिए और उनको भुला देना चाहिए। हमने अपने निर्णय न्याय की ख़ातिर ही ठीक-ठीक दिये हैं; इसीलिए हमारी आप सबसे यह प्रार्थना है कि यदि आप लोगों के दिल में किसी के विरुद्ध विद्वेष पैदा हो गया हो तो उन सबको सच्चे न्याय के नाम पर भुला दीजिए और रोटी तथा नमक की क़सम खाकर कहिए आप उस व्यक्ति के प्रति दुर्भावना न रक्खेंगे। इतना होने पर भी यदि कोई यह समझता है कि उसके साथ अन्याय हुआ है तो वह स्थल-न्यायाधीश के पास अपील करे और सूर्य अस्त होने से पहले उससे न्याय प्राप्त करे।" जमीन पर उतरने के समय जहाज़ पर की

खाद्य-सामग्री और जुर्माने की रक़म ग़रीबों में बाँटने के लिए बन्दरगाह के कर्मचारी के सुपुर्द कर दी जाती थी।

मध्यकालिक भ्रातृ-संघों के सामाजिक लक्षणों को बताने के लिए किसी भी संघ की नियमावली पेश की जा सकती है।

भ्रातृसंघों की कार्य-प्रणाली

उदाहरण के लिए डेन्मार्क के किसी प्राचीन भ्रातृ-संघ की नियमावली को लीजिए। सब से पहले उसमें संघ का उद्देश्य दिया गया है। इसमें कहा गया है कि संघ के सदस्यों में व्यापक भाईचारे की भावनाओं का ही राज्य होना चाहिए। इसके बाद न्याय-सम्बन्धी उन नियमों का उल्लेख किया गया है जो दो भाइयों या एक भाई और एक अजनबी आदमी के बीच में पैदा होने वाले झगड़ो के बारे में लागू होते थे। अन्त में संघ के सदस्यों के सामाजिक कर्त्तव्य गिनाये गये हैं। यदि संघ के किसी भाई का मकान जल जाय, उसका जहाज़ डूब जाय, या तीर्थ-यात्रा करते समय उसका कुछ नुक़सान हो जाय तो संघ के अन्य सब भाइयों का यह कर्त्तव्य होता था कि वे उसकी सहायता करें। किसी भाई के सख़्त बीमार होने पर दूसरे दो भाई उसके पास रह कर उसकी तब तक सेवा-शुश्रूषा करते थे, जब तक वह ख़तरे से बाहर न निकल जाता। अगर कहीं वह मर गया तो संघ के सब भाई उसकी अन्त्येष्ठि-क्रिया में भाग लेते थे, वे लाश को गिरजे और क़ब्र तक पहुँचाते थे। संक्रामक बीमारियों के उस जमाने में यह बड़ा भारी काम समझा जाता था। आवश्यकता पड़ने पर मृतक व्यक्ति के बाल-बच्चों के खान-पान और रहन-सहन की भी व्यवस्था की जाती

थी, बहुधा विधवा स्त्री संघ की बहन बना ली जाती थी।

केवल यह वर्णन ही सम्भवतः अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा मध्यकालिक भ्रातृ-संघों के मूल तत्व का भलिभाँति दिग्दर्शन करा देता है। जहाँ कहीं लोगों यानी मछुओं, शिकारियों, घूमते-फिरते व्यापारियों, मकानात बनाने वालों अथवा पेशेवर कारीगरों का एक दल समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए इकट्ठा हुआ, वहीं ऐसे संगठन बन गये। जहाज पर कप्तान का प्रभुत्व होता था, किन्तु समान उद्देश्य की सफलता के लिए ही जहाज़ के सब आदमी अमीर और ग़रीब, मालिक और नौकर, कप्तान और मल्लाह अपने पारस्परिक सम्बन्धों में समानता का व्यवहार करना मंज़ूर करते थे। वे अपनी केवल एक मनुष्य की हैसियत समझते थे। उनका यह कर्तव्य होता था कि वे आपस में एक दूसरे की सहायता करें और अपने सम्भावित झगड़ों को निर्वाचित न्यायाधीशों के सामने तय कर लें। इसी तरह जब राज, बढ़ई, संग-तराश आदि कुछ कारीगर कोई इमारत बनाने के लिए एकत्र होते तो वे अपना एक ऐसा संगठन बनाते, जिसके बन्धन अस्थायी किन्तु निकटतर होते थे। अर्थात् वे केवल इमारत बनाने की ग़रज से एक और स्वतन्त्र भ्रातृ-संघ की स्थापना करते। यद्यपि ये सब कारीगर उसी नगर के रहने वाले होते थे, जिसका एक स्वतन्त्र राजनैतिक संगठन होता था, और उनमें से हरएक अपने-अपने व्यावसायिक संगठन में भी शामिल होता था, फिर भी चूँकि वे

भ्रातृसंघों का बाहुल्य

एक समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक स्थान पर एकत्र होते थे, इसलिए एक और संगठन बनाना आवश्यक समझते थे। कबिले लोगों की कोफ नामक संस्था में हम आज यही अवस्था देख सकते हैं। कबिलों में ग्राम-पंचायत होती है। किन्तु इस संगठन के द्वारा सभी राजनैतिक, व्यापारिक और व्यक्तिगत सहयोग की आवश्यकतायें पूरी नहीं होतीं, इसलिए कोफ नाम से एक और घनिष्ठतर भ्रातृ-संघ की रचना की गई।

हर एक भ्रातृ-संघ में, चाहे वह किसी भी उद्देश्य से क़ायम क्यों न हुआ हो, ये दो मुख्य विशेषतायें अवश्य होती थीं। एक तो यह कि संघ का हर एक सदस्य दूसरे सदस्यों को भाई-बहन मानकर व्यवहार करता था और भाई-बहन के नाम से ही उनको पुकारता था। दूसरी यह कि संघ की दृष्टि में सब का दर्जा समान माना जाता था। स्थावर और जंगम सभी क़िस्म की सम्पत्ति (पशु, जमीन, मकानात, धर्मस्थान आदि) के कुछ भाग पर सामुदायिक अधिकार होता था। सब भाई अपने-अपने पुराने झगड़ों को त्याग देने की शपथ लेते थे। वे भविष्य में कभी झगड़ा न करने का प्रण तो न लेते थे, किन्तु यह बात मंज़ूर कर लेते थे कि वे कोई भी झगड़ा भ्रातृ-संघ के न्यायालय के अलावा दूसरी अदालत में न ले जावेंगे। अगर किसी भाई का संघ से अपरिचित किसी व्यक्ति के साथ झगड़ा हो जाता तो संघ के अन्य भाई उसकी मदद करते थे,—चाहे वह ग़लती पर हो अथवा राहे रास्त पर, और मामले को शान्ति-पूर्वक निपटा देने की कोशिश करते थे। जब तक यह नहीं मालूम

दो मुख्य विशेषतायें

हो जाता कि उसने किसी गुप्त कारण से प्रेरित होकर आक्रमण किया है, तब तक संघ उसकी पीठ पर रहता था। वैसा विदित हो जाने पर संघ उसको विद्रोही (बाग़ी) क़रार दे देता था। यदि पीड़ित व्यक्ति के सम्बन्धी तुरन्त एक नये आक्रमण-द्वारा अपराध का प्रतिशोध लेना चाहते तो संघ अपने भाई को भाग जाने के लिए एक घोड़ा अथवा एक नाव और दो डांड देता था। इसके अलावा संघ एक चाकू और आग जलाने के लिए लोहा भी देता था। यदि वह भाई भागना पसन्द न करता, क़स्बे में ही रहता तो दूसरे बारह भाई उसकी रक्षा करने के लिए उसके साथ-साथ रहते थे। और इस बीच में संघ मुआविज़े की रक़म स्थिर करा लेता था। वे शपथ लेकर अपने भाई के बयान की सत्यता साबित करने के लिए अदालत में जाते थे। यदि वह दोषी पाया जाता तो वे उसको बिल्कुल ही बर्बाद न हो जाने देते थे। वांछित मुआविज़ा अदा करके वे उसको ग़ुलाम होने से बचा लेते थे। पुराने ज़माने में जिस प्रकार जाति मुआविज़े की रक़म अदा करती थी, उसी प्रकार ये भी सब मिल कर अदा कर देते थे। जब कोई भाई अपने संघ-भाइयों अथवा दूसरे लोगों के प्रति विश्वासघात करता, तभी वह भ्रातृ-संघ से अलग किया जाता था।

ये हैं उन भ्रातृ-संघों के मुख्य विचार जिन्होंने धीरे-धीरे समस्त मध्यकालिक जीवन को आच्छादित कर दिया था। सच बात तो यह है कि हमें सभी पेशों के भ्रातृ-संघ मिलते हैं। गुलामो के भ्रातृ-संघ, स्वाधीन आदमियों के भ्रातृ-संघ और गुलामों तथा स्वाधीन आदमियों दोनों के संयुक्त भ्रातृ-संघ बने। शिकार खेलने, मछली पकड़ने या व्यावसायिक यात्रा करने के विशेष उद्देश्य को लेकर भ्रातृ-संघ बनते थे और वह उद्देश्य पूरा होने पर ख़त्म हो जाते थे। व्यवसाय–विशेष के कुछ ऐसे संघ भी बने जो शताब्दियों तक क़ायम रहे। जिस परिमाण में विविध प्रकार के उद्योग-धन्धों का विकास हुआ, उसी परिमाण में भ्रातृ-संघो में भी विविधता की वृद्धि हुई। यही कारण है कि हमें केवल व्यवसायों, कारीगरो, शिकारियों और किसानों के भ्रातृ-संघ ही नहीं मिलते; बल्कि पादरियों, रंगसाजो, प्रारम्भिक स्कूलो और विश्वविद्यालय के अध्यापकों के संघ भी मिलते हैं। इसके अलावा नाटक खेलने, गिरजाघर बनाने, किसी कला अथवा व्यवसाय-विशेष के 'रहस्य' का विकास करने या खास तौर पर मनोरंजन के लिए भी संघ बनाये जाते थे। यहाँ तक कि भिखारियों, जल्लादों और वेश्याओं के भी अपने संघ होते थे। इन सबकी रचना स्व-शासन और पारस्परिक सहायता के उसी दुहरे सिद्धान्त के आधार पर हुई थी। हमारे पास प्रमाण हैं कि ग्राम-पंचायतो के विस्तार की भाँति शिकारियो, मछुओं और व्यवसायियों के संघो ने भी रूस का निर्माण किया। इस समय भी रूस में सर्वत्र ये संघ पाये जाते हैं।

हर प्रकार के भ्रातृसंघ

भ्रातृ-संघों के कुछ शुरू के अन्वेषकों का खयाल है कि धार्मिक उत्सव मनाना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। किन्तु उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से पता चल जाता है कि यह खयाल कितना गलत था। असल में जब न्यायाधीशों का चुनाव और विधानों में संशोधन करने के लिए वाद-विवाद होता था, उसी दिन या उसके दूसरे दिन हमेशा सहभोज होता था। भाइयों के बीच में पैदा हो जानेवाले झगड़ो के निर्णय के दिन या संघ के प्रति वफ़ादारी की पुनः शपथ लेने के दिन भी बहुधा सहभोज हुआ करता था। ये सहभोज प्राचीन जातीय पंचायतों के त्योहारो, कुख्यात लोगों के सामुदायिक शिकारों अथवा पादरियो की दावतों और फ़सली भोजो की भांति भ्रातृभाव पर जोर देने के लिए ही हुआ करते थे। ये उस जमाने के द्योतक हैं जब प्रत्येक वस्तु पर जाति का सम्मिलित अधिकार होता था। सहभोज के दिन कम से कम सब चीज़ो पर सबका अधिकार होता था। सब आदमी एक ही मेज पर बैठकर एक-सा ही भोजन करते थे। बहुत काल बीत जाने के बाद भी इस दिन लन्दन के भ्रातृ-संघ का एक अनाथ धनवान न्यायाधीश की बग़ल में बैठकर भोजन करता था। कई अन्वेषको ने प्राचीन सेक्सन 'केन्द्रीय-संघों' और 'सामाजिक' या 'धार्मिक' कहे जानेवाले संघों में अन्तर बताने की चेष्टा की है, किन्तु उपर्युक्त अर्थ में तो सभी 'केन्द्रीय संघ' थे और इस अर्थ में सब धार्मिक थे जिस अर्थ में कि एक खास महात्मा के संरक्षण में रहनेवाला ग्राम्य या नगर-समुदाय सामाजिक या धार्मिक

आरम्भिक अन्वेषकों का भ्रम

कहा जा सकता है। यदि भ्रातृ-संघों के संगठन का एशिया, अफ्रिका और युरोप में इतना अधिक विस्तार हुआ, हजारों वर्ष तक वह जीवित रहा और अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा होने पर बारबार प्रकट हुआ तो इसका कारण यही है कि केवल सहभोज करना, किसी निश्चित दिन गिरजाघर जाना या मृतक क्रिया करना ही उसका उद्देश्य न था। उसमें इन सबसे भी अधिक एक और बात थी। उसने एक ऐसी आवश्यकता की पूर्ति की जो मानव-स्वभाव के भीतर गहरी जड़ जमाये हुए है। उस संगठन में उन सब अधिकारों का समावेश था, जिनको आगे चलकर राज्य-संस्था ने अपनी नौकरशाही और पुलिस के लिए हथिया लिया। इतना ही क्यो, अधिकार तो उसके पास और भी बहुत थे; इस संगठन का जन्म हरएक तरह की परिस्थिति में और जीवन में होनेवाली सभी आकस्मिक घटनाओं के अवसर पर 'कार्य और सलाह-द्वारा' परस्पर सहयोग करने के लिए हुआ था। यह न्याय क़ायम रखने वाला संगठन था। राज्य-सस्था के न्याय में और उसके न्याय में केवल यही अन्तर था कि ऐसे सब मामलों में शुष्क क़ानूनी तत्त्व के स्थान पर,जो कि राजसत्ता के हस्तक्षेप का मुख्य चिन्ह है, मानवी भ्रातृत्व को जगह दी जाती थी। भ्रातृ-संघ के न्यायालय के सम्मुख जब कोई भाई पेश होता तो वह यह जानता था कि मैं उन्हीं लोगों के सामने खड़ा हूँ जो मुझे भलीभांति जानते हैं और भाई की हैसियत से मेरे साथ अपना दैनिक काम कर चुके हैं। तथा साथ बैठकर खाना खा चुके हैं। सचमुच न्यायाधीश उसके बराबरी के भाई-भाई होते

थे, कोई क़ानून के शुष्क पंडित अथवा किसी अन्य व्यक्ति के हित-रक्षक नहीं।

यह स्पष्ट है कि जो संगठन व्यक्ति को उसकी कर्तृत्व शक्ति से वंचित किये बिना एकता की आवश्यकता की पूर्ति इतनी अच्छी तरह कर सका, वह तो व्यापक, समृद्ध और सुदृढ़ ही हो सकता था। कठिनाई थी तो केवल यही कि ग्राम-पंचायतो के संगठन में हस्तक्षेप न करते हुए भ्रातृ-संघो का एक वृहद् भ्रातृसंघ किस प्रकार बनाया जाय। वृहद्-संघ का स्वरूप निश्चित हो गया और कई अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा हुई, उस समय नगरो ने अपनी स्वाधीनता घोषित करने में विचार की जिस एकता का परिचय दिया, उसकी रेल, तार और छापेखाने की इस शताब्दी में भी हमें प्रशंसा ही करनी पड़ेगी। हमें सैकड़ों ही ऐसे घोषणा-पत्र मिले हैं, जिनमें नगरों ने अपने उद्धार की वार्ता लिखी है। इन घोषणापत्रों की तफ्सील में हमें वहुत अधिक विविधता मिलती है। इस विविधता का कारण यह है कि भिन्न-भिन्न नगरो ने भिन्न-भिन्न परिमाण में स्वाधीनता प्राप्त की, किसी ने कम और किसी ने ज्यादा। किन्तु सभी घोषणापत्रों के मूल सिद्धान्त एक-से ही हैं। नगरो ने अपने संगठन के भीतर छोटी-छोटी ग्राम-पंचायतें और भ्रातृ-संघ दोनों को ही शामिल कर लिया।

घोषणापत्रों में—

सन ११८८ में फ्लेण्डर्स के काउण्ट फिलिप ने आइरे के नगरों को जो स्वाधीनता का घोषणापत्र दिया था, उसमें इस प्रकार लिखा है:—

"नगर के मित्र-संघ में जो भी लोग शामिल हैं, उन सबने प्रतिज्ञा की है और ईमान तथा शपथपूर्वक उस प्रतिज्ञा को स्वीकार किया है कि वे प्रत्येक उपयोगी और सच्चे काम में एक-दूसरे की भाई-भाई की तरह मदद करेंगे। यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध वाचा या काया से अपराध करे तो न तो स्वयं पीड़ित व्यक्ति और न उसके रिश्तेदार ही उस अपराध का बदला लेंगे।…… …पीड़ित व्यक्ति दावा पेश करेगा और बारह निर्वाचित न्यायाधीश पंचों की हैसियत से जो फ़ैसला करेंगे, उसके अनुसार अपराधी अपने अपराध की क्षति-पूर्ति कर देगा। यदि अपराधी या पीड़ित व्यक्ति तीन बार चेतावनी देने पर भी पंचों के फैसले को स्वीकार न करेगा तो वह मित्र-संघ से एक दुष्ट और विश्वासघातक आदमी की भांति बहिष्कृत कर दिया जायगा।"

अमीयनो और अबेविलों के घोषणापत्रों में लिखा है:—"संघ का प्रत्येक आदमी अपने साथी पंच के प्रति सच्चा रहेगा और उसको न्यायानुसार सलाह और मदद देगा।" सोईसनों, कम्पेनो, सेनलियों और इसी तरह के अनेक दूसरे घोषणापत्रो में भी लिखा है कि "संघ की सीमा के भीतर सब आपस में एक-दूसरे की यथाशक्ति सहायता करेंगे, वे यह कभी सहन न करेंगे कि कोई किसी से कुछ ले या किसी को देने के लिए विवश करे।"

गुलामी के हामी गिल्बर्ट नोगेएट ने लिखा है कि "संघ बनाने का अर्थ ही पारस्परिक सहयोग की शपथ लेना है।…… संघ एक नया और घृणित शब्द है। संघ के जरिये से गुलाम सभी

प्रकार की दासता से मुक्त हो जाते हैं । संघ में शामिल होने के बाद क़ानून-भङ्ग के लिए गुलामों पर वही जुर्माना किया जा सकता है जिसे क़ानून ने निश्चित कर दिया है । उन्हे अपने मालिकों को वे रक़में भी नहीं देनी पड़तीं, जो पहले वे हमेशा देते रहते थे ।"

बारहवीं शताब्दी में स्वाधीनता की यही लहर युरोप के सभी भागों में फैली । धनी नगर और ग़रीब से ग़रीब क़स्बे दोनों पर ही इसका असर पड़ा । हम यह कह सकते हैं कि बहुत करके सब से पहले इटली के नगर ही स्वतन्त्र हुए किन्तु हम ऐसा कोई केन्द्र निश्चित नहीं कर सकते जहाँ से यह हलचल शुरू हुई । मध्य युरोप में बहुधा एक छोटे क़स्बे ने अपने क्षेत्र के लिए नेतृत्व ग्रहण किया और बड़े-बड़े नगरों ने उस क़स्बे के घोषणापत्र को अपने लिए आदर्श माना । लोरिस नामक छोटे क़स्बे के घोषणापत्र को दक्षिण-पश्चिम फ्रांस के ८३ क़स्बों ने अपनाया और व्युमोण्ट क़स्बे का घोषणापत्र बेल्जियम और फ्रांस के पाँच सौ क़स्बों के लिए आदर्श बना । एक नगर ने दूसरे नगर से विशेष प्रतिनिधि भेजकर वहाँ के घोषणापत्र की नक़ल मँगवाई और उसके अनुसार अपना विधान बनाया । किन्तु वे उस विधान को ज्यों-का त्यों नहीं अपना लेते थे । अमीर-उमरावों से जो अधिकार उन्होने प्राप्त किये थे, उनको ध्यान में रखकर वे अपने विधानों की रचना करते थे । मध्यकालिक संघों के घोषणापत्रों में जो विविधता मिलती है, उसका यही कारण है । एक इतिहासकार के कथनानुसार इस विविधता की

स्वतन्त्रता की लहर

तुलना छोटे-बड़े गिरजाघरों की प्राचीन इमारतों की विविधता से की जा सकती है। सब गिरजाघरों के मूल सिद्धान्त तो एक से ही हैं, किन्तु उनकी तफसील में वही विविधता की भरमार है। उस समय नगर के गिरजाघर पादरियों और नागरिक संघों की एकता के द्योतक थे।

स्वातन्त्र्य-संघों की विशेषता

न्याय स्वातन्त्र्य-संघ की मुख्य विशेषता थी और मध्य-कालिक परिस्थिति में न्याय-स्वातन्त्र्य का अर्थ होता था शासन-स्वतन्त्र्य। किन्तु संघ किसी सत्ता का केवल एक 'स्वतन्त्र' अंग न था, ऐसे गोलमोल शब्दों का उस समय तक आविष्कार भी न हुआ था। संघ की खुद स्वतन्त्र सत्ता थी। अपने पड़ोसियों के साथ युद्ध और सन्धि करने, मेल-मिलाप करने या एक संगठन में शामिल होने का उसे अधिकार था। वह अपने मामलों में पूर्ण स्वतन्त्र था और दूसरों के मामलों में हस्तक्षेप न करता था। एक निर्वाचित न्यायालय को पूर्णतः सर्वोच्च राजनैतिक सत्ता दी जा सकती थी। उदाहरण के लिए स्कोब का न्यायालय अपने प्रतिनिधि भेजता था और दूसरी जगह के प्रतिनिधि वहाँ आते थे, वह संधि की शर्तें निश्चित करता था, राजाओं को चुनता और उतारता था तथा कभी-कभी कई वर्षों तक उनका चुनाव ही नहीं करता था। इटली और मध्य युरोप के सैकड़ों नगरों में राजनैतिक सत्ता व्यापारियों अथवा अमीर-उमरावों की संस्थाओं में केन्द्रित कर दी गई थी या उन संस्थाओं ने उसे हड़प लिया था। फिर भी सिद्धान्त वही रहा। नगर की एक अलग सरकार

थी। इस से भी अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि जब नगर में व्यापारियों और अमीर-उमरावों की सत्ता का प्राबल्य हुआ, तब भी नगर का आन्तरिक जीवन लुप्त न हुआ, उसके दैनिक जीवन की प्रजातन्त्री भावनायें क़ायम रहीं। बात यह है कि जिसे शासन का राजनैतिक ढांचा कहा जा सकता है, जनता उसपर बहुत कम आधार रखती थी।

इस प्रकट विपरीतता का रहस्य यह है कि मध्यकालिक नगर का संगठन वैसा न था जैसा केन्द्रीभूत शासन-संस्था का संगठन होता है। अपने अस्तित्वकाल की प्रथम शताब्दियों में नगर को, जहाँ तक उसके आन्तरिक संगठन का सवाल है, राज-संस्था का नाम शायद ही दिया जा सके। मध्यकालिक युगों में लोग जिस प्रकार आजकल के प्रदेशों के केन्द्रीकरण से परिचित न थे उसी प्रकार भिन्न-भिन्न कामों के आधुनिक केन्द्रीकरण से भी परिचित न थे। प्रत्येक दल अपने-अपने स्वाधीनता के अंश का उप-भोग करता था। आमतौर पर नगर को चार हिस्सों में या पांच से सात विभागों में बांटा जाता था। ये विभाग एक ही केन्द्र से शुरू होते थे और हरएक हिस्से या विभाग में एक ख़ास व्यवसाय या पेशे के लोग रहते थे। किन्तु व्यवसाय एक होते हुए भी उनमें रहने वालों की सामाजिक स्थिति भिन्न होती थी और वे भिन्न-भिन्न प्रकार के काम करते थे। उनमें अमीर, व्यापारी, कारीगर, अर्द्धदास तक सभी श्रेणी के लोग होते थे। प्रत्येक विभाग या हिस्से के लोगों का बिल्कुल स्वतन्त्र समूह होता था। वेनिस नगर के हरएक टापू में स्वतन्त्र राजनैतिक समुदाय रहता

था। इस समुदाय के अपने अलग संगठित व्यवसाय होते थे, उसका अपना नमक का व्यापार था। अपनी सीमा में न्याय और शासन-सम्बन्धी सत्ता का वह उपभोग करता था। उसका अपना स्वतन्त्र न्यायालय होता था। नगर-द्वारा मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति से नगर के अलग-अलग अङ्गों यानी विभागों की भीतरी स्वाधीनता मे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता था। कोलगने नगर के निवासी पड़ोसी संघों में विभक्त होकर रहते थे। इन संघों का जन्म फ्रेन्कोनियन -काल में हुआ था। हरएक पड़ोसी संघ में एक न्यायाधीश, वही बारह निर्वाचित दण्ड-निर्णायक, एक मुख्य कर्मचारी और स्थानिक सेना का एक सेनानायक होता था। मि० ग्रीन का कहना है कि विजय से पहले शुरू के लन्दन की यह अवस्था थी कि छोटे-छोटे दल चहारदीवारी के भीतर इधर-उधर फैले हुए थे। प्रत्येक दल अपने जीवन और संस्थाओं, भ्रातृ-संघों तथा धर्म-स्थानों आदि का विकास करता था और धीरे-धीरे म्युनिसिपल संगठन की अधीनता में एक-दूसरे के नजदीक आता जा रहा था। यदि हम रूसी नगरों के इतिहास को देखें तो हमें पता लगता है कि नोवगोरोड और स्कोफ़ दोनों ही नगरों के विभागों में स्वतन्त्र सड़कें थीं और हरएक सड़क के इधर-उधर मुख्यतया एक व्यवसाय-विशेष के कारीगर रहते थे। हाँ, उनमे कुछ व्यापारी और जमींदार भी अवश्य होते थे। इस तरह प्रत्येक गली में एक स्वतन्त्र समुदाय रहता था। इस समुदाय में अप-राधों के लिए सब सदस्यों की सामुदायिक जिम्मेदारी समझी

क्रम-विकास

जाती थी और न्याय और शासन की व्यवस्था पंचों-द्वारा होती थी। उसकी अपनी मुहर थी और आवश्यकता पड़ने पर अलग न्यायालय भी। सेना भी उसकी अलग होती थी। इसके अलावा अपने पादरियों का वह आप चुनाव करता था। उसका जीवन सामूहिक था और उद्योग भी सामूहिक ही थे।

इस तरह मध्यकालिक नगरों का दुहरा संगठन दिखाई देता है। एक तो नगर के विभिन्न हिस्सों में रहने वाले या विभिन्न गिरजाघरों से सम्बन्ध रखने वाले कुटुम्बों के भिन्न-भिन्न संघ होते थे और दूसरे सब लोग पेशों के अनुसार शपथपूर्वक भ्रातृ-संघो के संगठन में शामिल होते थे। ग्राम्य-समुदायों से ही नगरों की उत्पत्ति हुई थी, इसलिए नगरों में प्रथम संगठन का जन्म ग्राम्य-समुदायों के प्रादेशिक सिद्धान्त के अनुसार हुआ। दूसरा संगठन जीवन की नवीन परिस्थितियों के फल-स्वरूप बाद में पैदा हुआ था।

स्वाधीनता, स्वशासन और शान्ति की रक्षा करना मध्य-कालिक नगरों का मुख्य उद्देश्य था और जैसा कि व्यवसाय-संघों का जिक्र करते हुए हम अभी-अभी बतावेंगे, श्रम उनका मुख्य आधार था। किन्तु मध्य-काल के अर्थ-शास्त्रियों का सारा ध्यान 'उत्पत्ति' की ओर ही नहीं लगा रहा। उन्होंने व्यावहारिक आदमियों की भांति यह समझा कि उत्पत्ति के लिए 'खपत' की व्यवस्था होना आवश्यक है और इसलिए प्रत्येक नगर में धनी और ग़रीब दोनों ही के लिए समान रूप से भोजन और रहन-सहन की व्यवस्था करना

नगरों का मुख्य उद्देश्य

मूल सिद्धान्त माना जाता था। खाद्य-सामग्री और अन्य अत्यन्त आवश्यक वस्तुयें (कोयला, लकड़ी आदि) जबतक बाजार में न पहुँच जातीं, तबतक नहीं खरीदी जा सकती थीं अर्थात् कोई भी आदमी विशेष अनुकूल परिस्थितियों से लाभ उठाकर दूसरों की अपेक्षा सस्ते भाव पर चीजें नहीं खरीद सकता था। हर एक चीज आम बिक्री के लिए बाजार में पहुँचाई जाती थी और तब तक वहाँ रक्खी जाती थी जबतक बाजार बन्द होने की घण्टी न बज जाती। इसके बाद भी फुटकर व्यापारी बची हुई चीजों को खरीद सकता था, किन्तु उस दशा में भी वह केवल 'उचित' मुनाफा ही ले सकता था। × इसके अतिरिक्त, बाजार बन्द होने पर जब कोई रसोइया थोकबन्द ग़ल्ला ख़रीदता तो हर एक नागरिक को उस ग़ल्ले का एक हिस्सा (क़रीब एक चौथाई) अपने काम के लिए थोक भाव पर ख़रीदने का अधिकार होता था। किन्तु रसोइया का सौदा अन्तिम रूप से तय होने के पहले-पहले ही ऐसा हो सकता था। इसी तरह यदि कोई नागरिक पुनः बेचने के लिए ग़ल्ला खरीदता तो उस नाज में से भी रसोइया उतना ही हिस्सा ख़रीद सकता था। पहली दशा में नाज केवल क़स्बे की पनचक्की पर ले जाया जा सकता था जहाँ वह एक निश्चित क़ीमत

× जब एक नाव कोयले की खेप लेकर वर्जबर्ग को जाती थी तो केवल पहले आठ दिन तक कोयले फुटकर रूप में बेचे जाते थे। हरेक कुटुम्ब पचीस टोकरियों से अधिक नहीं ले जा सकता था। इसके बाद बचा हुआ कोयला थोकबन्द बेचा जा सकता था, किन्तु फुटकर व्यापारी को केवल उचित मुनाफा लेने की इजाजत थी। बेईमानी से मुनाफा कमाने की सख्त मनाई थी। लन्दन और अन्य स्थानों में भी ऐसा ही होता है।

पर वारी पर पीसा जाता था। इस आटे की रोटियाँ सार्वजनिक रसोईघर में पकाई जा सकती थीं। संक्षेप में, यदि किसी नगर में खाद्य-सामग्री का अभाव हो जाता तो उससे कम या अधिक सभी को कष्ट उठाना पड़ता था। किन्तु जवतक स्वतन्त्र नगर क़ायम रहे संकटकाल को छोड़कर उनके वीच में कोई भी आदमी भूख के मारे नहीं मर सकता था। जैसा कि दुर्भाग्यवश आज-कल वहुधा होता रहता है।

किन्तु यह सव नियम वाद में जाकर वने हैं। शुरू में तो नागरिकों के उपयोग के लिए समस्त खाद्य-सामग्री स्वयं नगर की कार्यकारिणी ही ख़रीदती थी। मि० ग्रोस ने हाल ही में जो प्रमाण प्रकाशित किये हैं, उनमें यह वात स्पष्ट रूप से कही गई है। उन से मि० ग्रोस के इस नतीजे का पूरी तरह समर्थन होता है कि जो भी खाद्य-सामग्री आती थी वह नगर के नाम पर म्युनिसिपल कर्मचारियों द्वारा ख़रीद ली जाती थी और उसके वाद व्यापारियों के वाजार मे हिस्से से वांट दी जाती थी। वन्दरगाह में उतरे हुए माल को जव म्युनिसिपल अधिकारी ख़रीदने से इन्कार कर देते तभी कोई उसे ख़रीद सकता था। मि० ग्रोस का कहना है कि इंग्लैण्ड, आयर्लैण्ड, स्काटलैण्ड मे यह विलकुल आम रिवाज था। सोलहवीं शताब्दी तक लन्दन में सव लोगों के उपयोग और लाभ के लिए ग़ल्ला म्युनिसिपैलिटी-द्वारा इकट्ठा ख़रीदा जाता था। इस वात की पुष्टि उस लेख से होती है जो उस समय के मेयर ने लिखा था। वेनिस नगर के लिए तो यह प्रसिद्ध है कि नाज का सारा व्यवसाय नगर-संघ के हाथ में था। नगर-

संघ का आयात-विभाग खाद्य-सामग्री नगर के अलग-अलग केन्द्रों में भेज देता था और वे केन्द्र उस सामग्री का निश्चित हिस्सा हरएक नागरिक के घर-पर पहुँचा देते थे। फ्रांस में आमीन्स नगर थोकबन्द नमक ख़रीद कर लागत मूल्य पर सब नागरिकों में बॉट देता था और आज भी फ्रांस के अनेक नगरों में ऐसे मकानात मिलते हैं जो पहले नाज और नमक के म्युनिसिपल गोदाम थे। रूस के नोवगोरोड और स्कोव नगरो में इस तरह क्रय-विक्रय करने का नियमित रिवाज था।

नागरिकों के उपयोग के लिए सामूहिक ख़रीदारी सम्बन्धी सारे मामले पर और जिस ढंग से सामूहिक खरीदारी होती थी, उस पर अभी तक आधुनिक इतिहासकारो ने काफी ध्यान नही दिया प्रतीत होता है। फिर भी जहाँ-तहाँ कुछ अत्यन्त मनोरञ्जक बातें मिलती है जिन से उन पर नया प्रकाश पड़ता है। मि० ग्रोस के दस्तावेजों में सन् १३६७ का एक किलकेनी आर्डिनेन्स (विधान) मिलता है। इस से यह मालूम होता है उस समय चीजों की क़ीमत कैसे स्थिर की जाती थी। मि० ग्रोस कहते हैं:—"व्यापारियों और मल्लाहों को यह शपथ लेकर कहना पड़ता था कि माल का लागत मूल्य कितना लगा और उसको लाने में कितना ख़र्च हुआ। इसके बाद नगर का मेयर और दो बुद्धिमान व्यक्ति मिलकर उस माल की क़ीमत निश्चित करते थे, जिस पर वह माल बेचा जा सकता था।" थर्सो नगर में भी जल या थल से आनेवाले माल के विषय में यही नियम था। मध्यकाल में व्यापार के जो नियम प्रचलित थे,

कीमत का निश्चय

इनका परिचय 'क़ीमत स्थिर करने' की इस प्रथा में भलीभांति मिल जाता है। इस परिचय से यह विदित होता है कि यह प्रथा प्रायः सर्वव्यापी रही होगी। तीसरे आदमी द्वारा क़ीमत स्थिर कराने का रिवाज बहुत पुराना है। जो माल नगर के भीतर एक हिस्से से दूसरे हिस्से में जाकर बिकता था, उसके सम्बन्ध में तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने का काम खरीदने-बेचने वाले पर नहीं, बल्कि तीसरे पक्ष के बुद्धिमान आदमियों पर छोड़ने का आम रिवाज था। किन्तु यह व्यवस्था हमें इतिहास के उस प्राचीन काल में पहुँचा देती है, जब मुख्य पैदावार का सामूहिक व्यवसाय होता था और निर्यात होनेवाले माल को बेचने के लिए व्यापारी केवल नगर के कमिश्नर (प्रतिनिधि) मात्र होते थे। मि० ग्रोस ने वाटर फोर्ड का भी एक आर्डिनेन्स (विधान) प्रकाशित किया है। उस में लिखा है कि "सब क़िस्म का माल मेयर और अस्थायी सार्वजनिक व्यापारी खरीदेंगे और बाद में सब नागरिकों में बाँट देंगे।" (केवल नागरिकों और अन्य नगर-निवासियों के व्यक्तिगत माल को इस तरह नहीं खरीदा जाता था।) इस आर्डिनेन्स का मतलब समझने के लिए यह मानना ही होगा कि नगर का सब बाहरी व्यापार उस के प्रतिनिधियों द्वारा होता था। स्कोव और नोवगोरोड नगरों के सम्बन्ध में तो हमारे पास इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। ये स्वाधीन नगर दूर दूर देशों में अपने व्यापारी दल भेजते थे।

कुछ और उदाहरण

हम यह भी जानते हैं कि मध्य और पश्चिमी युरोप के क़रीब-करीब सभी मध्यकालिक नगरों में व्यवसाय-संघ सभी आवश्यक सामग्री सामूहिक रूप में ख़रीदते और जो चीज़ें बनाते उन को अपने कर्मचारियों द्वारा बेचते थे। जब आन्तरिक व्यापार की यह दशा थी तो यह संभव नहीं कि अन्य देशों के साथ होने वाले व्यवसाय के सम्बन्ध में यही नियम लागू न हो, विशेष कर जब हम देखते हैं कि तेरहवीं शताब्दी तक एक व्यापारी दूर देश में जो कर्ज़ा लेता था, उसके लिए न केवल उस नगर के सब व्यापारी बल्कि सारा का सारा नगर उत्तरदायी समझा जाता था। केवल बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में जाकर राइन प्रदेश के कस्बों ने विशेष सन्धियाँ की और इस उत्तरदायित्व को मंसूख किया। अन्त में हमें मि० ग्रोस द्वारा प्रकाशित इप्सविच नगर का दस्तावेज़ मिलता है। इस दस्तावेज़ से यह मालूम होता है कि उस नगर के व्यवसाय-संघ में वे सभी लोग शामिल थे, जिन्हें नगर में इजाज़त प्राप्त थी और जो अपना चन्दा संघ को अदा करने की इच्छा रखते थे। सारा समुदाय मिलकर इस बात पर विचार करता था कि किस प्रकार व्यवसाय-संघ को क़ायम रखा जाय और उसको कुछ ख़ास सुविधायें देता था। इस तरह इप्सविच नगर का व्यवसाय-संघ व्यवसाय-विशेष करनेवाले व्यक्तियों के सामूहिक संघ की अपेक्षा नगर के प्रतिनिधियों का संघ अधिक दिखाई देता है।

संक्षेप में, मध्यकाल के नगरों के संगठन के विषय में हमारी जानकारी जितनी ही अधिक बढ़ती है, उतना ही अधिक हमें

मालूम होता है कि वह ख़ास राजनैतिक अधिकारों की रक्षा करनेवाला केवल राजनैतिक संगठन न था। वह तो एक ऐसा प्रयास था जिसने ग्राम-पंचायतों के संगठन की अपेक्षा कहीं बड़े पैमाने पर पारस्परिक सहयोग और सहायता के लिए, उत्पत्ति और खपत के लिए तथा सर्वतोमुखी सामाजिक जीवन के लिए ठोस संगठन क़ायम करने की चेष्टा की। इस पर विशेषता यह कि उसने जनता को राज्य-सत्ता की बेड़ियों में नहीं जकड़ा, बल्कि व्यक्तियों के हरएक स्वतन्त्र दल को कला, दस्तकारी, विज्ञान, व्यापार और राजनैतिक संगठन में अपनी-अपनी रचनात्मक प्रतिभा के प्रदर्शन को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान की। यह प्रयास कितना सफल हुआ, इसका अनुमान तभी अच्छी तरह किया जा सकेगा जब हम अगले अध्याय में मध्यकालिक नगरों के श्रम-संगठन और नगरों तथा आस-पास की किसान जनता के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण कर चुकेंगे।

[६]

मध्यकालिक नगरों में सहयोग

(उत्तरार्द्ध)

मध्यकालिक नगर किसी बाहरी क़ानून-निर्माता के आदेशानुसार पूर्व निर्धारित योजना के आधार पर संगठित नहीं हुए थे। हरएक नगर का विकास बिलकुल स्वाभाविक रीति से हुआ था। भिन्न-भिन्न शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष के कारण प्रत्येक नगर के संगठन का स्वरूप हमेशा अन्य नगरों के संगठन से भिन्न प्रकार का रहा। ये शक्तियाँ अपनी-अपनी क्षमता, संघर्ष के अवसरों और आस-पास के अनुकूल वातावरण के अनुसार अपने-आपको बनाती रहती थीं। इसीलिए हमें दो नगर भी ऐसे नहीं मिलते जिनका भीतरी संगठन और भविष्य एक-सा रहा हो। फिर भी जब हम युरोप के सब नगरो पर व्यापक दृष्टि डालते हैं तो उनकी स्थानीय और जातीय विभिन्नता लुप्त हो जाती है। उन सब में आश्चर्यजनक समानता देखकर हम चकित रह जाते हैं, विशेषकर उस अवस्था में जब कि हरएक नगर का विकास स्वतन्त्र रीति से और भिन्न परिस्थितियो में हुआ था। एक ओर उत्तरी स्काटलैण्ड का अशिक्षित मजदूरों और मछुओं का एक

परिस्थितियों की भिन्नता

छोटा क़स्बा है तो दूसरी ओर फ्लेण्डर्स जैसा धनिक नगर है जिसका संसार-व्यापी व्यापार था और जो ऐशोआराम, नाना-भांति के मनोरंजन और क्रियाशील जीवन के लिए प्रसिद्ध था। इसी प्रकार एक ओर इटली का वह नगर है जो अपने पूर्वीय देशों के सम्बन्ध के कारण समृद्ध बना है और जिसकी चहार-दीवारी के भीतर सुसंस्कृत कला और सभ्यता पलती है तो दूसरी ओर रूस के दलदल और झील-प्रधान जिले का एक दरिद्र नगर है जहाँ मुख्यतया खेती होती है। इन चारों नगरो में कुछ भी समानता नहीं नजर आती, फिर भी उनके संगठन के मुख्य आधार और उनकी प्रेरक शक्ति में हमें दृढ़ कौटुम्बिक सादृश्य मिलता है। हर जगह हमें छोटे-छोटे समुदायो और भ्रातृ-संघो का वही एकीकरण, नगर के चारों ओर वे ही उपनगर, वेही पंचायतें और वे ही स्वाधीनता के चिन्ह दिखाई देते हैं। हम

आधार की एकता

देखते हैं कि नगरों के रक्षक भिन्न-भिन्न नामों तथा वर्दी से उसी सत्ता और उन्हीं स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करते हैं; खाद्य-सामग्री का विभाजन, श्रम और व्यापार क़रीब-क़रीब एक-से ही ढंग पर होता है; भीतरी और बाहरी संघर्ष एक-सी इच्छाओं को लेकर लड़े जाते हैं; इतना ही नहीं, लड़ाइयो, रोजनामचो, आर्डिनेंसों (विधानो) और भोजपत्रों की भाषा भी मिलती-जुलती होती है। इमारतें भी एक ही तरह की आकांक्षाओं और आदर्शों को प्रदर्शित करती हैं चाहे वे गोथिक, रोमन या विजेण्टाइन किसी भी ढंग की क्यों न हों। वे एक से विचार को लेकर और एक से ढंग पर बनाई जाती हैं।

बहुत-सा भेद तो केवल समय के अन्तर के कारण है, बाकी साथ-साथ बने हुए नगरों में जो वास्तविक भेद है, वह युरोप के भिन्न-भिन्न हिस्सों में मिलता है। नगर-संगठन के मुख्य विचार की एकता और उत्पत्ति की समानता जलवायु, भौगोलिक स्थिति, सम्पत्ति, भाषा और धर्म के भेदों की पूर्ति कर देती है। यही कारण है कि मध्यकालिक नगरों को हम सभ्यता का एक सुनिश्चित स्वरूप कह सकते हैं और उनके स्थानीय और व्यक्तिगत अन्तर पर जोर देनेवाली हर एक खोज का स्वागत करते हुए भी हम विकास के उन प्रधान तरीक़ों की ओर निर्देश कर सकते हैं जो सभी नगरों मे मिलते हैं।

इसमें कोई सन्देह नही कि बर्बर जातियों के प्रारम्भ काल से ही बाजारों को जो संरक्षण किया जाता रहा है, उसने मध्यकालिक नगरो के उद्धार में पूरा न सही, एक महत्वपूर्ण भाग अवश्य लिया है। शुरू के बर्बर मनुष्यों में अपने ग्राम्य-समुदायों के भीतर व्यापार करने का रिवाज न था, वे केवल अपरिचितों के साथ व्यापार करते थे इसके लिए भी उन्होने कुछ ख़ास स्थान और दिन निश्चित कर रखे थे। उस ज़माने में यह सम्भावना तो रहती ही थी कि दो जातियों में होने वाले झगड़े के कारण कोई किसी को मार न दे। इसलिए बाजार पर हमेशा सब जातियों का विशेष संरक्षण रहता था ताकि अपरिचित लोग लेन-देन की जगह बिना किसी ख़तरे के आ सकें। धर्म-स्थानों की भांति बाजारों की मर्यादा भी अक्षुण्ण होती थी जो धर्म-स्थानों की छाया में लगा करते थे।

एक महत्वपूर्ण अंग

कबिले लोगों में आज भी बाजार 'अनाथ' (शान्ति-स्थल) समझा जाता है, जहाँ उस सड़क की भांति जिस पर स्त्रियां कुओं से पानी भरने जाती हैं, कोई हथियार लेकर नहीं जा सकता चाहे वह अन्तर्जातीय लड़ाई का अवसर ही क्यों न हो। मध्यकालिक युग में बाजार सब जगह ऐसे ही संरक्षण का उपभोग करते थे। जिस जगह व्यापार के लिए लोग आते थे वहाँ या उसके इर्द-गिर्द एक निश्चित घेरे में कोई झगड़ा जारी नहीं रखा जा सकता था। यदि खरीद-फरोख्त करने वाली रंग-बिरंगी भीड़ में कोई झगड़ा हो जाता तो वह उन लोगों के सामने लाया जाता जिनके सिर पर बाजार के संरक्षण का भार होता था। ऐसे झगड़े समुदाय के न्यायालय अथवा प्रधान पादरी, भूस्वामी या राजा के न्यायाधीश के सामने लाये जाते थे। व्यापार के लिए आने वाला व्यक्ति अतिथि माना जाता था। अतिथि शब्द से ही उसको सम्बोधित किया जाता था। जो भू-स्वामी एक आम सड़क पर व्यापारियों को लूट लेने में कुछ बाधा न समझता था, वह भी बाजार में गड़ी हुई उस बल्ली का आदर करता था जिस पर या तो कोई राज्य का हस्त-चिन्ह होता था या किसी स्थानीय साधु पुरुष की मूर्ति अथवा केवल क्रास बना होता था। राजा, भू-स्वामी, स्थानीय गिरजा या जन-पंचायत जिस किसी के संरक्षण में बाजार होता, उसी के अनुसार इस बल्ली पर चिन्ह बनाये जाते थे।

यह समझना सरल है कि जब बाजार की मर्यादित सीमा में न्याय करने का विशेष अधिकार इच्छा से अथवा अनिच्छा से नगर को मिला तो उस अधिकार में से किस प्रकार नगर के न्याय-स्वातन्त्र्य का विकास हुआ। नगर के स्वतंत्र अधिकारो की इस प्रकार की उत्पत्ति ने अनिवार्यतः उसके भावी विकास पर विशेष रूप से असर डाला। उसने समुदाय के व्यापारिक अंग को प्राधान्य दिया। जिन लोगों के नगर में अपने घर होते थे और जो नगर की जमीन के सम्मिलित अधिकारी होते थे, वे सब मिलकर आमतौर पर व्यापारी संघ का निर्माण करते थे। इसी संघ के हाथ में नगर का व्यापार रहता था। यद्यपि शुरू में प्रत्येक नागरिक, चाहे वह धनी हो या दरिद्र व्यापारी, संघ का सदस्य बन सकता था और नगर के प्रतिनिधि समस्त नगर का व्यापार करते थे, किन्तु धीरे-धीरे यह संघ एक प्रकार की विशेष सुविधा-प्राप्त संस्था बन गई। उसने बाहरी लोगों को संघ में घुसने से सावधानी के साथ रोका जिन्होंने झुण्ड के झुण्ड बनाकर स्वतन्त्र नगरों में आना शुरू कर दिया था और व्यापार से होने वाले लाभों को उन थोड़े से 'कुटुम्बों' तक सीमित रखा जो स्वाधीनता-प्राप्ति के समय उन नगरों में बसे हुए थे। स्पष्टतः उस समय अल्प-संख्यक व्यापारी समुदाय का वर्गीय शासन क़ायम हो जाने का खतरा था। किन्तु दसवीं और उसके आगे की दो शताब्दियों में मुख्य-मुख्य व्यवसायो के भी संघ बन गये। जो व्यापारियो की सत्तालोलुप प्रवृत्तियों को रोकने के लिए काफी शक्तिशाली थे।

व्यापार का संरक्षण

उस जमाने में व्यवसाय-संघ तैयार माल को बेचने और कच्चे माल को खरीदने का काम सामूहिक रूप से करता था। इस संघ के सदस्य व्यापार और मेहनत-मजदूरी दोनों साथ-साथ करते थे। इसलिए आगे चलकर शारीरिक श्रम को नगर में जो ऊँचा स्थान मिला, उसकी प्राचीन व्यवसाय-संघों ने स्वतंत्र नागरिक जीवन के प्रारम्भ से ही गारण्टी कर दी थी। सच तो यह है कि मध्यकालिक नगरों में शारीरिक श्रम कोई तुच्छता का चिन्ह नहीं समझा जाता था। इसके विपरीत, ग्राम्य समुदायों के काल में जो उसे ऊँचे दर्जे की इज्जत प्राप्त थी, वह मध्यकालिक युग में भी क़ायम रही। किसी भी व्यवसाय मे शारीरिक श्रम करना नागरिकों के प्रति पवित्र कर्तव्य समझा जाता था। वह एक ऐसा सम्मानजनक सार्वजनिक काम था जैसा कि अन्य कोई काम हो सकता है। उस समय जब कोई माल तैयार किया जाता था तो इस बात का खयाल रखा जाता था कि समुदाय के प्रति 'न्याय' हो अर्थात् वही चीज पैदा की जाती थी जिसकी समुदाय को आवश्यकता होती थी और जो बढ़िया भी होती थी। इसी प्रकार माल पैदा करने वाला अपना यह कर्तव्य समझता था कि केवल खपत के लिए नहीं, कला के लिए वह बढ़िया से बढ़िया माल पैदा करे और माल खपाने वाला अपना यह अधिकार समझता था कि उसे अपनी रुचि के अनुसार अच्छी से अच्छी चीज मिले। ये बातें आज व्यर्थ-सी मालूम देती हैं किन्तु उस जमाने में उत्पत्ति और विनिमय के यही सिद्धान्त थे। चमार, ठठेरा अथवा मोची

श्रम और व्यापार का समन्वय

का काम ठीक-ठीक और अच्छा होना चाहिए, कारीगरों के काम में आनेवाली हरएक चीज़ लकड़ी, चमड़ा या डोरा बढ़िया होना चाहिए, रोटियों के साथ 'न्याय' करने के लिए वे भली प्रकार से पकाई जानी चाहिएँ, उस ज़माने की यही भाषा थी। इस भाषा का आज प्रयोग कीजिए, वह आप को बनावटी और अस्वाभाविक प्रतीत होगी, किन्तु उस समय वह स्वाभाविक और ठीक थी, कारण कि मध्यकालिक कारीगर किसी अज्ञात खरीददार या अज्ञात बाज़ार के लिए कोई माल तैयार नहीं करता था। वह सबसे पहले अपने भ्रातृ-संघ के लिए माल तैयार करता था। इस भ्रातृ-संघ के सब आदमी एक-दूसरे से परिचित होते थे, वे धन्धे की बारीकियों को समझते थे और एक चीज़ की क़ीमत स्थिर करते समय इस बात का ध्यान रखते थे कि उस चीज़ के बनाने में कितनी बुद्धि अथवा मेहनत खर्च की गई है। इसके उपरान्त माल बनाने वाला व्यक्तिगत रूप से नहीं, प्रत्युत स्वयं भ्रातृ-संघ उस माल को समुदाय में बिक्री के लिए रखता था और जिस माल की निर्यात होती थी उसको यह समुदाय दूसरे साथी समुदायों के भ्रातृ-संघो में बेचता था। इस माल की अच्छाई की जिम्मेदारी बेचने वाला समुदाय अपने सिर पर ले लेता था। व्यवसाय के इस संगठन में प्रत्येक धन्धे वालों की यह आकांक्षा रहती थी कि वे हल्के दर्जे का माल न बेचें और किसी भी चीज़ के बनावट-सम्बन्धी दोषों का सारे समुदाय पर असर पड़ता था। उस समय के एक आर्डिनेन्स (विधान) में लिखा है कि "ख़राब चीज़ तैयार करने से हम जनता का विश्वास खो बैठेंगे।"

इस प्रकार जब उत्पत्ति को एक सामाजिक कर्तव्य समझा जाता था और उसकी सारी व्यवस्था समुदाय के नियन्त्रण में होती थी, उस समय शारीरिक श्रम का आजकल की भांति पतन हो सकना सम्भव न था, विशेषतः उस अवस्था में जब कि स्वाधीन नगरों का अस्तित्व बना हुआ था।

मध्यकालिक नगरों में शुरू से ही कारीगर और उम्मेदवार अथवा मालिक और मजदूर का भेद विद्यमान था, किन्तु प्रारम्भ में यह भेद उम्र और योग्यता के कारण था, धन और शक्ति के कारण नहीं। जब उम्मेदवार सात वर्ष तक काम कर चुकता और एक कलापूर्ण काम-द्वारा अपने ज्ञान को तथा अपनी योग्यता को सिद्ध कर देता तो वह स्वयं मालिक या कारीगर बन जाता था। बहुत अर्से बाद १६ वीं शताब्दी में राज्य-सत्ता ने नगर और व्यवसाय के संगठन को नष्ट कर दिया, तभी वंश-परम्परा और धन के कारण लोग मालिक बनने लगे। किन्तु यही मध्यकालिक उद्योग-धन्धों और कला के सार्वत्रिक ह्रास का समय भी था।

मालिक और मजदूर का भेद

मध्यकालिक नगरों के प्रारम्भिक समृद्ध काल में मजदूरी पर काम लिये जाने की बहुत गुञ्जायश न थी। व्यक्तिगत रूप से मजदूरी करने वलों के लिए उससे भी कम गुंजायश थी। जुलाहों, शिकारियो, लुहारों, सुनारो, रसोइयों आदि का काम व्यवसाय और नगर के लिए होता था और जब इमारत बनाने के लिए कारीगर मजदूरी पर लगाये जाते थे तो वे अपने अस्थायी संघ बनाकर काम करते थे (रूस में आज भी ऐसा ही होता है) और

उनको काम की मजदूरी इकट्ठी दी जाती थी। किसी मालिक के लिए काम करने का प्रचार तो आगे चल कर ही हुआ, किन्तु उस दशा में भी मजदूर को आजकल इस देश में जितनी मजदूरी मिलती है उसकी अपेक्षा अधिक मजदूरी मिलती थी। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में समस्त युरोप में जितनी मज़दूरी मिला करती थी उससे तो उस समय मज़दूरी का दर कहीं अधिक था। थोरोल्ड राजर्स ने अपने अंग्रेज़ पाठकों को इस बात से परिचित करा दिया है किन्तु जैसा कि फ़ाके और शोनबर्ग के अन्वेषणो और अनेक समय-समय पर प्रकट होने वाले चिन्हों से पता चलता है, यही बात सारे युरोप के लिए भी कही जा सकती है। पन्द्रहवी शताब्दी तक में अमियंस नगर में एक राज, बढ़ई या लुहार मजदूर को चार सोल प्रति दिन के हिसाब से मज़दूरी दी जाती थी। चार सोल उस समय ४८ पौण्ड रोटी अथवा एक छोटे बैल के एक अष्टांश भाग के बराबर होते थे। सेक्सोनी में इमारत बनाने का काम करने वाले मज़दूर को इतना वेतन मिलता था कि फ़ाके के शब्दो में वह अपने छः दिन के वेतन में तीन भेड़ और एक जोड़ा जूता ख़रीद सकता था। कुछ खास व्यवसाय-संघ जो बड़ी-बड़ी रक़में दान मे देते थे अथवा खेल-तमाशों और त्यौहारो पर जितना खर्च करते थे, इस सब पर विचार न भी करें, तो भी मज़दूर लोग गिरजाघरो को जो चन्दा दिया करते थे उससे उनकी अपेक्षाकृत अच्छी हालत का पता चलता है। असल में मध्यकालिक नगरो के विषय में हमारी जानकारी जितनी ही अधिक बढ़ती है, उतनी ही अधिक हमारी

यह धारणा दृढ़ होती जाती है कि जब नगर उन्नति के शिखर पर थे, उस समय मज़दूरों की जैसी सुखी दशा थी, श्रमको जो आदर प्राप्त था, वैसा किसी भी ज़माने में नहीं रहा।

इससे भी अधिक मध्यकालिक युग में न केवल हमारे आधुनिक सुधारकों की बहुत-सी आकांक्षायें पूरी हो चुकी थीं, बल्कि जिसे आजकल आदर्श कहा जाता है, उस समय वह कार्यरूप में परिणत हो रहा था। जब हम यह कहते हैं कि काम आल्हादकारी होना चाहिए तो हमारी हँसी उड़ाई जाती हैं, किन्तु मध्यकालिक कटनबर्ग का एक आर्डिनेन्स (विधान) क्या कहता है, वह भी सुन लीजिए—"हर व्यक्ति को अपने काम से प्रसन्नता होनी चाहिए। जो आदमी कोई काम नहीं करता, वह दूसरे आदमी के साधनों और श्रम से तैयार हुई चीज का अपने लिए उपयोग नहीं करेगा, कारण कि क़ानून को दूसरो के श्रम तथा साधनो की रक्षा करनी ही चाहिए।" आजकल आठ घण्टे का दिन नियत कराने के लिए बड़ा शोर-गुल मचा हुआ है किन्तु फर्डिनेण्ड प्रथम ने एक आर्डिनेन्स निकालकर अपनी कोयले की खदानों में काम करनेवाले मजदूरों के लिए 'पुरानी परिपाटी के अनुसार' आठ घण्टे का दिन निश्चित कर दिया था और शनिचार को आधे दिन की छुट्टी रहने की व्यवस्था कर दी थी। जेनसेन का कहना है कि अधिक घण्टे तो काम कभी-कभी होता था, बाकी काम के घण्टे कम ही होते थे। राजर्स लिखता है कि पन्द्रहवीं शताब्दि में इस देश में "मजदूर सप्ताह में केवल ४८

काम का आदर्श और समय

घण्टे काम करते थे।" शनिवार की आधी छुट्टी, जिसे हम आधुनिक कृति समझते हैं, असल में मध्यकाल की प्रथा है। उस दिन समुदाय का एक बड़ा भाग स्नान किया करता था। मजदूर लोग बुधवार की दुपहर बाद नहाया करते थे। यद्यपि इस बात का पता नहीं चलता है कि उस समय स्कूल में बच्चे नाश्ता करते थे,शायद बच्चे भूखे पेट स्कूल जाते ही न होंगे,किन्तु असमर्थ माता-पिताओं के बच्चों को सामूहिक स्नान के समय खाने-पीने के लिए कुछ पैसे बाँटने का रिवाज कई स्थानों में प्रच-लित था। मजदूर-सम्मेलनों का होना मध्यकालिक युग की एक नियमित विशेषता थी। जर्मनी के कुछ हिस्सों में भिन्न-भिन्न संघों से सम्बन्ध रखनेवाले किन्तु एक ही धन्धे के कारीगर प्रतिवर्ष एक स्थान पर एकत्र हुआ करते थे और अपने व्यवसाय-सम्बन्धी प्रश्नों की चर्चा किया करते थे। उम्मेदवारी तथा घूम-फिर कर काम सीखने में कितने वर्ष लगाये जायँ, मजदूरी क्या हो, आदि बातों का भी उन सम्मेलनों में निश्चय होता था। सन् १५०२ में हन्सियेटिक क़स्बों ने कारीगरों का यह अधिकार बाक़ायदा स्वीकार किया कि वे निश्चित समय पर एकत्र हो सकते हैं और कैसे भी प्रस्ताव पास कर सकते हैं। शर्त्त केवल यह थी कि माल की अच्छाई के बारे में नगरों ने जो क़ानून बना रखे थे, उनके विरुद्ध कोई निर्णय नहीं होना चाहिए। रसोइयों, लुहारों, सुनारों, चमारों, सिकलीगरों और पीपासाजों के ऐसे मजदूर-सम्मेलन होने के वर्णन मिलते हैं। ये सम्मेलन स्वयं हंसा सम्मेलन की भांति आंशिक रूप में अन्तर्राष्ट्रीय होते थे।

निस्सन्देह उद्योग-धन्धों के संगठन के अनुसार यह आवश्यक था कि व्यवसाय-संघ कारीगरों पर पूरी देख-भाल रखते।

कारीगरों की देख-भाल

इस काम के लिए हमेशा विशेष कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। किन्तु सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि जबतक नगरों की स्वाधीनता क़ायम रही, इस देखभाल के बारे में कोई शिकायत नहीं सुनी गई। जब राज्य-सत्ता बीच मे कूदी और व्यवसाय-संघों की सम्पत्ति को जब्त करके उनकी स्वाधीनता का अपहरण किया तथा सब अधिकार उसने अपनी नौकरशाही को सौंप दिये, उसके बाद इस देखभाल के सम्बन्ध में बेशुमार शिकायतें होने लगीं। दूसरी ओर मध्यकालिक व्यवसाय-संघों की पद्धति के अनुसार सभी उद्योग-धन्धों में जो भारी उन्नति हुई, वह इस बात का सब से अच्छा प्रमाण है कि यह पद्धति व्यक्तिगत कर्तृत्व के मार्ग में किसी प्रकार बाधक न थी। सच तो यह है कि मध्यकालिक गिरजे, 'सड़क' और 'मुहल्ले' की भांति मध्यकालिक व्यवसाय-संघ नागरिकों की ऐसी संस्था न थी जो राज-कर्मचारियों के नियन्त्रण में काम करती हो, वह तो व्यवसाय-विशेष से सम्बन्धित सभी श्रेणियो के आदमियो की संस्था थी। इस में कच्चा माल खरीदने वाले और तैयार माल बेचने वाले विशेष कर्मचारी, कारीगर, मालिक, 'कम्पनियां' और उम्मीदवार सभी शामिल होते थे। जबतक एक व्यवसाय-संघ की कार्यकारिणी दूसरे व्यवसाय-संघो के मार्ग में रुकावट न डालती, तबतक उसे अपने व्यवसाय के भीतरी संगठन के विषय में पूरी स्वतन्त्रता रहती

थी। संघर्ष की स्थिति पैदा हो, जाने पर मामला संघों के संघ—नगर संघ—के सामने लाया जाता था।।किन्तु व्यवसाय-संघ के संगठन में इससे भी बढ़-कर कुछ और बातें थीं। उसे न्याय करने का अधिकार प्राप्त था, उसकी अपनी।सेना थी, बड़ी-बड़ी सभायें थीं, लड़ाइयों, प्राचीन गौरव और स्वाधीनता की परम्परायें थीं, दूसरे नगरों के एक एक ही व्यवसाय के अन्य संघों के साथ उसके अपने सम्बन्ध थे; संक्षेप में व्यवसाय-संघ का सब काम पूर्णतया व्यवस्थित रूप में होता था। यह उसके प्रधान कर्तव्यों के एकीकरण का ही परि-णाम हो सकता था। जब नगर के लोग लड़ाई के लिए जाते थे तो व्यवसाय-संघ स्व-निर्वाचित सेनानायक की अधीनता में अपनी अलग सैनिक टुकड़ी भेजता था। यह टुकड़ी संघ-द्वारा निर्मित हथियारों अथवा बन्दूकों से सुसज्जित होती थी। (कुछ काल पश्चात् तो संघ इन बन्दूको को सुन्दरता के साथ सजाने लग गया था।) एक शब्द में यों कह लीजिए कि व्यवसाय-संघ अपने बड़े संगठन का उतना ही स्वतन्त्र अंग था जितना कि स्विस राष्ट्र का उरी का प्रजातन्त्र या जिनेवा पचास वर्ष पूर्व स्वतन्त्र अंग था। जिस प्रकार फ्लोरेंस और बर्ग्स नगर में और नेपो-लियनी क़ानूनो के आश्रय में रहनेवाले किसी फ्रांसीसी जिले या द्वितीय केथेरीराइन के म्युनिसिपल क़ानून के अधीन रूसी क़स्बे में तुलना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार प्राचीन व्यवसाय-संघो और आधुनिक व्यवसाय-संघों की भी कोई तुलना नहीं की जा सकती जो राजकीय स्वाधीनता के सभी अधिकारों से वंचित हैं

कुछ और विशेषतायें

और केवल थोड़े से द्वितीय श्रेणी के अधिकारों का उपभोग करते हैं। फ्रांसीसी जिला कौंसिल और रूसी क़स्बे की म्युनिसिपैलिटी दोनों में ही निर्वाचित मेयर होते हैं। रूसी क़स्बे में तो अलग व्यवसाय-संघ भी हैं। किन्तु फ्लोरेंस नगर और फोनटेने-ले-ओइज अथवा जारेवोकोक्सैस्क क़स्बे में तथा वेनिस के एक न्यायाधीश और आधुनिक मेयर में जितना अन्तर है उतना ही मध्यकालिक और आधुनिक व्यवसाय-संघों में अन्तर है। आधुनिक मेयर का तो यह हाल है कि उसे पुलिस मजिस्ट्रेट के क्लर्क का भी टोप उतारकर आदर करना पड़ता है।

मध्यकालिक व्यवसाय-संघों में अपनी स्वाधीनता बनाये रखने की क्षमता थी और बाद में, विशेषतः चौदहवीं शताब्दि में, जब कई कारणों के फलस्वरूप, जिनका हम अभी-अभी उल्लेख करेंगे, प्राचीन म्युनिसिपल व्यवस्था में गहरा परिवर्तन हुआ तो नवजात उद्योग-धन्धे नगर के मामलों की व्यवस्था में अपना योग्य स्थान प्राप्त करने के लिए काफी समर्थ सिद्ध हुए। जनता नवीन उद्योग-धन्धों के अनुसार संगठित होकर अमीर-उमरावों की बढ़ती जानेवाली हुकूमत के हाथों से सत्ता छीन लेने के लिए उठी और अधिकांश स्थानों में उसे इस काम में सफलता मिली, उसने सुख-शान्ति के एक नवीन युग का प्रारम्भ किया। यह सही है कि कुछ नगरों मे जनता के इस उत्थान को मारकाट द्वारा कुचल दिया गया और उसके बाद मजदूरों का बड़ी तादाद में संहार हुआ। पेरिस में सन् १३०६ में और कोलोन में सन् १३७१ में ये काण्ड हुए

एक नवीन युग का उदय

हैं। जहाँ-जहाँ ऐसा हुआ वहाँ-वहाँ नगरो की स्वाधीनता का तेजी के साथ ह्रास हुआ और वे धीरे-धीरे केन्द्रीय सत्ता के अधीन हो गये। किन्तु अधिकांश नगर इस अशान्ति में से नवजीवन और नवशक्ति प्राप्त कर निकले, कारण कि उनके पास काफी शक्ति का संग्रह था। इसके पुरस्कार में उन्हे सुख-समृद्धि का एक नया काल मिला। उनमें नवजीवन की धारा बह गई। यह धारा कई रूपों में प्रकट हुई, मुख्य इमारतों का निर्माण हुआ, सुख-समृद्धि का नवीन युग क़ायम हुआ, कलाकौशल और अधिकारों में एकाएक प्रगति हुई और एक नवीन बौद्धिक हलचल शुरू हुई; जिसने पन्द्रहवीं शताब्दी के पुनरुत्थान और सुधार-आन्दोलन को जन्म दिया।

मध्यकालिक नगरों के जीवन में स्वाधीनता प्राप्त करने तथा उसको क़ायम रखने के लिए निरन्तर कठोर संघर्ष होते रहे।

कठोर सघर्ष

निस्सन्देह, इन भीषण संघर्षों के जमाने में नागरिकों की एक शक्तिशाली और धैर्यशील जाति का विकास हुआ, इन संघर्षों ने मातृ-नगर के प्रति प्रेम और पूजा की भावनाओ का पोषण किया। मध्यकालिक जिला-संघो को जो बड़ी-बड़ी सफलतायें मिलीं, प्रत्यक्ष रूप से उनका श्रेय जनता के इसी प्रेम को है। किन्तु ज़िला-संघों को स्वाधीनता की लड़ाइयो में कठिन बलिदान करने पड़े। इन बलिदानों ने उनके भीतरी जीवन को एक हद तक विशृङ्खल कर दिया था। ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते है जब कई अनुकूल परिस्थितियाँ एक साथ पैदा हो गई हो और नगरों ने एक ही प्रयास-द्वारा

स्वाधीनता प्राप्त की हो। जिन नगरो ने इस प्रकार स्वाधीनता प्राप्त की भी, उनमें से अधिकांश ने उतनो ही आसानी से उसको खो भी दिया। आमतौर पर नगरो को सौ-पचास वर्ष ही क्या बहुधा इससे भी अधिक अर्से तक लड़ना पड़ा, तब कहीं जाकर स्वतन्त्र जीवन यापन करने के उनके अधिकार स्वीकार किये गये। अपनी स्वाधीनता की मजबूत नींव डालने के लिए तो उन्हे आगामी सौ वर्ष तक और प्रयत्न करना पड़ा। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए अनेक खाइयो का पार करना आवश्यक था। किन्तु बारहवीं शताब्दी के घोषणा-पत्रो द्वारा तो केवल पहली खाई ही पार की गई थी। असल में उस समय सब जगह अमीर-उमरावों का प्रभुत्व था, केवल मध्यकालिक नगर थोड़ी-बहुत स्वाधीनता का उपभोग करते थे। इन्हे अपने हथियारों के बल अपना रास्ता साफ़ करना पड़ा। पिछले अध्यायो में हमने संक्षेप में जिन कारणो का उल्लेख किया है, उन कारणों के फल-स्वरूप प्रत्येक ग्राम्य-समुदाय धीरे-धीरे भूस्वामियों के आधिपत्य में चला गया। इन भू-स्वामियो ने अपने रहने के लिए महल खड़े कर लिये थे और उनके सशस्त्र सिपाही किसानो को लूटने को हमेशा तत्पर रहते थे। किसानो को सप्ताह में तीन दिन तो अपने भू-स्वामी के लिए काम करना ही पड़ता था। इसके अलावा भी उन्हें फ़सल बोने, काटने, शादी-ग़मी आदि के मौको पर हर क़िस्म की लागतें देनी पड़ती थीं। उनके लिए सब से दुर्भाग्य की बात यह थी कि पड़ोसी भू-स्वामो के हथियारबन्द लुटेरे उनको लगातार लूटते रहते थे। किसानों के स्वामी और

पड़ोसी भू-स्वामी में कोई झगड़ा होता तो ये हथियारबन्द लुटेरे अपने आपको पड़ोसी भू-स्वामी का सजातीय मानकर उस झगड़े का बदला किसानो से लेते थे। वे उनके मवेशियो को चुरा ले जाते और उनकी फसलें नष्ट कर देते थे। नगर के इर्द-गिर्द के हरएक चरागाह, हरएक खेत, हरएक नदी और सड़क तथा हरएक किसान किसी न किसी भूस्वामी की अधीनता में थे।

नागरिको के दिलो मे उमरावो के प्रति जो घृणा पैदा हो गई थी उसका विभिन्न घोषणा-पत्रों की भाषा में बड़ी खूबी के साथ प्रदर्शन हुआ है। नागरिको ने उमरावों को इन घोषणा-पत्रों पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया था।

घोषणा-पत्रों में—

हेनरी पंचम ने सन् ११११ में स्पीयर नगर को जो सनद दी थी, उसमें उसके हाथ से लिखवाया गया है कि "मैं नागरिकों को जमीन के उस भयङ्कर और घृणित क़ानून से मुक्त करता हूँ जिसके अनुसार जमीन सदा के लिए कुछ लोगो की मिल्कियत मानी जाती है और जिसने नगर को गहरी दरिद्रता मे फँसा दिया है।" सन् १२७३ के आसपास लिखे गये वेयोने नगर के घोषणा-पत्र में ये वाक्य मिलते हैं :—"लोगो की सत्ता उमरावों की सत्ता से ऊँची है। वह शांति की इच्छुक बहुसंख्यक जनता ही है जिसने शक्तिशाली उमरावों को क़ाबू में रखने और परास्त करने के लिए अन्य उमरावो को जन्म दिया।" रावर्ट बादशाह के हस्ताक्षरो के लिए जो इक़रारनामा पेश किया गया था, उसमें भी वही विशेषता मिलती है। उस इक़रारनामे में रावर्ट के मुँह से कहलवाया गया है कि "मै बैलों और अन्य

पशुओं की लूट नहीं करूँगा। मैं न तो व्यापारियों को क़ैद करूँगा और न उनसे डर दिखाकर रुपये लूँगा। मैं चरागाहों में से घोड़े-घोड़ी और उनके बछड़ों को पकड़ कर नहीं ले जाऊँगा। मैं पनचक्कियों को नहीं जलाऊँगा, न आटा ही लूटूँगा। मैं चोरों को रक्षण नहीं दूँगा।" आदि। बिसेन्कन के बड़े पादरी ह्ग्स को भी मजबूर होकर सनदनामे मे उन सब बुराइयो का उल्लेख करना पड़ा है जो जमीन पर उसके स्थायी अधिकारो के कारण पैदा हुई थीं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

दीर्घ अशान्ति का काल

इस प्रकार के वातावरण में स्वाधीनता क़ायम नहीं रखी जा सकती थी। नगरों को अपनी चहारदीवारियों के बाहर भी लड़ाई जारी रखना पड़ी। नागरिकों ने ग्रामों में विद्रोह का नेतृत्व करने के लिए अपने प्रतिनिधि भेजे, उन्होंने गांवों को अपने संघों में शामिल किया और उन्होंने उमरावों से सीधी टक्कर ली। इटली में जहां कि उमरावों की तादाद बहुत बढ़ गई थी, लड़ाई ने भयानक रूप धारण किया। दोनों ही पक्ष एक दूसरे के जानी दुश्मन बन कर लड़े। फ्लोरेन्स नगर ने उमरावों के पंजे से अपने प्रदेश को छुड़ाने के लिए ७७ वर्ष तक निरन्तर खूनी लड़ाइयां लड़ीं, किन्तु जब सन् ११८१ में उसे विजय मिली तो उसको अपना समस्त जीवन फिर से निर्माण करना पड़ा। उमरावों ने फिर भी अपनी शक्ति संग्रह की। उन्होंने नगर-संघों के मुक़ाबले में अपने संघ बनाये और सम्राट अथवा पोप की ताजा मदद के बल पर आगामी १३० वर्ष तक लड़ाई जारी रखी। रोम,

लम्बार्डी और इटली में सब जगह यही हुआ।

नागरिकों ने इन लड़ाइयों में शूर-वीरता, निर्भयता और धैर्य के अद्भुत चमत्कार दिखलाये। किन्तु जिरहबख्तर से सुसज्जित उमरावों के मुकाबले में हमेशा व्यवसाय-संघों के तीर-तलवारों की ही विजय नहीं होती थी।

किसानों के हितों की उपेक्षा

उमरावों की अनेक गढ़ियाँ नागरिकों की घेरा डालने की कुशल पद्धति और उनके धैर्य के आगे डटी रहीं। फ़्लोरेंस, बोलोना जैसे कुछ नगर तथा फ्रांस, जर्मनी और बोहेमिया के बहुत से नगर अपने आस-पास के गांवों को स्वतंत्र करने में सफल हुए और उसके फलस्वरूप उन नगरों को अद्भुत समृद्धि और शान्ति प्राप्त हुई। किन्तु यहां भी लड़ाई से थके-मांदे व्यापारियों और कारीगरों ने किसानों के हितों की उपेक्षा की। उन्होंने अपने स्वार्थों को नहीं पहचाना। जो नगर कम शक्तिशाली या कम भावनाशील थे, उनके हाथों तो किसानों के हितों की और भी उपेक्षा हुई। उन्होंने उमरावों को नगर के प्रति वफादारी की शपथ खाने के लिए विवश किया, उनके नगर की सीमा से बाहर बने हुए गढ़ नष्ट कर दिये गये। उमरावों ने नगर में ही मकान बनाकर रहना मंजूर किया, वे नागरिक बन गये, किन्तु इस सबके बदले में उन्होंने किसानों के ऊपर अपने अधिकारों को क़ायम रखा। ग़रीब किसानों का बोझा केवल आंशिक रूप में ही कम हुआ। नागरिक यह नहीं समझ सके कि किसानों को भी बराबरी के नागरिकता के अधिकार दिये जाने चाहिएँ, क्योंकि उन्हीं की खाद्य-सामग्री पर तो नगरवालों

को निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार नगरों और ग वों के बीच एक गहरी खाई खुद गई। कुछ स्थानो में तो किसानो के मालिकों में परिवर्तन-मात्र हुआ। उमरावों के अधिकार नगर ने खरीदे और उन्हे अपने नागरिकों में बाँट दिये। इस तरह गुलामी क़ायम रक्खी गई, बहुत समय पीछे तेरहवीं शताब्दी के अन्त में जाकर औद्योगिक क्रान्ति ने उसका अन्त करने का प्रयास किया। उसने व्यक्तिगत गुलामी का तो अन्त किया, किन्तु साथ ही साथ उसने गुलामों से उनकी ज़मीनें भी छीन लीं। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि नगरों को शीघ्र ही इस नीति के घातक परिणामों का मजा चखना पड़ा, देहात नगरो के शत्रु बन गये।

एक और दुष्परिणाम

उमरावों के विरुद्ध होने वाली लड़ाई का एक और दुष्परिणाम हुआ। नगरों को दीर्घकाल तक निरन्तर आपसी लड़ाइयो में संलग्न रहना पड़ा। इस बात को लेकर यह सिद्धान्त पैदा हुआ कि नगरों की स्वाधीनता का ईर्षा-द्वेष और पारस्परिक लड़ाइयों के कारण ही नाश हुआ। यह सिद्धान्त कुछ अर्से पहले तक प्रचलित था। साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने विशेष रूप से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, किन्तु आधुनिक अन्वेषण ने उसका बहुत-कुछ खण्डन कर डाला है। यह सच है कि इटली के नगर आपस में एक-दूसरे के साथ खूब द्वेषान्ध होकर लड़े, किन्तु अन्यत्र कहीं भी इस प्रकार के संघर्षों को उतनी गुरुता नहीं मिली। स्वयं इटली में भी इन पारस्परिक लड़ाइयों के, खास कर प्रारम्भिककाल की लड़ाइयों के, विशेष

कारण थे। जैसा कि सीसमण्डी और फेरेरी ने बताया है— उमरावों के विरुद्ध जो लड़ाइयां हुई, उनके सिलसिले में ही ये लड़ाइयाँ होती रही थीं। स्वतन्त्र म्युनिसिपल और संघीय सिद्धान्त को अनिवार्यतः उमरावों, राजाओं और पोप की सत्ता के साथ संघर्ष करना पड़ा। बहुत से नगरो को उमरावो, पादरियों और राजाओं के चंगुल से केवल आंशिक रूप मे ही छुटकारा मिला था। उमरावों, राजाओ और पादरियो ने इन नगरों को पूर्णतः स्वाधीन नगरो के विरुद्ध खड़ा कर दिया। इन लोगों की यह नीति थी कि नगरो को आपस मे एक-दूसरे से लड़ा कर अलग-अलग कर दें। कुछ अंशों में जर्मनी मे भी ऐसी विशेष परिस्थितियां पैदा हो गई थीं। इन विशेष परिस्थितियो से यह बात हमारी समझ में आ जाती है कि इटली के नगर शीघ्र ही गिबेलिन और ग्युल्फ दो दलो में क्यों विभक्त हो गये और हर एक नगर में अलग-अलग वही दोनों दल क्यो प्रकट हुए। इन नगरों में से कुछ ने पोप की सत्ता का मुक़ाबला करने के लिए सम्राट की और कुछ ने सम्राट की सत्ता का प्रतीकार करने के लिए पोप की सहायता माँगी थी।

जिस समय ये लड़ाइयाँ खूब जोरों से हो रही थीं, उस समय अधिकांश इटली के नगरों ने बहुत अधिक परिमाण में आर्थिक प्रगति की। इसके अलावा भिन्न-भिन्न नगरो में समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए मेल भी बड़ी आसानी से हो जाता था। ये दोनों बातें तात्कालिक लड़ाइयो पर दूसरी ही रोशनी डालती हैं और उपर्युक्त सिद्धान्त का और भी खण्डन कर देती हैं। सन् ११३०

से ११५० तक के अर्से में शक्तिशाली नगर-संघों का जन्म हुआ। कुछ अर्से बाद फ्रेडरिक बारबेरोसा ने इटली पर चढ़ाई की और उमरावों तथा कुछ प्रतिगामी नगरों की सहायता प्राप्त करके मिलन नगर की ओर कूच किया, उस समय अनेक नगरों में सार्वजनिक उपदेशकों ने जनता के उत्साह को जागृत किया। क्रेमा, पियेसेन्जा, ब्रेस्सिया, टोरटोना आदि मिलन नगर की सहायता करने गये; वेरोना, पादुआ, विसेन्ज़ा और ट्रेविसा के

संघर्ष में भी सहयोग

भ्रातृसंघों के झण्डे सम्राट और उमरावों के झण्डों के मुकाबले में नगरों के पड़ाव में पास-पास फहराये

दूसरे वर्ष लम्बार्डियन संघ का जन्म हुआ और ६० वर्ष बाद बहुत से दूसरे नगरों ने उसमे शामिल होकर उसकी शक्ति में पुनः वृद्धि की और उसको स्थायी संगठन बना दिया। इस संघ की आधी सेना जिनेवा में और आधी वेनिस में रहती थी। टसकेनी में एक दूसरा शक्तिशाली संघ बना, जिसका फ्लोरेंस नगर मुखिया था और जिसमें लुक्का, बोलोन, पिस्तोइआ आदि नगर शामिल थे। इस संघ ने मध्य इटली के उमरावों को कुचलने में महत्वपूर्ण भाग लिया था। छोटे-छोटे नगर संघ तो आये दिन बनते रहते थे। इस प्रकार यद्यपि नगरों में तुच्छ ईर्षा-द्वेष के भाव मौजूद थे और उनमें फूट के बीज बड़ी आसानी से बोये जा सकते थे, फिर भी यह निश्चित है कि नगर अपनी-अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने के लिए एक संगठन में शामिल होने से नहीं हिचकते थे। आगे चल कर जब अलग-अलग नगरों ने छोटी-छोटी सरकारों का रूप धारण कर लिया, तभी उनमें आपस

में लड़ाइयां हुईं। जिस समय सरकारें सर्वोच्च सत्ता अथवा उपनिवेशों के लिए प्रयत्न करती हैं, उस समय सदा ऐसी लड़ाइयां होती ही हैं।

इटली में जिस उद्देश्य को लेकर भिन्न-भिन्न नगरों के ये संयुक्त संघ बने, जर्मनी में भी उसी उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए वैसे ही संघों का जन्म हुआ। जब कोनरेड के उत्तराधिकारियों की अधीनता में जमीन के लिए उमरावों मे असंख्य झगड़े हो रहे थे, उस समय वेस्ट फेलियन नगरों ने उमरावों के मुक़ाबले में एक संयुक्त संघ बनाया। इसकी एक शर्त यह थी कि जब तक उमराव चुराये हुए माल को छिपाता रहे तब तक उसको एक भी पैसा न दिया जाय। जब "योद्धा और उमराव लूट-मार कर गुजर करते थे और चाहे जिस को तलवार के घाट उतार देते थे" उस समय राइन प्रदेश के मैन्ज, कोलोन, स्पेयर, स्ट्रेसबर्ग और बसेल नगरों ने आगे होकर एक संघ बनाया। इसमे सम्मिलित नगरों की संख्या शीघ्र ही ६० तक पहुंच गई। इस संघ ने लुटेरों को दबाया और शान्ति क़ायम रखी। बाद में, सुआबिया संघ ने भी यही काम किया। यह तीन 'अमन जिलो' (आग्सबर्ग, कोन्स्टेन्स और अलम) में विभक्त था। जब ये संघ टूट गये तब भी वे यह बताने के लिए बहुत अर्से तक जीवित रहे कि जहां एक ओर शान्ति के रक्षक माने जाने वाले राजा, सम्राट और पादरी विग्रह को उत्तेजन देते थे और लूट-मार करने वाले योद्धाओं के आगे बेबस थे, वहां दूसरी ओर नगरो की ओर से शान्ति और एकता की पुनर्स्थापना की लहर उठी। इस प्रकार

सम्राटों ने नहीं, वास्तव में नगरो ने राष्ट्रीय एकता का निर्माण किया।

अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने के लिए छोटे-छोटे गांवों ने भी इस प्रकार के संघो का संगठन किया था। अब जब कि लुकेमायर ने इस विषय की ओर ध्यान आकर्षित किया है, हम इन संघों के बारे में शीघ्र ही बहुत-कुछ जानने की आशा रख सकते हैं। फ्लोरेंस नगर के आस-पास के गॉव छोटे-छोटे संघों में संगठित थे, नोवगोरोड और स्कोव नगरो के अधीनस्थ प्रदेशों में भी गांवों का वैसा ही संगठन विद्यमान था। फ्रांस के विषय में तो १७ गांवों का एक संघ होने के निश्चित प्रमाण मिलते हैं। यह संघ करीब सौ वर्ष तक (१५२६ तक) क़ायम रहा। उसने अपनी स्वाधीनता के लिए घोर संघर्ष किया। तीन कृषक प्रजातंत्र लेश्रोन नगर के समीप और कायम थे। इन प्रजातन्त्रों ने लेओन और सोइसंस नगरों जैसे अहदनामों पर हस्ताक्षर किये थे। उनकी सीमायें बिल्कुल पास-पास होने के कारण स्वाधीनता के युद्धों में उन्होंने एक-दूसरे की खूब सहायता की। लुकेमायर का मत है कि फ्रांस में बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में इस प्रकार के अनेक संघों का अस्तित्व रहा होगा किन्तु उनके बारे के दस्तावेज बहुतांश में नष्ट हो गये हैं। गॉव चहारदीवारियों से सुरक्षित न थे, इसलिए इसमें कोई संदेह नहीं कि राजा और उमराव उनको आसानी से कुचल दे सकते थे, किन्तु स्वीजरलैण्ड में उन्हें कुछ अनुकूल परिस्थिति मिली, नगर-संघ ने उनकी सहायता की, वे पहाड़ों में भी शरण पा सकते थे। फलतः

गांवों के भी संघ थे

ऐसे कृषक-प्रजातन्त्र स्विस प्रजातन्त्र के स्वतन्त्र अंग बन गये।

शान्तिपूर्ण कामों के लिए तो विभिन्न नगरों के संघ आये दिन ही बनते रहते थे। स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के समय में आवागमन के जो सम्बन्ध स्थापित हो गये थे, वे बाद में भी ज्यों के त्यों क़ायम रहे। जर्मनी के नगरों में कभी-कभी ऐसा होता था कि जब न्यायाधीश किसी नये या जटिल मामले का फ़ैसला करने में अपने-आपको असमर्थ पाते, तो वे उस मामले का फैसला कराने के लिए दूसरे नगर को अपने प्रतिनिधि भेजते थे। फ्रांस में भी यही हुआ। फोरली और रवेना नगरों में एक नगर के नागरिक दूसरे नगर के नागरिक माने जाते थे; दोनों नगरों मे उनको पूर्ण नागरिक के अधिकार प्राप्त थे। दो नगरों में आपस में अथवा एक नगर के भीतर जब कोई विवादग्रस्त मामला पैदा हो जाता तो उसको सुलझाने के लिए तीसरे नगर से न्यायाधीश बुलाने का भी उस समय रिवाज था। भिन्न-भिन्न नगरों में व्यापारिक संधियाँ तो आम तौर पर होती ही रहती थीं। शराब के व्यवसाय में काम में आने वाले पीपों को बनाने और उनके आकार का नियमन करने के लिए स्थापित संघों तथा मछलियों का व्यवसाय करने वाले संघों ने ही फ्लेमिश हंसा जैसे महान व्यापारिक संघों की बुनियाद डाली थी। फ्लेमिश हंसा के बाद उत्तरी जर्मन हंसा नामक बड़ा व्यापारिक संघ क़ायम हुआ। इस संघ के इतिहास में से यह बताने के लिए पृष्ठ के पृष्ठ रंगे जा सकते हैं कि उस जमाने के लोगों में एकता की भावना कितनी गहरी बैठी हुई थी। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं

संघ की व्यापकता

कि मध्यकालिक नगरों के हंसेटियक संघों ने अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन, समुद्र-यात्रा और तत्सम्बन्धी खोज के विकास लिए बहुत अधिक काम किया है। आधुनिक युग की प्रथम सत्रह शताब्दियों में जितनी भी सरकारें बनीं, उन सब ने मिल कर इस सम्बन्ध में जो काम किया, उसकी अपेक्षा मध्यकालिक हंसेटियक संघों का कार्य कहीं अधिक महत्वपूर्ण रहा है।

संक्षेप में यों कह लीजिए कि मध्यकालिक युग में मनुष्य का जीवन और उसके विचार एकता की भावना से ओत-प्रोत थे।

एकता की व्यापक भावना

छोटे-छोटे प्रदेशीय संघ, अपने-अपने संघो के भीतर एक ही धंधा करने वाले लोगो के संघ, नगर संघ और कई नगरों के संयुक्त संघ—इस प्रकार संघो की भरमार थी। ग्यारहवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक संगठन के सिद्धान्तों के अनुसार एक बड़े परिमाण में पारिस्परिक सहयोग और सहायता से काम लेने का भारी प्रयत्न किया गया; संगठन के सिद्धान्त मानव-जीवन के हर पहलू पर अधिक से अधिक मात्रा में लागू किये गय। इस प्रयत्न को बहुत अंशों में सफलता मिली। जो आदमी पहले अलग-अलग रहते थे, उनको इसने एकता के सूत्र से गूंथ दिया, उनको बहुत कुछ स्वाधीनता प्रदान की और उनकी शक्तियो को दस गुनी कर दिया। यह सन्तोष की बात है कि जिस समय अनेक शक्तियाँ व्यक्तिवाद का पोषण कर रही थीं और फूट तथा ईर्षा-द्वेष के अनेक कारण हो सकते थे, उस समय भी दूर-दूर फैले हुए युरोपीय नगरों की व्यवस्था में इतनी अधिक समानता थी और वे समान

उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक संगठन में शामिल होने को सदा तत्पर रहते थे। अन्त में वे शक्तिशाली शत्रुओं के आगे परास्त हुए, किन्तु इसका कारण उनका आपसी ईर्ष्या-द्वेष न था। पारस्परिक सहयोग को काफी व्यापक रूप में न समझ सकने के कारण उनके हाथों जो घातक भूलें हुईं उन्होने ही उनकी स्वाधीनता को नष्ट किया। हम यह किसी भी दशा में नहीं कह सकते कि उनमें एकता की भावना की कमी थी।

महत्वपूर्ण परिणाम

मानव-जाति ने मध्यकालिक नगरों में जो नवीन उद्योग किया, उससे अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणाम निकले। ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में युरोप के क़स्बे टूटी-फूटी झोपड़ियों के गिरोह मात्र थे, उनके गिरजे नीचे और बेडौल थे। इन गिरजों के बनाने वाले कारीगर महराब बनाना तक न जानते थे। क़स्बों में ज्यादातर बुनाई और घड़ाई का काम होता था, और वह भी प्रारम्भिक दशा में था। पढ़ाई केवल थोड़े से धार्मिक स्थानो में होती थी। ३५० वर्ष बाद युरोप का सारा स्वरूप ही बदल गया। जगह-जगह मोटी-मोटी दीवारों से घिरे हुए समृद्ध नगर खड़े हो गये। ये दीवारें बुर्जों और फाटको से, जिन्हे सुन्दर कला का नमूना कह सकते हैं, आरास्ता की गईं; गिरजाघर शानदार ढंग पर बनाये गये, उनकी खूब सजावट हुई। इन गिरजाघरो के घंटाघर आसमान से बातें करते थे। उनकी बनावट निर्दोष थी। वह बनाने वालों की साहसपूर्ण सूझ का परिचय देती हैं। उन्नति की उस मंजिल तक पहुँचने के हमारे सभी प्रयत्न आज निष्फल हो रहे हैं। कला-

कौशल की अनेक दिशाओं में चाहे हमने उस जमाने के लोगों को पीछे डाल दिया हो, किन्तु यदि हम कम समय में अधिक चीजें तैयार करने के मुकाबले में मजदूर की आविष्कारक बुद्धि और काम के बढ़ियापन को महत्व देंगे तो इस विज्ञान में कुल मिलाकर उस जमाने के लोगों ने जितनी उन्नति की, उतनी उन्नति का हम अपने लिए दावा नहीं कर सकते। स्वाधीन नगरों के नाविक बेड़े उत्तरी और दक्षिणी भू-मध्य सागर की सब दिशाओं में पहुंच गये थे और यदि उन्होंने एक प्रयत्न और किया होता तो वे महासागर को पार कर गये होते। युरोपीय महाद्वीप के अधिकांश भू-प्रदेश में गरीबी का स्थान सम्पन्नता ने ले लिया, विद्या का विकास और प्रचार हुआ। विज्ञान के साधनों को व्यापक बनाया गया, प्राकृत तत्त्वज्ञान की बुनियाद। डाली गई और उन सब यान्त्रिक आविष्कारों के लिए रास्ता साफ किया गया; जिनके लिए आधुनिक युग अपने को इतना गौरवान्वित समझता है। चार सौ वर्ष से कम अर्से में युरोप में ये सब अद्भुत परिवर्तन हो गये। नगरों की स्वाधीनता के विनाश से युरोप को जो हानि सहनी पड़ी, उसका हम तभी ठीक-ठीक अनुमान लगा सकते हैं जब हम सत्रहवीं शताब्दी के युरोप के साथ चौदहवीं या तेरहवीं शताब्दी के युरोप की तुलना करें। सत्रहवीं शताब्दी में उस सम्पन्नता का कहीं पता न था जिसका स्कॉटलैंड, जर्मनी और इटली के मैदानों में पहले राज्य था। सड़कों की बड़ी बुरी दशा हो गई, नगरों की आबादी घट गई, श्रम गुलामी के तौर पर होने लगा, कला लुप्त हो गई; स्वयं

व्यापार का ह्रास हो रहा था।

यद्यपि मध्यकालिक नगर हमारे लिए अपनी भव्यता के द्योतक लिखित प्रमाण-पत्र नहीं छोड़ गये हैं, भवन-निर्माण कला के स्मृति-चिन्हों के अतिरिक्त उनकी और कोई निशानी हमें आज नही मिलती है, फिर भी हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि ईसाई युग मे अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक मध्यकालिक स्वाधीन नगरों के समय में मानव-बुद्धि का सब से अधिक विकास हुआ। उस समय की भव्यता की द्योतक इमारतें तो हमें स्काटलैंड से इटली और स्पेन के गेरोना स्थान से स्लोवोनियन प्रदेश के प्रोस्लाउ स्थान तक युरोप में सर्वत्र मिलती हैं। उदाहरण के लिए न्युरेम्बर्ग का मध्यकालिक चित्र देखिए। आपको बीसियों बुर्जें और ऊँची-ऊँची मीनारें मिलेंगी जिनमें से हरएक पर स्वतन्त्र रचनात्मक कला की छाप अंकित होगी। इस चित्र को देख चुकने के बाद हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि ३०० वर्ष पूर्व यह नगर कुछ टूटी-फूटी झोपड़ियों का संग्रह-मात्र रहा होगा। जब हम उन असंख्य गिरजों, घण्टाघरों, फाटको, सार्वजनिक मकानों की बनावट और सजावट का विस्तार के साथ अध्ययन करते हैं जो समस्त युरोप में पूर्व की ओर बोहेमिया और पोलिश गेलिसिया के इस समय के मृत नगरों तक फैले हुए हैं तो उनके प्रति हमारी प्रशंसा में और वृद्धि हो जाती है। कलाओं की जननी इटली ही नहीं, बल्कि समस्त युरोप ऐसी इमारतों से भरा पड़ा है। सब कलाओं में से भवन-निर्माण कला (जो सब से

मानव बुद्धि का विकास

अधिक सामाजिक कला है) का ही सब से अधिक विकास हुआ, यह निश्चय ही विशेष अर्थ का द्योतक है। उसकी जितनी उन्नति हुई, उसको देखते हुए यह मानना पड़ता है कि विशिष्ट सामाजिक जीवन में से ही उसकी उत्पत्ति हुई होगी।

मध्यकालिक युग में भवन-निर्माण-कला की उन्नति हस्तकौशल के स्वाभाविक विकास के कारण ही नहीं हुई। उसका केवल यह कारण भी न था कि प्रत्येक इमारत के बनाने और उसकी सजावट करने की योजना ऐसे लोग बनाते थे जो व्यावहारिक अनुभव से यह जानते थे कि पत्थर, लोहे, जस्ते अथवा साधारण लट्ठों और चूने से भी क्या-क्या कला-पूर्ण काम किये जा सकते हैं। यह भी बात नहीं थी कि हरएक धन्धे मे संग्रहीत सामुदायिक अनुभव के आधार पर ही उस समय की प्रत्येक इमारत बनी हो। मध्यकालिक भवन-निर्माण-कला इसलिए भव्य थी कि एक विशाल विचार ने उसको जन्म दिया था। यूनानी कला की भांति, वह भ्रातृत्व और एकता के उस सिद्धान्त में से पैदा हुई थी जिसका मध्यकालिक नगरों ने पोषण किया था। वह उस साहस का परिचय देती है जो साहसी संघर्षों और सफलताओं द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वह नगर के समस्त अङ्गों में वहने वाली शक्ति का प्रदर्शन करती है। तात्कालिक गिरजाघर या सार्वजनिक इमारतें उस विशाल संगठन के द्योतक हैं, जिसमें नगर के इमारत बनाने वाले सभी कारीगर शामिल थे। मध्यकालिक इमारतें इस तरह से बनी हुई प्रतीत नहीं होती कि एक आदमी ने उनकी कल्पना

सफलता का कारण

की हो और उसके अनुसार हजारों मजदूरों ने अपने-अपने हिस्से का काम करके उनको पूरा कर दिया हो, नगर के सभी लोग उनके बनाने में मदद देते थे। इमारतों का नीचे का ढांचा तो भव्य होता ही था, उस पर ऊँचे-ऊँचे घण्टाघर और खड़े कर दिये जाते थे। इन इमारतों में नगर का जीवन उछलता रहता था। पेरिस में जिस प्रकार फांसी के तख्ते पर लोहे का घण्टाघर बनाया गया है या जिस प्रकार किसी लोहे के ढांचे की बदसूरती को छिपाने के लिए उस पर पत्थर की इमारत खड़ी कर दी जाती है (ट्रावर ब्रिज पर ऐसा ही किया गया है) उस तरह मध्यकालिक घण्टाघर नही बनाये जाते थे। एथेंस की सब से ऊँची इमारत की भांति मध्यकालिक गिरजाघर विजयी नगर की विशालता के गुण गान करने, उद्योग-धन्धों की एकता का परिचय देने और हरएक नागरिक के गौरव का प्रदर्शन करने के उद्देश्य से बनाये जाते थे। अपने उद्योग-धन्धों में जब कभी कोई नगर क्रान्ति करता अर्थात् कोई नया आविष्कार करता तो वह बहुधा एक नया गिरजाघर बनाना शुरू करता था। वह इस गिरजाघर के द्वारा उस नवीन, व्यापक और विस्तृत एकता का प्रदर्शन करता था, जिसे उसने क्रान्ति करके स्थापित की थी।

सहयोग का आधार

इन विशाल इमारतों के बनाने के लिए अपेक्षाकृत साधन बहुत कम थे। कोलोन का गिरजा घर ५०० मार्क्स (जर्मन सिक्का) की वार्षिक आय से बनाना शुरू किया गया था। उसके बनाने के लिए किसी ने १०० मार्क्स दिये थे, जिसे बड़ा भारी दान माना गया। जब काम

समाप्त होने लगा और लोग पहले से अधिक दान देने लगे, उस समय नक़द आय क़रीब ५ हज़ार मार्क वार्षिक थी,वह १४ हज़ार से तो कभी अधिक हुई ही नहीं। बसेल का गिरजा घर भी इसी तरह की छोटी रक़म से बना था। किन्तु अपनी सामान्य इमारतों के बनाने में हरएक व्यवसाय-संघ अपनी सामग्री से, श्रम से और बुद्धि से सहयोग देता था। वह उस में अपने राजनैतिक विचारों को प्रदर्शित करता था, वह पत्थर अथवा पीतल की इस ढंग से नक्क़ाशी करता था कि जिससे नगर का इतिहास जाना जा सके, स्वाधीनता, समानता और एकता के सिद्धान्तों की विशालता प्रतिपादित हो, मित्र नगरों की प्रशंसा हो, शत्रुओं का विनाश दिखाई दे। प्रत्येक व्यवसाय-संघ अपनी सार्वजनिक इमारत को, रंग-बिरंगी खिड़कियों, चित्रकारी आदि से खूब सजा कर उस पर अपने प्रेम की वर्षा करता था। माइकेल एंजेलो ने कहा है कि 'इन इमारतों के दर्वाजे ऐसे होते थे मानों स्वर्ग के ही दर्वाजे हों।' उनके छोटे से छोटे कोनों में पत्थर की नक्क़ाशी की जाती थी। इस काम में छोटे नगर और छोटे गिरजाघर तक बड़े-बड़े नगरों से प्रतिस्पर्द्धा करते थे। लेओन और सेंट ओयेन के गिरजाघर, रेइम्स के गिरजे अथवा ब्रेमन के सार्वजनिक भवन या ओस्लाड के पंचायती घण्टाघर से किसी क़दर कम नहीं हैं। फ़्लोरेंस नगर की कौंसिल के ये शब्द हैं कि "संघ को उसी काम में योग लेना चाहिए जिसकी योजना संघ की विराट् सभा के आदेशानुसार बनाई गई हो।" फ़्लोरेंस नगर के इर्द-गिर्द बनी हुई नहरों, सड़कों, अंगूर के खेतों, फलों के बग़ीचों को देखिए,

अथवा उन नहरों को देखिए जो लम्बार्डी के मैदानों में इधर-उधर निकलती हैं या जिनेवा के बन्दरगाह जो पानी एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने के लिए बनाये गये। बम्बों को देखिए, आप को उनमें वही भावना काम करती हुई मिलेगी। क़रीब-क़रीब हरएक नगर में सार्वजनिक उपयोग के लिए जो जो भी सामुदायिक काम हुए हैं, वे सब सर्व-साधारण की स्वीकृति और सहयोग से बने हैं।

मध्यकालिक नगरों में अन्य कलाओं की उन्नति भी इसी प्रकार हुई थी। आजकल जो कला-कौशल दिखाई देता है, उसका जन्म अधिकतर उस ज़माने में ही हुआ था। फ्लेमिश नगरों की सम्पन्नता ऊन के उस बढ़िया कपड़े पर निर्भर थी, जिसे वे बनाते थे। फ़्लोरेंस नगर ने चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे महामारी के पूर्व ऊनी कपड़े के ७० हज़ार से १ लाख थान बनाये जिनकी क़ीमत १२ लाख स्वर्ण फ़्लोरेंस (इटली का सिक्का) आंकी गई थी।* बहुमूल्य धातुओंकी खुदाई के काम को, ढलाई की कला

---

* सन् १३३६ में फ्लोरेंस नगर की प्रारम्भिक पाठशालाओं में ८ हजार से १० हजार तक लड़के और लड़कियाँ, सात मिडिल स्कूलों में हजार से बारह सौ तक लड़के और चार विश्वविद्यालयों में ५५० से ६०० तक विद्यार्थी पढते थे। तीस सार्वजनिक अस्पताल थे जिनमें ६० हजार की आबादी के लिए १ हजार से अधिक रोगियों के लिए स्थान था। अधिकारी लेखकों ने अनेक बार यह कहा है कि जितना खयाल किया जाता है, मध्यकालिक युग में आम तौर पर उस से शिक्षा का कहीं अधिक प्रचार था। प्रजातन्त्री न्युरेम्बर्ग के लिए तो निश्चित रूप से यह बात कही जा सकती है।

को, और लोहे की बढ़िया नक्काशी को मध्यकालिक उद्योगवाद ने ही जन्म दिया। हाथ से जो भी चीजें बनाई जा सकती हैं, वे सब बिना प्रारम्भिक शक्तिशाली यन्त्रों के सहारे उस समय बनती थीं, प्रोफेसर ह्वेवेल के शब्दों में—

"चमड़े (चर्म पत्र) की वस्ली और कागज, छपाई और खुदाई की विद्या, सुधरा हुआ कांच और इस्पात, बारूद, घड़ियाँ, दूरबीन, समुद्री दिशा-सूचक यंत्र, संशोधित कैलेण्डर (तिथि-पत्र), अंकगणित की दशमलव पद्धति, बीज गणित, क्षेत्रमिति, रसायन विद्या, गायन विद्या (यह आविष्कार नवीन गायन यंत्रों की बराबरी का है); ये सब हमें उस जमाने से मिले हैं जिसे बड़ी तुच्छता के साथ अप्रगतिशील काल की उपाधि दी गई है।"

जैसा कि ह्वेवेल का कहना है, यह सही है कि इन खोजों ने किसी नये सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया,किन्तु मध्यकालिक विज्ञान ने नये सिद्धान्तो का आविष्कार करने की अपेक्षा कुछ अधिक ही काम किया है। इस समय यांत्रिक विज्ञान के जितने भी सिद्धान्त हमें मालूम हैं, उसने उन सब नवीन सिद्धान्तों की खोज का मार्ग सुलभ किया, अन्वेषकों को विभिन्न तत्त्वों का अन्वेषण करने और उससे तर्क-द्वारा परिणाम निकालने का अभ्यासी बनाया। यद्यपि उसने विशिष्ठ उदाहरणों से सामान्य नियम प्रतिपादन करने की शक्तियो का पूरी तौर पर महत्व नहीं समझा था, फिर भी उसे उपनय विज्ञान (Inductive Science) कहा जा सकता है। उसने यान्त्रिक विद्या और प्राकृत तत्त्वज्ञान

दोनों की नींव डाली। ×फ्रांसिस बेकन, गेलिलियो और कोपरनिकस रोजर बेकन और माइकल स्काट के प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी थे।

किन्तु मध्यकालिक नगरो में विज्ञान और कला की जो उन्नति हुई उस पर जोर देने की आवश्यकता ही क्या है? क्या यह काफी नहीं है कि बौद्धिक प्रगति का परिचय देने के लिए गिरजाघरों की ओर और विचारों के उत्कर्ष के लिए इटली की भाषा और तत्त्ववेत्ता दांते की कविता की ओर निर्देश कर दिया जाय? अपने जीवन की चार शताब्दियो में मध्यकालिक नगरों ने जो-जो कार्य किये, उनका इससे तुरन्त पता चल जावेगा।

निस्सन्देह मध्यकालिक नगरो ने युरोपीय सभ्यता की बड़ी भारी सेवा की है। उन्होंने उसे प्राचीन धार्मिक और एकतंत्री राज्य-सत्ताओ की गोद में जाने से रोका और विविधता, आत्म-विश्वास, कर्तृत्वशक्ति और अनन्त बौद्धिक और भौतिक शक्तियाँ प्रदान कीं। ये बातें उसमें अब भी मौजूद हैं और पूर्व की ओर से होनेवाले किसी भी आक्रमण का मुक़ाबला करने में भली प्रकार समर्थ होंगी। किन्तु सभ्यता के ये केन्द्र मध्यकालिक नगर, जिन्होंने मानव-स्वभाव की जड़ में पैठी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करने की चेष्टा की थी और जो जीवनशक्ति से इतने परिपूर्ण थे, आगे भी जीवित क्यों नहीं रहे? सोलहवीं शताब्दी मे जाकर वृद्धावस्था की दुर्बलता उन पर कैसे सवार हो गई?

× वाष्प एंजिन इटली के मध्यकालिक विश्वविद्यालयों में वायुमण्डल के वज़न के बारे में होने वाले अन्वेषणों और न्युरेम्बर्ग में प्रचलित अंकगणित और कला-कौशल सम्बन्धी शिक्षा का प्रत्यक्ष फल है।

बाहर के अनेक आक्रमणों को उन्होंने विफल किया और भीतरी संघर्षों से केवल नवशक्ति प्राप्त की, किन्तु अन्त में उन दोनो के आगे वे कैसे परास्त हो गये ?

इसके कई कारण है। कुछ कारण तो बहुत प्राचीनकाल से सम्बन्ध रखते है और कुछ नगरो ने जो भूलें की थीं, उनके फलस्वरूप पैदा हुए। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त मे शक्तिशाली राज्य-संस्थाओ की स्थापना होने लगी थी। इनका ढाँचा प्राचीन रोमन-साम्राज्य जैसा था। हरएक देश में और हरएक क्षेत्र मे कोई न कोई भू-स्वामी अपने पड़ोसी भू-स्वामी की अपेक्षा अधिक चालाक, अधिक संग्रही और बहुधा कम ईमानदार निकला। उसने अधिक धनी प्रदेशो पर क़ब्जा जमाया, अधिक संख्या में अपनी जमीन पर किसानो को बसाया और लड़ाकू लोगों को अपनी सेना में शामिल किया तथा अपनी तिजोरी को खूब भरा उसने अपने रहने का केन्द्र पेरिस, मेडरिड अथवा मास्को जैसे उत्तम स्थानों पर स्थित ऐसे गाँव के बीच में चुना जहाँ स्वतन्त्र म्युनिसिपल जीवन की शिक्षा नहीं पहुँच पाई थी और अपने गुलामों के परिश्रम द्वारा वहाँ चहारदीवारियों से संरक्षित शक्तिशाली नगर खड़े कर लिये। उसने गाँव जागीरी में बाँटकर युद्धप्रिय व्यक्तियों को और व्यवसाय को संरक्षण देकर व्यापारियो को इन नगरों में बस जाने के लिए आकर्षित किया। भावी सरकार के इस प्रकार बीज बोये गये जो धीरे-धीरे अन्य ऐसे ही केन्द्रों में भी फैलने लगे। रोमन क़ानून से परिचित वकील केन्द्रों में भर गये।

ह्रास के कारण

वकीलों की यह आग्रही और महत्वाकांक्षी जाति स्वाधीन नगरों में से ही पैदा हुई थी। वह भू-स्वामियों के नटखटपन और किसानो की 'उच्छृंखलता' दोनो के साथ समान रूप से घृणा करती थी। इस जाति के लोगों के क़ानून में ग्राम-पंचायत को कहीं स्थान न था। जमींदारी के मूल सिद्धान्त और ग्राम-पंचायत के मूल स्वरूप दोनो को वे 'बर्बर' काल की वस्तुयें समझते थे और उनको नापसन्द करते थे। जनता की काल्पनिक अनुमति और हथियारों की ताक़त के बल पर स्थापित साम्राज्यवाद (Caesarism) ही उनका आदर्श था। जिन लोगों ने उस आदर्श को कार्यरूप में परिणत करने का वचन दिया, उन लोगों के पक्ष में इन्होने घोर परिश्रम किया।

धर्म भी गिरा।

जिस ईसाई धर्म ने एक बार रोमन क़ानून के विरुद्ध विद्रोह किया था, वही अब उसके पक्ष में हो गया। उसने भी इसी दिशा में काम किया। युरोप में जब धर्म-प्रधान साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न असफल हो गया तो अधिक बुद्धिमान और महत्वाकांक्षी पादरियों ने उन लोगों को सहायता दी जिनके लिए वे समझते थे कि वे इस दल के राजाओं अथवा कुस्तुन्तुनिया के सम्राटो की सत्ता पुनः स्थापित कर सकेंगे। उन्होने उन्नतिशील शासको पर अपनी पवित्रता की मुहर लगाई, उन्हे पृथ्वी पर परमात्मा के प्रतिनिधि बताया, अपने मन्त्रियों की बुद्धि और राजनीतिज्ञता उनके चरणों में समर्पित की, अपनी शुभ कामनायें और दुष्कामनायें, अपनी धन-दौलत और सहानुभूति उनको प्रदान

की। वह सहानुभूति भी, जो उन्होंने ग़रीब लोगों में प्राप्त कर रक्खी थी, इन शासकों के समर्पित कर दी। जिन किसानों को नगर स्वाधीन नहीं कर सके या यों कह लीजिए कि स्वाधीन करने से इन्कार कर चुके थे उन किसानों ने जब देखा कि युद्ध-प्रिय उमरावों के असंख्य आपसी झगड़ो को स्वाधीन नगर-निवासी शान्त करने में अशक्त हैं तो उन्होंने बादशाह, सम्राट् अथवा महाराजा पर अपनी आशाओं को केन्द्रित किया, कारण कि उमरावों की लड़ाइयाँ उनके लिए बड़ी महँगी पड़ती थीं। इन किसानो ने शक्तिशाली उमरावों को कुचलने के लिए राजा-महाराजाओं को मदद दी,किन्तु इसके साथ-साथ उन्होंने उन्हें केन्द्रीभूत सरकारें कायम करने में भी सहायता दी। अन्त में मंगोलो और तुर्कों की चढ़ाइयो, तथा स्पेन में मूरों के विरुद्ध होनेवाली 'पवित्र' लड़ाई के साथ-साथ विभिन्न उन्नतिशील राजकीय केन्द्रों में जो भयंकर युद्ध हुए, उन सबने नगरों की स्वाधीन सत्ता के विनाश में योग दिया। आइल़ दे फ्रांस और बरगण्डी, स्काटलैण्ड और इंग्लैण्ड, इंग्लैण्ड और फ्रांस, लिथुआनिया और पोलैण्ड, मास्को और टवेर आदि प्रदेशों मे ये लड़ाइयाँ हुईं। इस प्रकार शक्तिशाली सरकारें बनीं। अब नगरों को केवल उमरावों के असंगठित समूहों का ही मुक़ाबला नहीं करना पड़ा,प्रत्युत उन्हें दृढ़ रूप में संगठित उन केन्द्रो का भी मुक़ाबला करना पड़ा जिनके अधिकार में गुलामों की बड़ी बड़ी सेनायें थीं।

सब से बुरी बात यह हुई कि स्वयं नगरो के भीतर ही कई दल ऐसे पैदा हो गये जिन्होंने बढ़ती हुई निरंकुश राज्य-सत्ताओं को सहायता दी । मध्यकालिक नगरों के संगठन का मूल सिद्धान्त विशाल था, किन्तु वह जितना चाहिए उतना विशाल न था । पारस्परिक सहयोग और सहायता के सिद्धान्त को एक छोटे समुदाय के भीतर ही सीमित नहीं रखा जा सकता, वह आस-पास के प्रदेशों पर भी लागू किया जाना चाहिए, अन्यथा आस-पास के प्रदेश उस समुदाय को हड़प कर जायँगे । इस सम्बन्ध मे प्रारम्भ से ही मध्यकालिक नागरिकों ने भारी ग़लती की । जो किसान और कारीगर नगरो के संरक्षण में आये, हलांकि उन्होंने नगरों के निर्माण में अपना-अपना योग दिया था किन्तु पुरातन नागरिको ने नवागन्तुको के इस महत्व को नही समझा, इसके विपरीत उन्होने अपने और उनके बीच में एक बड़ी भेद की दीवार खड़ी कर दी । सामुदायिक व्यापार और सार्वजनिक जमीन से जो लाभ होते थे, वे सब पुरातन नागरिको के लिए सुरक्षित कर दिये गये । नवागन्तुको के लिए सिवाय इसके कुछ भी शेष नही छोड़ा गया कि वे अपने हस्त-कौशल का स्वतन्त्रता के साथ उपयोग कर सकें । नगरो में रहनेवालो के इस प्रकार दल हो गये, एक दल नागरिकों का और दूसरा साधारण बाशिन्दो का । जो व्यापार पहले सामुदायिक रूप मे होता था । उस पर अब व्यापारी और कारीगर 'कुटुम्बो' (संघो) का विशेष अधिकार माना जाने लगा । इसके बाद दूसरी स्थिति का आना अनिवार्य था, वह यह कि

एक खास बुराई

व्यापारी व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग व्यापार करने लगें अथवा अत्याचारी संस्थाये उसको हथिया लें।

ख़ास नगरो और उनके आस-पास के गॉवो में भी इसी प्रकार की दलबन्दी हुई। नगर-संघो ने कसानो को मुक्त करने का काफी प्रयत्न किया था, किन्तु जैसा कि पिछले पृष्ठो में वताया जा चुका है, उमरात्रों के विरुद्ध उन्होने जो लड़ाइयाँ लड़ीं उनका उद्देश्य किसानो को मुक्त करने की अपेक्षा नगरो का स्वाधीन करना अधिक था। उन्होने इस शर्त पर ग़रीव किसानो पर उमरावों का प्रभुत्व वना रहने दिया कि वे भविष्य में नगर पर आक्रमण नहीं करेंगे और खुद नागरिक बन जावेंगे। किन्तु इस प्रकार नगरों ने जिन उमरावों को अपने संगठन में शामिल किया और जो नगरों की चहारदीवारियों के भीतर रहने लगे थे, उन्होने अपनी पुरानी लड़ाई बन्द नही की, उसे नगरों की सीमा के भीतर भी जारी रक्खा। वे अपने झगड़ो को साधारण कारीगरों और व्यापारियो के न्यायालयो मे जाना पसन्द नही करते थे, सड़कों पर लड़-झगड़कर उनका निर्णय कर लेते थे, हरएक नगर में कोलोना, ओरसिनी, ओवरस्टोल्ज और वाइज जैसे उमराव पैदा हो गये। जो भूमि उन्होने अपने अधिकार में रख छोड़ी थी, उससे उन्हे काफी आय होती थी। इस आमदनी के सहारे उन्होंने अपने अनेक समर्थक बना लिये और खुद नगर के रीति-रिवाजो को अपने सिद्धान्तो के अनुकूल बदल दिया। औद्योगिक जातियों में असन्तोष पैदा होने लगा तो उन्होने उसको

नगरों और गॉवो में दलबन्दी

वह मार्ग इख्तियार नहीं करने दिया, जिसका प्राचीन काल में वह आश्रय लिया करता था। इसके बजाय उन्होंने नागरिकों को अपने हथियार और अनुयायी इसलिए दिये कि वे खुली लड़ाई के द्वारा अपने मतभेदों का फ़ैसला कर लें।

अधिकांश नगरों ने सबसे बड़ी और अत्यन्त घातक भूल यह की कि उन्होंने कृषि की उपेक्षा करके व्यापार और उद्योग-धन्धों पर अपनी धन-सम्पत्ति की बुनियाद डाली। इस प्रकार उन्होंने वही भूल फिर की, जिसे एक बार पहले प्राचीन यूनानी नगर कर चुके थे। इस भूल ने उनको उन्हीं अपराधों के गर्त में डाल दिया। किसानों के प्रति नगरों की इस उपेक्षा का अनिवार्यतः यह नतीजा हुआ कि नगरो को किसानों के प्रति विरोधी नीति इख्तियार करनी पड़ी। यह नीति एडवर्ड तीसरे, फ्रांस के कृषक-विद्रोह, बोहेमिया के धार्मिक युद्धों और जर्मनी के कृषक-युद्ध के समय अधिकाधिक स्पष्ट होती गई। दूसरी ओर नगरों को अपनी व्यापारिक नीति के कारण दूर-दूर देशों में जाना पड़ा। इटली-निवासियों ने दक्षिण-पूर्व में, जर्मन नगरों ने पूर्व में और स्लेवेनियन नगरो ने सुदूर उत्तर-पूर्व में अपने उपनिवेश बसाये। औपनिवेशिक युद्धों के लिए भाड़े की सेनायें रक्खी जाने लगीं। इसके बाद शीघ्र ही स्थानिक रक्षण के लिए भी ऐसी सेनायें भर्ती की गईं। इतने अधिक परिमाण में कर्ज़े लिये गये कि उससे नागरिकों का सम्पूर्णतया नैतिक पतन हो गया और प्रत्येक चुनाव के समय आन्तरिक लड़ाइयाँ अधिकाधिक बढ़ती गईं। इन चुनावों में

नगरों की घातक भूल

औपनिवेशिक राजनीति थोड़े से कुटुम्बों के स्वार्थ के लिए खतरे में पड़ जाती थी। ग़रीब-अमीर का भेद दिन प्रति दिन बढ़ता गया और सोलहवीं शताब्दी में प्रत्येक नगर में राजाओं को तत्पर सहायक मिल गये। ग़रीब जनता ने भी उनको सहायता दी।

सामुदायिक संस्थाओं के पतन का इन सब से बढ़ कर एक और कारण है। मानव-जाति के भाग्य पर विचारो और सिद्धान्तों का कितना जबर्दस्त असर पड़ता है और जब मुख्य विचारों मे गहरा परिवर्तन होता है तो उस से किस प्रकार बिल्कुल विपरीत परिणाम पैदा होते है।

एक और कारण

मध्यकालिक नगरो का इतिहास इसका अत्यन्त आकर्षक उदाहरण है। स्वावलम्बन और संघवाद, प्रत्येक अलग-अलग समूह की स्वाधीनता, और साधारण से संघीय शासन-संगठन की रचना–ये ग्यारहवी शताब्दी के मुख्य सिद्धान्त थे, किन्तु सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में उनमें एक दम परिवर्तन हो गया। पोप इन्नोसेण्ट तृतीय के काल से ही रोमन क़ानून के पंडितो और बड़े-बड़े पादरियों में घनिष्ठ गठ-बन्धन हो गया था। ये दोनो वर्ग नगर—संगठन के प्रधान बुनियादी सिद्धान्त को सत्वहीन बनाने मे सफल हुए। दो सौ या तीन सौ वर्षो तक उन्होंने गिरजाघरों के मंच से, विश्वविद्यालयो और न्यायाधीशो की कुर्सी से जनता को यह सिखाया कि एक अर्द्धदैवी सत्ता की अधीनता में स्थापित संगठित केन्द्रीय सरकार से ही मुक्ति की आशा रखनी चाहिए, एक ही आदमी समाज का उद्धारक हो सकता है, उसे होना

चाहिए और यह कि वह व्यक्ति जनता के उद्धार के नाम पर चाहे जैसे हिंसात्मक काम कर सकता है, स्त्री और पुरुषो को लकड़ी से बांध कर जला सकता है, उन्हे अवर्णनीय तकलीफें पहुँचा कर नष्ट कर सकता है, सारे के सारे प्रान्तो को घोर संकट के सागर में डुबो दे सकता है। जहाँ-जहाँ राजा की तलवार और गिरजे की आग, साथ-साथ या अलग, पहुँच सकी वहां-वहां उन्होने उपर्युक्त नृशंसताओ को एक बड़े पैमाने पर और अश्रवणीय निर्दयता के साथ कार्यरूप में परिणत करने में भी आगा-पीछा नही किया। इन शिक्षाओ और उदाहरणों की ओर जनता का ध्यान लगातार बल-पूर्वक आकर्षित किया जाता रहा, जिसके फल-स्वरूप नागरिकों की मनोवृत्ति एक नये ही ढांचे मे ढल गई। वे यह समझने लगे कि 'सार्वजनिक रक्षा के नाम पर' राजा जनता पर चाहे जितने बन्धन लगा सकता है और चाहे जैसी बेरहमी के साथ नर-हत्या कर सकता है। लोगो की इस नवीन मनोदशा और एक व्यक्ति की शक्ति मे अन्ध-विश्वास पैदा हो जाने के कारण प्राचीन सामुदायिक सिद्धान्त नष्ट हो गया और जन-साधारण की रचनात्मक प्रतिभा का मूल ही मृतप्राय हो गया। रोमन सिद्धान्त की विजय हुई और इन परिस्थितियो मे केन्द्रीभूत सरकारो को नगरो के हड़प कर जाने का मौक़ा मिल गया।

घृणित अमानुषिक विचार

पन्द्रहवीं शताब्दी का फ्लोरेंस नगर इस परिवर्तन का एक अच्छा उदाहरण है। पहले जन-साधारण में कोई क्रान्ति होती तो वह इस बात की द्योतक होती थी कि नवीन व्यवस्था का जन्म

होने वाला है। किन्तु परिवर्तन काल में जब लोगों ने निराश हो-कर बग़ावत का झण्डा खड़ा किया, तो उसमें रचनात्मक विचारों का अभाव था, उस आन्दोलन के फल-स्वरूप किसी नवीन विचार की उत्पत्ति न हुई। संघ की बड़ी कौंसिल में ४०० के बजाय १००० और उसकी कार्य कारिणी-समिति में ८० के बजाय १०० प्रतिनिधि रख दिये गये किन्तु संख्या में हेर-फेर कर देने से कोई नतीजा नहीं निकल सका। लोगों में असन्तोष की मात्रा बढ़ रही थी और इसलिए नये-नये विद्रोह हुए। उद्धारक अर्थात् 'निरंकुश शासक' से अपील की गई, उसने विद्रोहियों को क़त्ल किया किन्तु सामुदायिक संगठन का विच्छेद होना पहले से भी अधिक जारी रहा। एक नये विद्रोह के बाद फ्लोरेंस के लोगो ने जब अपने सबसे अधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति जियरोनियो सवोना रोला से सलाह मांगी तो उस संन्यासी ने उत्तर में कहा था:—

"ऐ मेरे लोगो, तुम जानते हो कि मैं राजकीय मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता, अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाओ। शुद्ध मन से तुम अपने नगर का सुधार करोगे,तो, ऐ फ्लोरेंस के लोगो, तुम समस्त इटली के सुधार का सूत्रपात कर सकोगे।" त्यौहारी बुर्के और भ्रष्ट पुस्तकें जला दी गईं, दो क़ानून बनाये गये, एक तो धर्मादे के सम्बन्ध में और दूसरा सूदखोरी को बन्द करने के लिए और प्रजातंत्री फ्लोरेंस वहीं क़ायम रहा, जहां वह पहले था। पुराना जीवन जा चुका था। सरकार पर बहुत अधिक विश्वास कर-करके लोगों ने आत्मविश्वास खो दिया, नई व्यवस्था

को जन्म देने की उनमें शक्ति नही रह गई थी। राज्य सत्ताओं के लिए केवल इतना-सा काम बाक़ी रह गया था कि एक क़दम आगे बढ़ाकर वे जनता की बची-खुची स्वाधीनता को कुचल डालें!

फिर भी सर्वसाधारण में पारस्परिक सहयोग और सहायता का स्रोत सूखा नहीं, इस पराजय के बाद भी वह बहता रहा। सुधार-आन्दोलन के सर्वप्रथम प्रचारको की साम्यवादी अपीलों के फल-स्वरूप उसमें फिर जबर्दस्त बाढ़ आई। जनता को आशा थी कि वह संशोधित धर्म की प्रेरणा के द्वारा नवजीवन का निर्माण कर सकेगी, किन्तु उसे सफलता नही मिली। वह निरंकुश शक्तियों की अधीनता में फंस गई, फिर भी सहयोग का वह स्रोत क़ायम रहा। वह अब भी बहता है और नये रूप में प्रकट होने का मार्ग ढूँढ़ता है। उसका यह स्वरूप न तो सरकार के और मध्य-कालिक नगरो के संगठन-जैसा होगा और न ही बर्बर जातियों की ग्राम-पंचायतों तथा प्राकृत मनुष्यों के जातीय संगठन जैसा ही होगा। उसका जन्म इन सब संगठनों में से होगा, फिर भी वह व्यापक और गहरे मानवीय विचारों की दृष्टि से उन सबकी अपेक्षा उच्च कोटि का होगा।

[७]

वर्तमान समाज में पारस्परिक सहयोग

मनुष्य में पारस्परिक सहयोग की प्रवृत्ति इतनी पुरानी है और मानव-जाति के समस्त भूतकालिक विकास के साथ उसका इतना गहरा सम्बन्ध है कि समय-समय पर इतिहास में उतार-चढ़ाव होते रहे, किन्तु मानव-जाति ने उसे आज तक क़ायम रखा है। मुख्यतया उसका विकास सुख और शान्ति के काल में हुआ, किन्तु जब मनुष्य पर बड़ी से बड़ी आपदाओं के प्रहार हुए, सारे के सारे देश युद्धो के कारण वर्बाद हो गये और सारी मानव-जाति दरिद्रता को शिकार बन गई अथवा अत्याचार के बोझे के नीचे कराहती थी, उस समय भी पारस्परिक सहयोग की वही प्रवृत्ति गाँवों और क़स्बों की दरिद्रतर जातियों में जीवित रही, उसने उनको एक सूत्र में बाँधे रखा और अन्त में उसकी शासन करने, लड़ने और अल्पसंख्यक समुदायो को नष्ट करने वाले उन लोगों पर भी प्रतिक्रिया हुई जिन्होंने उसे भावुकता-पूर्ण मूर्खता कहकर ठुकरा दिया था। जब-जब मानव-जाति को विकास के नये-नये पहलुओ के अनुकूल नवीन सामाजिक संगठन की रचना करनी पड़ी, तब-तब उस रचना के लिए मानव-जाति की रचनात्मक प्रतिभा को पारस्परिक सहयोग की उसी अमर प्रवृत्ति से

सहयोग की प्रवृत्ति की प्राचीनता

सामग्री और प्रेरणा मिली। जनता-द्वारा निर्मित नवीन आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं, नवीन नैतिक पद्धतियो और नवीन धर्मों—सबकी उत्पत्ति इसी एक ही स्थान से हुई है। यदि हम आधुनिक मानव जाति की नैतिक प्रगति पर विचार करें तो हमें प्रतीत होगा कि वह प्रगति पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्तो के धीमे-धीमे विस्तार का ही परिणाम है। पारस्परिक सहयोग का दायरा सदा बढ़ता रहा है। पहले वह एक जाति तक सीमित था, फिर बड़े-बड़े जाति-समूहों मे उसका व्यवहार होने लगा और अब अन्त में एक दिन ऐसा आने वाला है जब समस्त मानव-जाति भिन्न-भिन्न धर्मों, भाषाओ और जातियो के भेद को भूल कर उसे अपना जीवन-सिद्धान्त बनावेगी।

ग्राम्य सघों का काल

प्राकृत अवस्था को पार कर चुकने के बाद युरोपीय लोगों ने ग्राम्य समुदायों के काल में प्रवेश किया। इसके बाद मध्यकालिक युग में उन्होने एक नये प्रकार के संगठन की रचना की। इस संगठन की यह खूबी थी कि उसने व्यक्तिगत प्रतिभा (कर्तृत्व शक्ति) के लिए काफी छूट दी और साथ ही साथ एक बड़े परिमाण में मनुष्य की पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता की पूर्ति की; यह संगठन मध्यकालिक नगरों का संगठन था जिसमें ग्राम्य समुदाय सम्मिलित हुए थे। उसकी अधीनता मे व्यवसाय-संघों और भ्रातृ-संघों का जाल बिछ गया था। पिछले दो अध्यायों मे हम कुछ विस्तार के साथ इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि इस नवीन संगठन के फलस्वरूप उद्योग-धन्धों, कला, विज्ञान और व्यापार में कितनी

भारी तरक्की हुई और सब लोग कितने सुखी थे। उन अध्यायों में यह बतलाने की भी चेष्टा की गई थी कि पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में मध्यकालिक प्रजातन्त्रों के लिए वृद्धिंगत सैनिक राज्यों के शिकार बनने के अलावा और कोई मार्ग नहीं रह गया था, कारण कि वे विरोधी भू-स्वामियो के प्रदेशो से घिर गये थे, किसानों को गुलामी से छुड़ाने की उनमें सामर्थ्य न थी और रोमन साम्राज्यवादी विचारों ने धीरे-धीरे उनको बिगाड़ दिया था।

फिर भी आगामी तीन शताब्दियों के लिए सर्वभक्षी राज्य-सत्ता को अधीनता स्वीकार करने के पहले जन-साधारण ने

उसके बाद भी—

पारस्परिक सहयोग और सहायता के प्राचीन आधार पर समाज की पुनर्रचना करने का जबर्दस्त प्रयत्न किया। इस बात को अब सब जानते हैं कि सुधार के उस महान आन्दोलन का उद्देश्य केवल केथोलिक सम्प्रदाय की बुराइयों के विरुद्ध बग़ावत करना ही न था। उसका रचनात्मक आदर्श भी था, वह यह कि मनुष्य का स्वाधीन भ्रातृसंघीय जीवन हो। उस जमाने के प्रारम्भिक लेखों और उपदेशो में मानव-जाति की आर्थिक और सामाजिक समानता (बन्धुत्व) के विचारों का प्रतिपादन किया गया है। जनता ने ऐसे लेखो और उपदेशों को सब से अधिक पसन्द किया। जर्मनी और स्वीजरलैण्ड के किसानों और कारीगरो में जिन 'बारह नियमों' और उसी तरह की जिन धार्मिक मान्यताओं का प्रचार किया गया था, उनमें केवल यह कहा गया कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी समझ के अनुसार बाइबिल का अर्थ करने का अधिकार

है, वल्कि यह माँग की गई थी कि सार्वजनिक जमीनें पुनः ग्राम्य पंचायतो के अधिकार में दे दी जानी चाहिए और जमींदारी प्रथा उठा दी जानी चाहिए। उन्होंने सदा 'सच्चे' धर्म -अर्थात् भ्रातृ-धर्म की ओर निर्देश कया। उसी समय मोरविया के साम्यवादी समुदायो में लाखो स्त्री-पुरुष अपनी समस्त सम्पत्ति देकर शामिल हो गये। वे साम्यवाद के सिद्धान्तों के अनुसार अनेक सम्पन्न बस्तियाँ बसाकर रहने लगे। हजारो की तादाद मे जब लोगों का संहार हुआ, तब कहीं इस विस्तृत सार्वजनिक आन्दोलन का प्रवाह रुका। नवजात सरकारों ने तलवार, आग और शारीरिक उत्पीड़न के सहारे जन-साधारण पर पहली और निश्चयात्मक विजय प्राप्त की।×

घातक प्रहार

आगामी तीन शताब्दियों में राज्य-संस्थाओ ने ब्रिटिश टापुओं (इंग्लैण्ड, आयर्लैण्ड और स्काटलैण्ड) और युरोपीय महाद्वीप की उन सब संस्थाओं का व्यवस्थित ढंग से विनाश किया जिनमें पहले पारस्परिक सहयोग की प्रवृत्ति प्रकट हुई थी। ग्राम्य पंचायतें, न्यायालयों और स्वतन्त्र शासन से तो हाथ धो ही चुकी थी, उनकी जमीनें भी जब्त करली गई। व्यवसाय-संघो की सम्पत्ति और स्वाधीनता

× हमारे समकालिक लेखकों में से बहुत कम ने इस बात का अनुभव किया है कि यह आन्दोलन कितने विस्तृत क्षेत्र में फैला था और उसको किन-किन उपायों द्वारा दबाया गया। किन्तु जिन्होंने कृषक महायुद्ध की समाप्ति के बाद ही उसका वर्णन लिखा, उनका अनुमान है कि जर्मनी में किसानों की हार होने के बाद १,००,००० से १५०,००० तक किसान क़त्ल किये गये।

अपहरण कर ली गई, उन्हें एक राज्याधिकारी के मनमाने नियंत्रण में रख दिया गया। नगरों की स्वाधीनता छीन ली गई, उनका आन्तरिक जीवन-स्रोत ही सुखा दिया गया। जन-सभायें, निर्वाचित न्यायाधीश, निर्वाचित शासन-व्यवस्था, स्वाधीन गिरजाघर और स्वाधीन व्यवसाय-संघ सब नष्ट कर दिये गये। जो पहले सम्पूर्ण संगठित व्यवस्था थी, उसके प्रत्येक अंग पर राज्य-संस्था के संचालक ने अधिकार कर लिया। इस घातक नीति तथा उसके फलस्वरूप होने वाले युद्धो के कारण सब प्रदेश, जो किसी समय आबादी और धन-दौलत से परिपूर्ण थे, वीरान हो गये, सम्पन्न नगर छोटे-छोटे क़स्बों के रूप मे परिवर्तित हो गये, और जिन सड़कों-द्वारा नगर एक-दूसरे से सम्बन्धित थे, उन तक पर आना-जाना असम्भव हो गया। कला-कौशल, उद्योग-धन्धों और ज्ञान का ह्रास हुआ। राजनैतिक शिक्षा, विज्ञान और क़ानून केन्द्रीभूत राज्यसत्ता के विचार का पोषण करने लगे। गिरजाघरों के मंच तथा विश्वविद्यालयों से यह शिक्षा दी जाने लगी कि जिन संस्थाओं-द्वारा मनुष्य पहले अपनी पारस्परिक सहयोग की आवश्यकताओ की पूर्ति किया करता था, उनको एक सुसंगठित सरकार जीवित नही रहने दे सकती, केवल सरकार ही प्रजाजनों की प्रतिनिधि संस्था हो सकती है, संघवाद प्रगति का शत्रु है और सरकार ही वह योग्य संस्था है जिसके द्वारा भावी विकास हो सकता है। गत शताब्दी के अन्त में यद्यपि युरोपीय राजाओं, ब्रिटिश टापुओं की पार्लियामेंट और फ्रांस की क्रान्तिकारी व्यवस्थापक सभा में आपस में अनबन थी फिर भी वे सब इस बात

में एकमत थे कि सरकार के संगठन के भीतर नागरिकों के अलग संघ न बनने चाहिएँ और यह कि यदि श्रमजीवी 'संगठित' होने का साहस करें तो उसका उचित दण्ड कठोर कारावास और मृत्यु ही हो सकता है। 'एक म्यान के अन्दर दो तलवारें नहीं समा सकतीं।' सरकार और उसके गिरजाघर को ही सर्वसाधारण के हित से सम्बन्ध रखनेवाले मामले की देखभाल करनी चाहिए। प्रजाजन उसी तरह रहें जिस तरह कि असंगठित व्यक्तियों का समूह रहता है। उनमें आपस में कोई खास बन्धन न हो और आवश्यकता पड़ने पर हर बार उन्हें सरकार से सहायता की भिक्षा माँगनी पड़े। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक युरोप में यही सिद्धान्त प्रचलित था। व्यापारिक और औद्योगिक संस्थायें तक सन्देह की दृष्टि से देखी जाती थीं। श्रमजीवियों के संघ ब्रिटिश टापुओं में हमारे जीवन-काल में ही गैर-क़ानूनी माने जाते थे और युरोप के अन्य देशों में बीस वर्ष पहले तक यही अवस्था थी। ५०० वर्ष पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह स्वतन्त्र नागरिक अथवा गुलाम ही क्यों न हो, ग्राम पंचायतों, व्यवसाय-संघों और गिरजाघरों में जो अधिकार प्राप्त थे, वे अधिकार यदि आज मनुष्य-समाज को दे दिये जायँ तो इंग्लैण्ड में इस समय भी समाज का एक प्रसिद्ध दल है जो उनको क्रान्तिकारी रियायतें मानेगा। यह सरकारों की शिक्षण-पद्धति का ही फल है।

विशृंखलता का प्रवाह

राज्यसंस्था-द्वारा समस्त सामाजिक कर्त्तव्यों पर अधिकार कर लिये जाने का अनिवार्यतः यह परिणाम हुआ कि असंयत और संकुचित व्यक्तिवाद के विकास में सहायता मिली। जिस परिमाण में राज्य के प्रति कर्तव्य की संख्या बढ़ी, उसी परिमाण में प्रकटतः नागरिकों को पारस्परिक कर्तव्यों से छुट्टी मिली। मध्यकालिक युग में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी भ्रातृ-संघ से सम्बन्ध रखता था। इन भ्रातृ-संघों में जब कोई बीमार पड़ता तो दो 'भाई' अर्थात् भ्रातृ-संघ के सदस्य बारी-बारी से उसकी सेवा-शुश्रूषा करते थे, अब अपने पड़ोसी को पास के अनाथ चिकित्सा-गृह का पता बता देना काफ़ी होता है। बर्बर जातियों के समाज में किसी विवाद के फलस्वरूप होनेवाली दो आदमियों की लड़ाई में मदद देना और उसके बुरे परिणाम को न रोकना हत्या की भांति बुरा समझा जाता है, किन्तु सबकी रक्षक राज्य-संस्था के सिद्धान्तानुसार पास में खड़े व्यक्ति को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं, हस्तक्षेप करना न करना पुलिस का काम समझा जाता है। प्राकृत प्रदेश में रहनेवाले होटेनटोटों में चाहे कोई भोजन में शरीक होनेवाला हो या न हो, यदि कोई तीन बार ज़ोर-ज़ोर से भोजन के लिए पुकारे बिना खा लेता है तो बड़ा निन्दनीय समझा जाता है, किन्तु सम्मानित नागरिक के लिए इतना ही काफ़ी है कि वह सरकार को ग़रीबों के नाम टैक्स (कर) दे दे और भूखों को भूख से मरने दे। इस सबका नतीजा यह है कि क़ानून विज्ञान और धर्म आदि सब स्थानों में उस सिद्धान्त का

बोझवाला है जिसके अनुसार मनुष्य दूसरे लोगों की आवश्यकताओं की उपेक्षा में ही अपना सुख ढूँढ़ सकता है, ढूँढ़ना चाहिए। यह आधुनिक युग का धर्म है और उसकी शक्ति पर सन्देह करना एक खतरनाक आदर्शवादी बनना है। विज्ञान पुकार-पुकार कर यह घोषणा करता है कि समष्टि के विरुद्ध व्यक्ति का संघर्ष करना प्रकृति का और मानव-संस्थाओं का भी मुख्य सिद्धान्त है। प्राणीशास्त्र इसी संघर्ष को प्राणी-संसार के विकास का कारण बताता है। इतिहास भी इसी तर्क का आश्रय लेता है और राजनैतिक अर्थशास्त्री अपनी दुष्टतापूर्ण अज्ञानता में आधुनिक उद्योग-धन्धों और यन्त्रों की प्रगति का मूल उसी सिद्धान्त के 'आश्चर्यजनक' परिणामों में बताते हैं। व्यक्तिवाद ही गिरजाघरों का धर्म है। उसमें थोड़ी-बहुत सुनहरी लकीर है तो यह कि मुख्यतया रविवार के दिन पड़ोसी के प्रति दयाभाव दिखाया जाता है। 'व्यावहारिक' आदमी और सिद्धान्तवादी, वैज्ञानिक और धर्मोपदेशक, क़ानूनवेत्ता और राजनीतिज्ञ सब इस बात से सहमत हैं कि व्यक्तिवाद की क्रूरताओं को दया के द्वारा थोड़ा-बहुत कम किया जा सकता है किन्तु समाज को क़ायम रखने और उसके भावी विकास के लिए केवल वही सुरक्षित आधार है।

ऐसी दशा में आधुनिक समाज में पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्त पर स्थापित संस्थाओं के अस्तित्व की आशा करना निरी मृग-तृष्णा प्रतीत होती है। उनके कौन चिन्ह शेष रह सकते थे? फिर भी हम यह पता लगाने की कोशिश करते हैं कि लाखों मनुष्य

फिर भी सहयोग का वही भाव!

किस प्रकार रहते हैं और उनके दैनिक सम्बन्धों का अध्ययन शुरू करते हैं तो मानव जीवन में आज भी पारस्परिक सहयोग और सहायता के सिद्धान्त जो महान भाग लेते हैं, उसे देख कर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। यद्यपि पारस्परिक सहयोग की संस्थाओं का विनाश गत तीन सौ-चार सौ वर्षों से विचार और कार्य दोनो में हो रहा है, फिर भी करोड़ों आदमी उन संस्थाओं के आश्रय में रह रहे है। वे श्रद्धा के साथ उनको क़ायम रखते हैं और जहां कही उनका अस्तित्व मिट गया है, वहां उन्हे फिर से स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। पारस्परिक सम्बन्धों के दौरान में हम में से हरएक के जीवन मे ऐसे क्षण आते हे जब आधुनिक युग के व्यक्तिवादी धर्म के विरुद्ध विद्रोह की लहरें उठने लगती हैं और हमारे दैनिक व्यवहार के कार्यों में पारस्परिक सहयोग की प्रवृत्तियों को इतना बड़ा स्थान मिला हुआ है कि यदि उन कार्यों का होना बन्द हो जाय तो तमाम भावी नैतिक विकास तुरन्त बन्द हो जायगा। स्वयं मानव-समाज एक पीढ़ी के जीवन काल तक भी क़ायम नहीं रखा जा सकेगा। यद्यपि इन बातों की समाजवादियों ने अधिकतर उपेक्षा की है, फिर भी वे मानव-जाति के जीवन और उसके भावी उत्थान के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। अब हम इन्हीं बातो का विश्लेषण करेंगे। पहिले हम पारस्परिक सहयोग की मौजूदा संस्थाओ पर विचार करेंगे और उसके बाद पारस्परिक सहयोग के उन कार्यों की ओर लक्ष्य देंगे जिनकी उत्पत्ति व्यक्तिगत या सामाजिक सहानुभूति की भावनाओं को लेकर हुई है।

जब हम वर्तमान युरोपीय समाज पर व्यापक दृष्टि डालतें हैं तो हमें यह जानकर तुरन्त आश्चर्य होता है कि यद्यपि ग्राम-पंचायतों को नष्ट करने का इतना अधिक प्रयत्न किया गया है, फिर भी यह संगठन एक हद तक बना हुआ है। इस संगठन को या तो किसी न किसी रूप में फिर से स्थापित करने की या उसके बजाय उसी प्रकार का और कोई संगठन बनाने की अनेक कोशिशें हो रही हैं। ग्राम-पंचायतो के संबन्ध में प्रचलित सिद्धान्त यह है कि जमीन का समुदायिक अधिकार कृषि की आधुनिक आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं पाया गया, इसलिए पश्चिमी युरोप में उनकी स्वाभाविक मृत्यु हो गई। किन्तु सत्य तो यह है कि कहीं ग्राम-पंचायतें अपनी इच्छा से नहीं टूटीं। इसके विपरीत शासक जातियों को उन्हें नष्ट करने और सामुदायिक जमीनों को जब्त करने के लिए लगातार कई सदियो तक प्रयत्न करने पड़े जो सदा ही सफल नहीं होते थे।

फ्रांस में सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ से ही ग्राम पंचायतों की स्वाधीनता और उनकी जमीनें छीनी जाने लगी थीं। किन्तु किसान जनता अगामी शताब्दी में जाकर ही युद्धों और लूट-मार के द्वारा अधीनता में लाई जा सकी, उसकी दुःखद अवस्था बनाई जा सकी। सभी इतिहासकारों ने इस अवस्था का विशद वर्णन किया है। उस समय उनकी जमीनो का छीना जाना बड़ा सरल हो गया और वह भी अन्धाधुन्ध परिमाण में। सन् १६६० ई० में लुई १४ वें ने जो फरमान निकाला था, उसमें लिखा है कि 'हरएक उमराव ने अपनी शक्ति के अनुसार जमीनो पर

क़ब्जा कर लिया। ग्राम पंचायतों की जमीनों को हड़पने के लिए बनावटी क़र्जों के दावे किये जाने लगे।' निस्सन्देह इन बुराइयों के लिए राज्य-संस्था के पास यही उपाय था कि वह ग्राम-पंचायतों को अपने हाथ की और भी अधिक कठपुतली बना ले और खुद उनको लूटना शुरू कर दे। वास्तव में दो वर्ष बाद, बादशाह ने पंचायतों के लगान का सब रुपया जब्त कर लिया। जमीनों पर सामुदायिक अधिकार दिन प्रति दिन कम होता गया और आगामी शताब्दी में उमरावों और पादरियों ने उनके एक बड़े हिस्से पर अधिकार कर लिया। कुछ लोगों का अनुमान है कि जोती जाने वाली कुल जमीन के अर्द्धांश पर उनका आधिपत्य हो गया था। अधिकृत जमीन का ज्यादातर हिस्सा पड़त रहा। किन्तु किसानों ने अपनी सामुदायिक संस्थाओं को फिर भी क़ायम रक्खा और सन् १७८७ तक ग्राम-पंचायतें घण्टाघर या किसी पेड़ के नीचे इकट्ठी हुआ करती थीं। गाँवों के सभी कुटुम्ब इन पंचायतों के सदस्य होते थे। उनमें बाक़ी बचे हुए खेतों का नये सिरे से विभाजन किया जाता था, कर निश्चित किये जाते थे और पंचायत की कार्यकारिणी का चुनाव होता था। रूसी ग्राम-पंचायतों में आज भी ऐसा ही होता है। बाब्यु के अन्वेषणों ने इन्हीं बातों को सिद्ध किया है।

पतन का क्रम

किन्तु सरकार ने यह अनुभव किया कि ग्राम-पंचायतें बहुत गड़बड़ मचाती हैं तथा राजकीय आज्ञाओं का बहुत अधिक उल्लंघन करती हैं, इसलिए सन् १७८७ में उनके स्थान पर निर्वाचित कौंसिलों की रचना की गई। हरएक कौंसिल में एक मेयर और तीन से छः तक सदस्य चुने जाने का नियम रखा गया। ये लोग धनिक श्रेणी के किसानों में से चुने जाते थे। दो वर्ष बाद १४ दिसम्बर सन् १७८९ को क्रान्तिकारी शासन-सभा ने ग्राम-पंचायतों की इस पुनर्रचना-विधि का पूरी तरह से समर्थन किया, कारण कि प्राचीन शासन-व्यवस्था की भांति वह भी ग्राम-पंचायतो को एक तरह का कांटा ही समझती थी। फलतः अब सामुदायिक जमीनों को लूटने की धनिक किसानों की बारी आई। यह लूट सारे क्रान्ति-काल में होती रही। १६ अगस्त सन् १७९२ में जब किसानों के विद्रोहों का दबाव पड़ा तो व्यवस्थापक सभा ने बाड़ों वाली जमीनें जिला-संघों को लौटा देने का निश्चय किया, किन्तु साथ ही उसने यह आज्ञा भी दी कि वे जमीनें बराबर-बराबर हिस्सो में केवल धनिक किसानों में ही बांटी जायँ। इस आज्ञा के विरुद्ध फिर विद्रोह हुए और दूसरे साल सन् १७९३ में उसे रद्द करना पड़ा। उस समय इस बात की इजाजत दे दी गई कि सामुदायिक जमीनें सब ग्रामीणों में चाहे वे धनी हों या गरीब, काम करते हों या न करते हों, बांट दी जा सकती हैं।

पंचायतों की समाधि पर

जमीनों के बंटवारे-सम्बन्धी ये दोनों क़ानून किसानों के विचारों के इतने प्रतिकूल थे कि उनका पालन नहीं किया गया और जहां कहीं किसानों ने अपनी जमीनों के कुछ भाग पर फिर से अधिकार किया, वहाँ उसको उन्होंने बांटा नहीं। किन्तु इसके बाद कई साल तक लड़ाइयां होती रहीं और राज्य ने सन् १७९४ में सामुदायिक जमीनों को राजकीय क़र्जों के बदले में जब्त कर लिया और उनको बेचना शुरू कर दिया। बीच में फिर जमीनें किसानो को लौटा दी गईं। X किन्तु सन् १८१३ में वे पुनः जब्त कर ली गईं। सन् १८१६ में जा कर सामुदायिक जमीनों का शेष भाग अर्थात क़रीब १५,०००,००० (एक करोड़ पचास

सामुदायिक जमीनों का बटवारा

X फ्रांस में सन् १७९३ में जो क्रांति हुई उसको मध्यम वर्ग ने जब असफल कर दिया तो अगस्त सन् १७९४ में सामुदायिक और उमरावों की जब्तशुदा जमीनों पर राज्य का आधिपत्य घोषित कर दिया गया, वे बेची जाने लगीं और छोटे-छोटे पूजीवादियों के दलों ने उनको लूटा। यह सही है कि दूसरे वर्ष यह लूट रोक दी गई और पिछला क़ानून रद्द कर दिया गया, किन्तु उस समय ग्राम-पंचायतें तोड़ दी गई थीं और उनके स्थान पर विशिष्ट कौंसिलों की रचना की गई। सात वर्ष बाद सन् १८०१ में ग्राम-पंचायतों को फिर से जारी किया गया, किन्तु उनके सब अधिकार छीन लिये गये। फ्रांस की ३६ हजार ग्राम-पंचायतो में मेयर और सदस्य सरकार निर्वाचित करती थी। यह पद्धति सन् १८३० की क्रांति के बाद तक कायम रखी गई। बाद में सन् १७८७ के कानून के अनुसार जनता-द्वारा निर्वाचित सामुदायिक कौंसिलों की पुनः स्थापना की गई। सामुदायिक जमीनों को सन् १८१३ में राज्य ने फिर जब्त कर लिया, उनको लूटा खसोटा और सन् १८१६ में उनका कुछ भाग ही पंचायतों को वापस किया गया।

लाख) एकड़ जमीन ग्राम-पंचायतों को लौटाई गई किन्तु ग्राम-पंचायतों के कष्टों का यहीं खात्मा नहीं हुआ। प्रत्येक नई शासन-व्यवस्था ने सामुदायिक जमीनों को अपने समर्थकों को सन्तुष्ट करने का एक जरिया समझा और ग्राम-पंचायतों को अपनी जमीनें बांट देने की प्रेरणा देने के लिए तीन क़ानून बनाये गये। पहला सन् १८३७ में और तीसरा नेपोलियन तृतीय के समय में। इन क़ानूनों का गांवों में बड़ा विरोध हुआ, उसके फल-स्वरूप उनको तीन बार रद्द करना पड़ा, किन्तु हर बार कुछ न कुछ छीन लिया जाता था। नेपोलियन तृतीय ने कृषि के उन्नत उपायों को प्रोत्साहन देने के बहाने सामुदायिक जमीनों के बड़े-बड़े टुकड़े अपने कुछ कृपा-पात्रों को दे डाले।

इतने अधिक प्रहारों के बाद ग्राम-पंचायतों की शासन-स्वाधीनता तो रह ही क्या सकती थी? उनके अध्यक्ष और सदस्य केवल राज्य के अवैतनिक कर्मचारी समझे जाते थे। तीसरे प्रजातंत्र की अधीनता में अब भी ग्राम-पंचायतें विशाल राज्य-प्रणाली और उसके विभागाध्यक्षों और मन्त्रियों तक की अनुमति लिय बिना अपने आप बहुत कम काम कर सकती हैं, इस पर शायद ही कोई विश्वास करे, किन्तु फिर भी यह बात सही है कि यदि कोई किसान सार्वजनिक सड़कों की मरम्मत के लिए पत्थर तोड़ने का आवश्यक काम स्वयं न करके उसके बजाय अपना हिस्सा रुपया देकर पूरा करना चाहे तो इसके लिए उसे कम से कम राज्य के बारह विभिन्न कर्मचारियों की अनुमति प्राप्त करनी पड़ती है। जब ये कर्मचारी कुल मिलाकर ५२

प्रकार की विभिन्न रस्में आपस में पूरी कर चुकते हैं, तब कहीं जा कर किसान को वह रुपया सामुदायिक कौंसिल में देने की इजाजत मिलती है। अन्य कामों के बारे में भी ऐसा ही होता है।

जो बात फ्रांस मे हुई, वही पश्चिमी और मध्य युरोप में सब जगह हुई। यहां तक कि किसानों की जमीनों पर बड़े-बड़े हमले होने की मुख्य तिथियाँ भी एक ही रही हैं। इंग्लैंड में और फ्रांस में जो-कुछ हुआ, उसमें अन्तर केवल इतना-सा है कि फ्रांस में सामुदायिक जमीनो की लूट व्यापक क़ानूनों-द्वारा हुई और इंग्लैण्ड में अलग-अलग क़ानूनों-द्वारा। यह सही है कि इंग्लैण्ड मे जमीनों की लूट धीरे-धीरे हुई, किन्तु हुई वह फ्रांस की अपेक्षा अधिक पूरी तरह, जैसा कि रोसस के इतिहास और हेनरी सातवें के एक क़ानून से पता चलता है। सन् १३८० के कृषक-विद्रोह के असफल हो जाने के बाद पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही उमराव लोग सामुदायिक जमीनें हड़प करने लग गये थे। उस इतिहास और क़ानून में उमरावों-द्वारा होने वाली इस ज़ब्ती को राज्य के लिए हानिकारक बताया गया है। बाद में हेनरी आठवें के जमाने में सामुदायिक जमीनों के अपहरण को रोकने के लिए जांच-पड़ताल शुरू की गई, किन्तु उसका कुछ भी परिणाम न निकला। जो कुछ हो चुका था, उसको ठीक बताया गया और जांच का कार्य समाप्त कर दिया गया। सामुदायिक जमीनों की ज़ब्ती जारी रही और किसान अपनी जमीनों से अलग कर दिये गये। किन्तु ख़ास तौर पर अठारहवीं शताब्दी के मध्य से इंग्लैण्ड और दूसरे स्थानों में

सर्वत्र एक ही चक्र

सामुदायिक आधिपत्य के समस्त चिन्हों को नष्ट करना व्यवस्थित नीति का एक अंग बना। आश्चर्य इस बात में नहीं है कि सामुदायिक आधिपत्य का लोप हो गया, बल्कि आश्चर्य तो यह है कि इंग्लैण्ड तक में वह क़ायम रखा जा सका अर्थात वह वर्तमान पीढ़ी के दादाओं के काल तक में आम तौर पर प्रचलित था। जैसा कि मि० सोबोहम ने बताया है बाड़ेबदी के क़ानूनों (Enclosure Acts) का उद्देश्य ही सामुदायिक आधिपत्य की पद्धति को मिटा देना था। १७६० से १८४४ तक कोई चार हज़ार क़ानून बनाये गये। इन क़ानूनों ने उस पद्धति को इतनी पूरी तरह मिटा दिया है कि अब उसके केवल अस्पष्ट चिन्ह ही रह गये हैं। ग्राम—पंचायतों की ज़मीनों पर उमरावों ने अधिकार कर लिया और उनके इस अधिकार को पार्लियामेंट ने अलग-अलग स्वीकार कर लिया।

जर्मनी, आस्ट्रिया और बेल्जियम में भी राज्य-द्वारा ग्राम-पंचायतें नष्ट कर दी गईं। इस बात के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं कि जन-साधारण ने अपनी ज़मीनों का अपने आप विभाजन किया हो। इसके विपरीत राज्य ने जहाँ-तहाँ ज़मीन का बंटवारा करने के लिए ग्राम-पंचायतों को विवश किया अथवा उन व्यक्तियों को प्रोत्साहन दिया जो ज़मीनों पर अपना खुद का क़ब्ज़ा कर लेते थे। मध्य युरोप में भी ज़मीनों के सामुदायिक आधिपत्य पर अन्तिम प्रहार अठारहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ। आस्ट्रिया में सन् १७६८ में पंचायतो को अपनी ज़मीनें बाँट देने के लिए विवश करने को

अन्य देशों में भी—

पशु-बल का प्रयोग किया गया। दो वर्ष बाद इसी काम के लिए एक विशेष कमीशन नियुक्त किया गया था। प्रशा में फ्रेड्रिक द्वितीय ने सन् १७५२, ६३, ६५, और ६९ में कई आर्डिनेंस निकालकर न्यायाधीशों से सिफारिश की कि वे जमीनों का बंटवारा करावें। साइलेशिया में सन् १७७१ में इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक विशेष प्रस्ताव जारी किया गया। बेल्जियम में भी यही हुआ। चूंकि वहां पंचायतों ने राज्य की आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया था, इसलिए सन् १८४७ में एक क़ानून बनाया गया जिसके अनुसार सरकार को सामुदायिक चरागाह ख़रीद कर अलग-अलग व्यक्तियों को बेच देने का अधिकार दे दिया गया। उस क़ानून ने सरकार को यह भी अधिकार दिया कि यदि ख़रीददार मिले, तो सामुदायिक जमीन की वह ज़बर्दस्ती बिक्री भी करा सके।

संक्षेप में, यह कहना कि प्रकृत आर्थिक क़ानूनों के कारण ग्राम-पंचायतों की स्वाभाविक मृत्यु हुई, एक ऐसा ही भयंकर विनोद है जैसा कि किसी युद्ध-क्षेत्र में मारे गये सिपाहियों के लिए यह कहना कि उनकी स्वाभाविक मृत्यु हुई है। सच तो यह है कि ग्राम-पंचायतें एक हजार वर्ष से भी अधिक जीवित रहीं और जहां कहीं किसान युद्धों और करों के कारण बर्बाद नहीं हुए, वहां उन्होंने दृढ़तापूर्वक कृषि के तरीक़ों को उन्नत बनाया। किन्तु उद्योग-धन्धों की बढ़ती के कारण जमीनों का मूल्य बढ़ रहा था और राज्य-संस्था की अधीनता में उमरावों ने वह शक्ति प्राप्त कर ली थी, जो उन्हें जमींदारी पद्धति में कभी प्राप्त नहीं हो सकी थी।

इस स्थिति से लाभ उठाकर उमरावों ने सामुदायिक जमीनों के उत्तमोत्तम भागों पर अपना अधिकार कर लिया। उन्होने सामुदायिक संस्थाओं को नष्ट करने की शक्ति-भर चेष्टा की।

फिर भी ग्राम-पंचायतों ने किसानों की आवश्यकताओं और विचारों को इतनी अच्छी तरह से सन्तुष्ट किया कि बिलकुल विपरीत वातावरण होने पर भी आज दिन तक युरोप में सर्वत्र ग्राम-पंचायतों के जीवित अवशेषों की भरमार है। युरोपीय ग्रामीण जीवन उन रीति-रिवाजो से परिपूर्ण है जिनका प्रारम्भ ग्राम-पंचायतों के काल में हुआ था। इंग्लैण्ड में प्राचीन व्यवस्था के विरुद्ध भरपेट सख्तियां की गईं, फिर भी वहाँ १९ वी शताब्दी के प्रारम्भ तक ग्राम-पंचायतें क़ायम थीं। मि० गोमे उन थोड़े से लेखकों में से एक है जिन्होंने इस विषय की ओर ध्यान दिया है। उसने अपने ग्रन्थों में बताया है कि जमीन पर समुदाय का अधिकार होने के अनेक चिन्ह स्काटलैण्ड में मिलते हैं, फॉरफर शायर में सन् १८१३ तक जमीन पर बारी-बारी से अधिकार होने की प्रथा प्रचलित थी और इनवरनेस के कुछ गांवो में सन् १८०१ तक यह रिवाज था कि बिना किसी प्रकार की सीमायें निश्चित किये सारे समुदाय के लिए जमीन जोती जाती थी और जोतने के बाद अलग-अलग कुटुम्बो को दे दी जाती थी। किलमोरी में पचीस वर्ष पहले तक खेतों का विभाजन और पुनर्विभाजन आम तौर पर होता था और क्राफ्टर्स कमीशन ने कुछ टापुओं में इस पद्धति को अबतक क़ायम पाया। आयलैंण्ड में महा दुष्काल के समय तक यही पद्धति प्रचलित थी। मार्शल

के ग्रन्थों को पढ़ लेने के बाद इस विषय में तनिक भी शंका नहीं रह जाती कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक करीब-करीब सभी अंग्रेजी जिलों में जमीनों पर ग्राम-पंचायतों का सामुदायिक अधिकार माने जाने की प्रथा व्यापक रूप में फैली हुई थी। बीस वर्ष से अधिक असी नहीं गुजरा, सर हेनरी मेन को असाधारण साम्पत्तिक अधिकारों के असंख्य उदाहरण देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। इसका अनिवार्यत: यह निष्कर्ष निकलता है कि पहले जमीन पर सबका सम्मिलित अधिकार माना जाता था और खेती भी शामलात में ही होती थी। सर हेनरी मेन ने सापेक्षत: जो संक्षिप्त जाँच की उसके फलस्वरूप ही वे उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुँचे थे। इंग्लैण्ड में सामुदायिक संस्थायें इतने थोड़े काल पहले तक विद्यमान रही हैं कि यदि अंग्रेज लेखक ग्राम्य जीवन की ओर ध्यान दें तो निश्चय ही अंग्रेजी गाँवों में एक बड़ी तादाद में पारस्पारिक सहयोग से सम्बन्ध रखने वाले रीति-रिवाज उन्हें देखने को मिलेंगे।

अब युरोप के अन्य भागों को लीजिए। पूर्वी युरोप की तो बात ही क्या है, फ्रांस के बहुत से हिस्सों में तथा स्वीजरलैण्ड, जर्मनी, इटली, स्केण्डनेवियन प्रदेशों और स्पेन में सामुदायिक संस्थायें पूरी तरह से जीवित हैं। करीब करीब हर साल इस विषय पर या इससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषयों पर गम्भीर पुस्तकें लिखी जाती हैं और युरोपीय साहित्य को समृद्ध बनाया जाता है। इसलिए मैं अत्यन्त विशिष्ट उदाहरणों तक ही अपने विवेचन को सीमित

युरोप के अन्य देशों में

रखूँगा। निश्चय स्वीजरलैण्ड की गिनती उन उदाहरणो में की जा सकती है। न केवल उरी, स्विज, अपेनजेल ग्लेरस और अण्टरवाल्डन नामक पांचो प्रजातन्त्रो में जमीनो का एक बड़ा हिस्सा अविभाजित रखा गया है और वहां की शासन-व्यवस्था पंचायतों के हाथ में है बल्कि दूसरे सब जिलों में भी ग्राम-पंचायतें व्यापक स्वशासन का उपभोग करती हैं और संघीय प्रदेश के एक बड़े भाग पर उनका अधिकार है। अलपाइन प्रदेश के दो-तिहाई चरागाह और सारे स्वीजरलैण्ड के दो-तिहाई जंगल अब भी सामुदायिक अधिकार मे हैं तथा खेतों, बाग़-बगीचों, अंगूर के खेतो, खेती के अनुपयुक्त दलदल वाली जमीनों, खानों आदि का काफी हिस्सा सार्वजनिक माना जाता है। वाड में, जहां सभी गृहस्थियों को अपनी निर्वाचित सामुदायिक कौंसिलों की कार्रवाई में भाग लेने का अधिकार प्राप्त है, सामुदायिक भावना खास तौर पर जीवित दिखाई देती है। सर्दी के आखीर में कुछ गांवों के सब नवयुवक जंगलों में रहने के लिए जाते हैं। वहां वे लकड़ी के लट्ठे काटते हैं और वर्फ से ढके हुए रस्ते पर सफर करने के लिए उन्हें बहुत अधिक ढालू स्थानो से नीचे ले आते हैं। ये लट्ठे और जलाने की लकड़ी या तो सब कुटुम्बो में बाँट दी जाती है या उनके लाभ के लिए बेच दी जाती है। इन यात्राओं में पुरुषार्थ का सच्चा आनन्द देखने को मिलता है। लेनन झील के किनारे पर अंगूरों के खेतों में बांस की महरावें खड़ी करने के काम का कुछ भाग अब भी सब लोग मिलकर करते हैं और वसन्त ऋतु में जब

सूर्योदय के पूर्व बहुत अधिक शीत पड़ती है और थर्मामीटर (शीतोष्णमापक यंत्र) के शून्य से नीचे चले जाने की सम्भावना रहती है तो चौकीदार सब कुटुम्बो को जगा देता है जो फूस और खाद जलाते है और अंगूर की वेलो की।पाले से तथा अप्राकृतिक बादलो द्वारा रक्षा करते है। क़रीब-क़रीब सब ज़िलों में ग्राम्य-समुदाय कुछ शामलाती गायें रखते है ताकि हर एक कुटुम्ब को मक्खन मिल सके। इसके अलावा अन्न अथवा अंगूर के ऐसे खेत भी रखे जाते हैं जिन पर समुदाय का सम्मिलित अधिकार होता है। इन खेतो से होने वाली उपज नागरिकों में बॉट दी जाती है। वे समुदाय के लाभ के लिए अपनी जमीनें किराये पर भी देते है।

इस बात को हम एक नियम के तौर पर मान सकते हैं कि जहॉ-जहॉं पंचायतें एक व्यापक परिमाण में अपने अधिकारो को क़ायम रख सकी और राष्ट्रीय संगठन के जीवित अंग बनी रह सकीं तथा उनकी नितान्त पतितावस्था नहीं हो गई, वहॉ-वहॉ अपनी जमीनो की भली प्रकार से देख-भाल रखने में वे कभी पीछे नही रही हैं। इस नियम के अनुसार स्वीजरलैण्ड की सामुदायिक जमीनों की दशा में और इंग्लैण्ड की सामुदायिक

स्पष्ट निष्कर्ष

जमीनों की बुरी अवस्था में आश्चर्य-जनक अन्तर दिखाई देता है। वाड और वलाइस स्थानो में सामुदायिक जंगलों की आधुनिक जंगलात के नियम के अनुसार बड़ी योग्यतापूर्वक व्यवस्था की जाती है। दूसरे स्थानों में सामुदायिक खेतों के 'टुकड़ों' में, जिनके मालिक

पुनर्विभाजन की पद्धति के अनुसार बदलते रहते हैं, बड़ी अच्छी तरह से खाद डाला जाता है, खास तौर पर इसलिए कि वहां चरागाहों और पशुओं की कमी नहीं है। ऊँची सतह पर बने हुए चरागाह आम तौर पर ठीक ढंग से रखे जाते हैं और ग्रामों की सड़कों की बड़ी अच्छी दशा है। जब हम स्वीजरलैंड के पहाड़ी मकानों, पहाड़ी सड़कों, किसानों के पशुओं, अंगूर के खेतों पर बनी हुई महरावो अथवा स्कूली इमारतों की प्रशंसा करने लगें तो हमें इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि पहाड़ी मकानों को बनाने के लिए बहुधा लकड़ी और पत्थर सामुदायिक जंगलो और खानों से लाये जाते हैं और यह भी कि गायें सामुदायिक चरागाहो पर चराई जाती हैं तथा सड़कें और स्कूली इमारतें सामुदायिक परिमाण से ही बनाई गई है। अन्यथा इन सब चीजों में प्रशंसा के योग्य बहुत कम बातें होतीं।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि स्वीजरलैंड के गांवों में एक बड़े परिमाण में सहयोगात्मक रीति-रिवाज अब तक बने हुए हैं। उनमें अखरोटों के छिलके उतारने के लिए बारी-बारी से हरएक कुटुम्ब के यहाँ शाम को इकट्ठा होना, लड़की के विवाह के अवसर पर दहेज की पोशाकें सीने के लिए सायंकालिक पार्टियों का जमा होना, मकानात बनाने और फ़सल को काटकर घर के भीतर लेजाने के लिए अथवा अन्य किसी प्रकार के काम के लिए लोगों को निमन्त्रण देना, फ्रेंच और जर्मन दोनों भाषायें सीखने के लिए बच्चों को एक जिले से दूसरे जिले में भेजना आदि सब बातें बिल्कुल आम तौर पर प्रचलित

हैं। इसके अलावा कई आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति भी उसी सहयोग की भावना से कर ली जाती है। लेरस प्रजातंत्र में यद्यपि संकट के जमाने में अधिकांश अल्पाइन चरागाह वेचे जा चुके हैं, किन्तु पंचायते अब भी खेतों की ज़मीन ख़रीदती रहती है। इस प्रकार नई ख़रीदी हुई ज़मीन जब अलग व्यक्ति के अधिकार में दस, बीस या तीस वर्ष तक रह चुकती है तो वह उस ज़मीन को वापस पंचायत को लौटा देता है जो सब लोगो की आवश्यकताओ को ध्यान में रखकर फिर से बांट दी जाती है। जीवन की कुछ आवश्यकताये जैसे रोटी, पनीर, शराब आदि सम्मिलित प्रयत्नो द्वारा उपजाने के लिए, चाहे वह कितने ही मर्यादित परिमाण में क्यों न हो, अनेक छोटी-छोटी संस्थायें बनाई जाती है और कृषि-कार्य में सहयोग करने की प्रवृत्ति तो स्वीज़रलैंड में अत्यधिक सरलता के साथ फैली हुई है। वहाँ ऐसे संघ तो आये दिन बनते रहते हैं जिनमें दस से तीस तक किसान शामिल होते हैं। वे मिलकर चरागाह और खेत ख़रीदते हैं और मिलकर ही खेती करते हैं। दूध, मक्खन, पनीर की बिक्री के लिए पशुशालाओ का तो जहाँ-तहाँ संगठन किया जाता है। वास्तव में, स्वीज़रलैंड इस प्रकार के सहयोग का जन्मदाता है। इसके अतिरिक्त वहाँ हर एक प्रकार की आधुनिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने के उद्देश्य से स्थापित छोटी-बड़ी सभी क़िस्म की संस्थाओं के अध्ययन का बड़ा विस्तृत क्षेत्र मिलता है। स्वीज़रलैंड के कुछ भागों में क़रीब-क़रीब हर एक गाँव में हमें

बहुरंगी संस्थाओं की उत्पत्ति

अनेक संस्थाओं का अस्तित्व दिखाई देगा। आग से रक्षा करने, नावों की सैर करने, झील के किनारों पर उतरने के लिए ठीक स्थान बनाये रखने, पानी पहुँचाने आदि अनेक भिन्न-भिन्न कामों के लिए भिन्न-भिन्न संस्थायें बनाई जाती हैं। शिकारियो, तेज निशानेबाजों, भौगोलिकों, मार्ग-अन्वेषकों आदि की संस्थाओं का तो देश में जाल ही बिछा हुआ है। इन संस्थाओं की उत्पत्ति आधुनिक सैनिकवाद के कारण ही हुई है।

किन्तु युरोप में अकेले स्वीज़रलैंड में ही यह अवस्था नहीं है, फ्रांस, इटली, जर्मनी, डेन्मार्क आदि देशो के गांवों में भी वैसी ही संस्थायें और रीति-रिवाज मिलते हैं। हम अभी-अभी यह देख चुके हैं कि फ्रांस के शासकों ने ग्राम-पंचायतों को नष्ट करने और उनकी ज़मीनें हड़पने के लिए कैसे-कैसे प्रयत्न किये थे। यह सब कुछ होने पर भी कृषि-योग्य ज़मीन के एक दशमांश पर अर्थात् १३,५००,००० एकड़ ज़मीन पर सामुदायिक आधिपत्य बना हुआ है। इसमें देश के समस्त प्राकृतिक चरागाहों का एक अर्द्धांश और समस्त जंगलो का करीब एक पंचमांश भाग शामिल है। जंगलों से जनता को जलाने की लकड़ियां मिलती हैं और मकानात बनाने के लिए काम में आने वाली लकड़ियाँ ज्यादातर सम्मिलित श्रम-द्वारा पूरी नियमितता के साथ काटी जाती हैं। चरागाहों पर सर्व-साधारण के पशु मुफ्त में चर सकते हैं और फ्रांस के कुछ भागो में, उदाहरण के लिए अर्डिनेंस में, जो भी सामुदायिक खेत बचे हुए है उनका विभाजन और पुनर्विभाजन किया जाता है।

जीवन के लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त होने के इन अतिरिक्त साधनों का कृषि-कार्य करने वाले मजदूरो और तीन लाख छोटे-छोटे किसान दोनों के लिए निश्चय ही काफ़ी महत्त्व है। जब किसी वर्ष फसलें बिगड़ जाती हैं तो ग़रीब किसान इन साधनो की मदद से उस वर्ष को गुजार देते है, उन्हे अपनी जमीनें छोड़ने अथवा भारी कर्ज करने की नौबत नहीं आती। इसमें सन्देह ही है कि बिना इन अतिरिक्त साधनो के छोटे छोटे किसान अपना अस्तित्व क़ायम भी रख सकते है अथवा नहीं। जमीनों पर सामुदायिक अधिकार बहुत कम स्थानो मे रह गया है, यह ठीक है, किन्तु उसका नैतिक महत्व आर्थिक महत्व की अपेक्षा कहीं अधिक है। वह ग्राम्य जीवन में सहयोगात्मक रीति-रिवाजों का एक केन्द्र क़ायम रखता है। जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों पर व्यक्तियो का अलग-अलग अधिकार होने की दशा मे अन्ध व्यक्तिवाद और लोभ की प्रवृत्तियो का बड़ी आसानी से विकास होता है, किन्तु सहयोगात्मक रीति-रिवाजो का केन्द्र इस विकास को रोकने में बड़ी मदद देता है। देश के सभी भागो में पारस्परिक सहयोग दैनिक जीवन का एक अंग है, उसका ग्राम्य जीवन की सभी सम्भव परिस्थितियो मे व्यवहार होता है। आप कहीं भी चले जाइए आपको भिन्न-भिन्न नामो से आम रिवाज मिलेगा कि लोग अपने पड़ोसियों की निःशुल्क सहायता करते है। फ्रांसीसी ग्रामीण जीवन पर जिन-जिन लोगो ने लिखा है, क़रीब-क़रीब उन सब ने इस प्रकार की सहायता देने की प्रथा का उल्लेख किया है। मैंने एक मित्र को

श्रमिक का सहारा

इस विषय पर अपने अनुभव लिख भेजने को लिखा था। उस मित्र ने हाल ही में जो चिट्ठियाँ मुझे भेजी हैं, उनके कुछ अंश यहां देना शायद ठीक रहेगा। ये चिट्ठियां उस वृद्ध पुरुष ने लिखी हैं जो कई वर्षों से दक्षिण फ्रांस के एरिज नामक स्थान में मेयर का काम कर रहा है। उसने अपने कई वर्षों के व्यक्तिगत अन्वेषण के फलस्वरूप ये बातें लिखी हैं। उनका महत्व इसलिए भी अधिक हो जाता है कि विस्तृत क्षेत्र में यत्र-तत्र के बजाय एक संकुचित क्षेत्र से उनका चुनाव किया गया है। उनमें से कुछ नगण्य प्रतीत हो सकती है किन्तु कुल मिलाकर वे ग्राम्य-जीवन की बिल्कुल एक छोटी-सी दुनिया का परिचय कराती हैं। मेरा मित्र लिखता है—

सहयोग की प्रथा का अवशेष

"हमारे पड़ोस की कई सामुदायिक संस्थाओं में मिल कर काम करने का प्राचीन रिवाज अब भी प्रचलित है। जब कोई काम शीघ्रता-पूर्वक करने के लिए बहुत-से व्यक्तियों की आवश्यकता होती है तो उसके लिए पड़ोस के नवयुवकों को बुला लिया जाता है। युवक और युवतियों के झुण्ड के झुण्ड आते हैं और काम को हंसी-खुशी के रूप में परिणत कर देते हैं। इसके लिए वे किसी पुरस्कार की आशा नहीं रखते। सायंकाल का स्वादिष्ट खाना खा लेने के बाद वे प्रसन्न होकर नाचते हैं।

कुछ उदाहरण

"इन्हीं सामुदायिक संस्थाओं मे जब किसी लड़की का विवाह होता है तो दहेज के कपड़े सीने में मदद देने के लिए

पास-पड़ोस की लड़कियां आती हैं। कई समुदायों में तो स्त्रियां अब भी काफी मात्रा में कातती हुई मिलती हैं। जब किसी कुटुम्ब में सूत उधेड़ना होता है, तो इसके लिए एक रोज शाम को सभी मित्रों को बुला लिया जाता है। वे सब मिलकर इस काम को कर डालते हैं। एरिज और दक्षिण पश्चिम के अन्य भागों में भारतीय नाज के छिलके उतारने का काम भी आस-पास के सभी लोगों की सहायता से होता है। उन्हें फलाहार और सुधा-पान कराया जाता है। जब काम पूरा हो जाता है तो युवक नाचते हैं। अखरोटों का तेल निकालने और सन तैयार करने के अवसरों पर भी इसी रिवाज का अनुसरण किया जाता है। ल—नामक समुदाय में अनाज की फसल को घर पहुँचाने का काम उपर्युक्त प्रकार से ही होता है। कठोर परिश्रम के ये दिन ही वास्तव में त्यौहारों के दिन बन जाते हैं। कारण कि जिसके यहां काम करना होता है, वह मेहमानों को उत्तम भोजन कराने में अपने सम्मान की बाजी लगा देता है। काम की एवज में कोई पुरस्कार नहीं दिया जाता, सब एक-दूसरे के लिए काम कर देते है।×

"एस—नामक समुदाय में पशुओं के चरने की सामुदायिक भूमि में प्रति वर्ष वृद्धि की जाती है। इस प्रकार अब क़रीब-

× काकेशिया के जार्जियन लोगों में इस प्रकार के काम और भी बढ़िया ढग से किये जाते हैं। भोज में काफी खर्च करना होता है, जो गरीब आदमी आसानी से नहीं कर सकता। अत. जो पड़ोसी काम करने आते हैं, वे ही एक भेड़ खरीद कर साथ में लेते आते हैं।

क़रीब समुदाय की सभी जमीन पर समुदाय के सभी व्यक्तियों को सम्मिलित अधिकार है। पशुओं के मालिक जिनमें स्त्रियां भी शामिल होती हैं, मिलकर ग्वालों का चुनाव करते हैं। सांड़ समुदाय की सम्पत्ति माने जाते हैं।

"एम—नामक समुदाय में भेड़ों के चालीस से पचास छोटे-छोटे रेवड़ों का साथ-साथ पालन-पोषण किया जाता है। ऊँचे चरागाहों में भेजने के पूर्व उन्हे तीन-चार गिरोहो में विभक्त कर दिया जाता है। भेड़ों के मालिक बारी-बारी से एक-एक सप्ताह के लिए गडरिये का काम करते हैं।

"सी—नामक गांव में कई कुटुम्बों ने मिलकर नाज को बालियों से अलग करने की एक मशीन खरीदी है। इस मशीन पर काम करने के लिए १५ से २० आदमियों की आवश्यकता होती है। सब कुटुम्ब मिलकर ये आदमी देते हैं। ऐसी ही तीन मशीनें और खरीदी गई हैं। इन मशीनों को उनके मालिक किराये पर दे देते हैं, किन्तु उन पर भी काम बाहरी सहायकों-द्वारा ही होता है, जिन्हें उसी प्रचलित रिवाज के अनुसार निमन्त्रित किया जाता है।

"हमारे आर—नामक समुदाय में हमें अपने क़ब्रस्तान की दीवार ऊँची उठानी थी। चूना खरीदने और कुशल कारीगरो की मजदूरी के लिए जितने रुपये की आवश्यकता थी, उसमें से आधा तो जिले की कौंसिल ने दे दिया और आधा चन्दे-द्वारा इकट्ठा कर लिया गया। मिट्टी और पानी ले जाने, सीमेण्ट तैयार करने और कारीगरों को सामान इधर-उधर देने-दिलाने का काम

अकेले स्वयंसेवकों ने ही किया। गाँव की सड़कों की मरम्मत भी इसी तरह हुई। लोगों ने स्वेच्छा से थोड़े-थोड़े दिन काम कर दिया था। अन्य समुदायों में उन्होंने अपने चश्मे इसी प्रकार बनाये है। शराब निकालने का यंत्र और दूसरे छोटे-छोटे कल-पुर्जे आम तौर पर समुदाय ही रखता है।

उपर्युक्त क्षेत्र के पड़ोस में रहने वाले दो व्यक्तियों ने मेरे मित्र के प्रश्न करने पर यों कहा:—

"ओ—नामक समुदाय में पहले आटा पीसने की कोई चक्की नहीं थी। समुदाय संघ ने अपने सदस्यों पर कर लगाकर एक चक्की बना ली। धोखा-धड़ी और पक्षपात से बचने के लिए चक्की पर काम करनेवाले के सम्बन्ध में उन्होंने यह निश्चय किया कि हर रोटी खानेवाले के पीछे उसे दो फ्रांक दिये जायँ और ग़ल्ला मुफ़्त में पीस दिया जाय।

"सेंट जी—में अग्नि-दुर्घटना की सम्भावना को लेकर बहुत थोड़े किसानों ने बीमा करा रक्खा है। जब कभी किसी के यहाँ आग लग जाती है और उसका घर-बार नष्ट हो जाता है तो सब कुछ न कुछ उस पीड़ित कुटुम्ब को देते हैं और इस प्रकार एक छोटी-सी गृहस्थी फिर खड़ी हो जाती है। उसका मकान बनाने में सब पड़ोसी मदद देते हैं और जबतक मकान नहीं बन जाता, वे उसे मुफ्त में अपने यहाँ ठहरने को स्थान देते हैं।"

फ्रांस के किसी गाँव में जब किसानों में से किसी एक के पास ही जमीन को जातने के लिए घोड़ों की जोड़ियाँ, शराब निकालने का यंत्र और अनाज अलग करने की मशीन होती है

तो वहाँ के किसान उनका बारी-बारी से उपयोग करने में जिस सरलता के साथ आपस में सहयोग करते हैं। और साथ ही हर प्रकार के ग्रामीण कार्यों को जिस प्रकार सब लोग मिलकर पूरा करते हैं उसका कारण निश्चय ही ऊपर लिखी हुई पारस्परिक सहायता की प्रथायें हैं। ऐसी प्रथाओं के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अत्यन्त प्राचीनकाल से ग्राम्य-समुदायों ने नहरों को क़ायम रखा, जंगलों को साफ़ किया, वृक्ष लगाये और दलदलों को सुखाया है। ये काम आज भी उसी तरह हो रहे हैं। लोज़ेरे के ला बोरने नामक स्थान में जहाँ पहले बंजर पहाड़ियाँ थीं, वहाँ सामुदायिक परिश्रम से अब हरे-भरे बग़ीचे दिखाई देते हैं। यह अभी हाल ही की बात है। "आदमियो ने अपनी पीठ पर लादकर वहाँ मिट्टी पहुँचाई, सड़कें बनाईं, नानाभांति के वृक्ष लगाये और दो-तीन मील की दूरी से सिंचाई के लिए नहरों में पानी लाया गया।" अभी-अभी उन्होने ११ मील लम्बी एक नई नहर खोदी है।

कृषक-संस्थाओं को इधर पिछले दिनो जो विशेष सफलता मिली है, उसका कारण भी पारस्परिक सहयोग की वही भावना है। सन् १८४४ से पहले तक फ्रांस में १९ से अधिक व्यक्तियों की कोई संस्था नहीं बनने दी जाती थी। मुझे यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जब यह प्रतिबन्ध हटाया गया तो राज्य-कर्मचारियों ने उसके 'दुष्परिणामों' को रोकने के लिए हर प्रकार की सावधानी से काम लिय व्यवस्थापक सभा में उसे 'ख़तरनाक परीक्षण' कहा गया। यह सब कुछ होने पर भी फ्रांस में

लित हैं। वेस्टफेलिया, हेस्से और नसाड में काम-काज के लिए पास-पड़ोस के लोगों को बुलाने का आम रिवाज है। ऐसे प्रदेशो में जहां मकान बनाने की लकड़ी बहुतायत से होती है, नये मकान के लिए बहुधा सामुदायिक जंगल से ही लकड़ी लाई जाती है और मकान को बनाने में पड़ोस के सभी लोग शामिल होते हैं। फ्रांकफर्ट उपनगर के बाग़वानों में यह नियमित प्रथा है कि यदि उनमें से कोई बीमार पड़ जाता है तो दूसरे सब बागवान रविवार को उसके बाग़ में काम कर देते हैं।

फ्रांस की भांति जर्मनी में भी शासकों ने कृषक-संस्थाओं के विरुद्ध अपने क़ानूनों को ज्योंही सन् १८८४-८८ में रद्द किया, त्योंही उनकी संख्या आश्चर्यजनक तेजी के साथ बढ़ने लगी, हालांकि उनके मार्ग में हर प्रकार की क़ानूनी रुकावटें डाली गई थीं। बुचनबर्गर का कहना है कि हजारों ग्राम समुदायों में जहां पहले वैज्ञानिक खाद और असली घास को कोई पहचानता तक न था, वहाँ संस्थाओं के कारण दोनों ही चीजें नित्य प्रति काम में लाई जाने लगी हैं और वह भी इतने अधिक परिमाण में कि जिसका पहले किसी ने अनुमान भी न किया होगा। इन संस्थाओं के द्वारा हर प्रकार के खेती-सम्बन्धी औजार और यंत्र तथा पशुओं की उत्तम नस्लें खरीदी जाती हैं और उपज को बढ़िया बनाने के लिए तरह-तरह की व्यवस्थायें की जाती हैं। उपज को बेचने के लिए और साथ ही साथ जमीन की स्थायी उन्नति करने के लिए भी संस्थायें बनाई जाती हैं।

सामाजिक अर्थ-नीति की दृष्टि से निश्चय ही किसानों के ये सब प्रयत्न बहुत कम महत्व रखते है। उनसे किसानों का आर्थिक संकट जो युरोप में सर्वत्र विद्यमान है, आवश्यक परिमाण में दूर नहीं किया जा सकता। उनके सहारे स्थायी रूप से किसान उस संकट से मुक्त हो सकें, इसकी तो और भी कम आशा की जा सकती है। किन्तु नैतिक दृष्टि से, जिस पर हम अभी विचार कर रहे हैं, उन प्रयत्नों का महत्व कम नहीं आँका जा सकता। उनसे सिद्ध होता है कि वर्तमान असंयत व्यक्तिवाद की पद्धति में भी किसानी जनता पारस्परिक सहयोग की अपनी पैतृक सम्पत्ति को पवित्रतापूर्वक क़ायम रखती है और ज्योंही राज्य-संस्थायें अपने फौलादी क़ानूनों को ढीला करती हैं जिनके द्वारा कि उन्होने मनुष्यो के सभी पारस्परिक बन्धनो को तोड़ा है तो वे बन्धन अनेक राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक कठिनाइयों के होते हुए भी तुरन्त पुनः क़ायम हो जाते है और ऐसा स्वरूप ग्रहण करते हैं जो उत्पत्ति की आधुनिक आवश्यकताओं की भलीं-भांति पूर्ति कर सके। वे प्रयत्न यह बताते है कि किस दिशा में भावी उन्नति की आशा की जा सकती है।

मैं इटली, स्पेन, डेन्मार्क आदि देशो में पाये जाने वाले रिवाजो के इस प्रकार के अनेक ही उदाहरण आसानी के साथ दे सकता हूँ और उनकी कुछ मनोरंजक विशेषताये बता सकता हूँ जो हरएक देश में उसकी परिस्थिति-विशेष के अनुकूल अलग-अलग रूप मे मिलती हैं। आस्ट्रिया और बाल्कन प्रायद्वीप की स्ज़ेवोनिया आबादी का भी मुझे उल्लेख करना चाहिए, जिसमें

संयुक्त कुटुम्ब का रिवाज प्रचलित है। किन्तु मैं इन सबको छोड़कर रूस का उल्लेख करूँगा जहाँ पारम्परिक सहयोग की प्रवृत्ति नये और अकल्पित रूपों में प्रकट हुई है। इसके अतिरिक्त रूसी ग्राम-पंचायतों की चर्चा करने में यह बड़ी सुविधा है कि उनके सम्बन्ध में बहुत बड़े परिमाण में सामग्री उपलब्ध है। कई जिला-कौंसिलों ने हाल ही में विस्तृत पैमाने पर घर-घर जा कर जो जांच की थी उसके फल-स्वरूप उक्त सामग्री इकट्ठी हुई है। इस जांच के दायरे में देश के विभिन्न भागों में रहने वाले लगभग २ करोड़ किसान आ जाते हैं।

दो महत्वपूर्ण परिणाम

रूसी अन्वेषणों में जो प्रमाण इकट्ठे हुए हैं, उनसे दो महत्वपूर्ण परिणाम निकाले जा सकते हैं। मध्य रूस में एक-तिहाई किसान बिल्कुल बर्बाद हो चुके हैं। इस बर्बादी का कारण यह है कि उनसे बहुत अधिक कर वसूल किये जाते हैं और उनको जमीन के ऐसे छोटे-छोटे टुकड़े नसीब होते हैं जिनमें अच्छी पैदावार नहीं होती। उधर जमींदार अलग अन्धाधुन्ध लगान लेते हैं और फ़सल बिल्कुल नष्ट हो जाती है, उस दशा में भी बड़ी कड़ाई के साथ लगान वसूल किया जाता है। जिस समय गुलामों को मुक्त किया गया उसके बाद के प्रथम पच्चीस वर्षों में ग्राम-पंचायतों के भीतर जमीन को व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाने की ओर निश्चित प्रवृत्ति रही। अनेक दरिद्र किसानों ने, जिनके पास खेती के लिए घोड़े भी न बचे थे, अपनी जमीनों को त्याग दिया। ये जमीनें बहुधा उन धनी किसानों के क़ब्जे में चली गईं जो व्यापार से अथवा अन्य

स्थानों के व्यापारियों की मार्फ़त अतिरिक्त आमदनी करते है और मुख्यतया जमीन इसलिए खरीदते है कि गरीब किसानो से मनमाना लगान वसूल कर सकें। यहाँ यह भी कह दिया जाना चाहिए कि सन् १८६१ के जमीन के खरीदारी-सम्बन्धी क़ानून की एक त्रुटि के कारण बहुत कम ख़र्चे पर किसानो की जमीनें ख़रीदी जा सकती थीं। राज्याधिकारियो ने भी ज्यादातर अपना प्रभाव जमीन को सामुदायिक की अपेक्षा व्यक्तिगत बनाने मे ही ख़र्च किया। फिर भी गत बीस वर्षों से मध्य रूस के गांवो में जमीन को व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाये जाने का भारी विरोध हो रहा है और मध्यम स्थिति के किसान ग्राम-पंचायत के संगठन को क़ायम रखने के लिए भरपूर कोशिश कर रहे हैं। दक्षिण की उपजाऊ तराइयों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह युरोपीय रूस का सबसे घनी बस्ती वाला और धनी भाग है। ये तराइयां ज्यादातर व्यक्तिगत मिलकियत की पद्धति के अनुसार इसी शताब्दी में बसाई गई थीं। उस पद्धति का स्वरूप राज्य ने निश्चित किया था। किन्तु जब से इस क्षेत्र मे यन्त्रो की सहायता से कृषि के उन्नत उपाय जारी हुए हैं, किसानो ने अपनी व्यक्तिगत मिल्कियत को धीरे-धीरे सामुदायिक बनाना शुरू कर दिया है और अब रूस के इस धान्य से परिपूर्ण प्रदेश मे हाल ही में अपने आप स्थापित हुए अनेक ग्राम-समुदाय दिखाई देने लगे हैं।

क्रीमिया और उसके उत्तर में स्थित मुख्य प्रदेश का एक भाग अर्थात् तौरिदा का प्रान्त इस प्रगति का सबसे बढ़िया नमूना है।

प्रगति का एक नमूना

यहाँ के बारे में सामग्री भी हमारे पास ब्यौरेवार मौजूद है। सन् १७८३ में जब इस प्रदेश पर अधिकार जमाया गया, उसके बाद से बड़े, छोटे और सफ़ेद रूसी अर्थात् कोसेक, स्वतन्त्र लोग और भागे हुए गुलाम वहाँ आकर बसने लगे। ये अलग-अलग या छोटे-छोटे समूहों में रूस के सभी कोनों से आये। पहले तो उन्होंने पशु-पालन का काम हाथ में लिया और बाद में जब उन्होंने खेती करना शुरू किया, उस समय हरएक चाहे जितनी जमीन जोत सकता था। किन्तु नये लोगों का आना जारी रहा और उन्नत हल काम में लाये जाने लगे। इस कारण जमीन की माँग बहुत अधिक बढ़ी और उसके लिए बसने वालों में कटु झगड़े उठ खड़े हुए। झगड़े कई वर्षों बाद शान्त हुए। वही लोग, जो पहले किसी प्रकार के पारस्परिक बन्धनों में बँधे हुए नहीं थे, धीरे-धीरे यह मानने लगे कि सामुदायिक अधिकार की प्रथा जारी करके इन झगड़ों का खात्मा कर दिया जाना चाहिए। उन्होंने इस आशय का निश्चय किया कि जो जमीन अबतक व्यक्तिगत समझी जाती थी, वह आगे से सारे समुदाय की समझी जाय। उन्होंने ग्राम-पंचायतों के प्रचलित नियमों के अनुसार जमीन का विभाजन और पुनर्विभाजन करना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे इस आन्दोलन का बड़ा विस्तार हुआ और तौरिदा के अंक-संग्रहकर्ताओं को पता चला कि एक छोटे से प्रदेश में मुख्यतया सन् १८५५ से १८८५ के बीच के

सालों में १६१ गाँवों में व्यक्तिगत मिल्कियत के स्थान में वहाँ के वर्तमान मालिकों ने अपने आप सामुदायिक अधिकार की प्रथा प्रचलित कर दी। इस प्रकार इस प्रदेश में बस जानेवाले लोगों ने स्वतन्त्रतापूर्वक कई तरह के, ग्राम-पंचायतों के, नमूने स्थापित किये। इस परिवर्तन का महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि वह न केवल बड़े रूसियों में ही हुआ जो सामुदायिक जीवन के अभ्यासी हैं, बल्कि छोटे रूसियो में भी हुआ जो पोलिश शासन की अधीनता में अरसे से उस जीवन को भुला चुके थे। यूनानियों, बलगेरियनो और जर्मनो तक में यह परिवर्तन हुआ। इन लोगों ने भी अपनी वोलगा की समृद्ध और अर्द्ध-औद्योगिक बस्तियों में अपने ढंग की ग्राम-पंचायतें क़ायम कीं। यह तो प्रकट ही है कि तौरिदा के मुसलमान तारतारों में प्रचलित मुस्लिम क़ानून के अनुसार मर्यादित रूप में जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार माना जाता है, किन्तु उनमें भी कहीं-कहीं युरोपीय ग्राम-पंचायत पद्धति प्रवेश कर गई है। तौरिदा की दूसरी जातियों का जहाँ तक सम्बन्ध है, छः एस्थोनियन, दो यूनानी, दो बलगेरियन, एक जेक और एक जर्मन गाँव में जमीन पर से व्यक्तिगत अधिकार उठा दिया गया है।

दक्षिण की उपजाऊ तराइयो के समस्त प्रदेश में यह प्रगति व्याप्त है। किन्तु उसके अलग-अलग उदाहरण छोटे रूस में भी मिलते हैं। चेरनिगोव प्रान्त के कई गांवों में पहले किसानों का जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार था, अपनी-अपनी जमीन के लिए उनके पास अलग-अलग क़ानूनी दस्तावेज थे और वे इच्छानुसार

उसे लगान पर दे सकते थे अथवा बेच सकते थे। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से उनमें ज़मीन को सामुदायिक सम्पत्ति बनाने का आन्दोलन शुरू हुआ। उसके पक्ष में मुख्य कारण यह दिया जाता था कि दरिद्र कुटुम्बों की संख्या बहुत बढ़ती जा रही है। पहले एक गाँव ने सुधार की ओर क़दम बढ़ाया और दूसरे गाँवों ने उसका अनुकरण किया। अन्तिम उदाहरण सन् १८८२ का मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि ग़रीब और धनी किसानों में लड़ाइयाँ हुई, कारण कि ग़रीब आम तौर पर सामुदायिक अधिकार स्थापित करने का आग्रह करते थे और धनी व्यक्तिगत अधिकार को पसन्द करते थे। बहुधा ये लड़ाइयाँ कई वर्षों में जाकर समाप्त हुईं। कई स्थानों में उस समय क़ानून के अनुसार सब लोगो की सहमति प्राप्त कर सकना असम्भव-सा था। वहाँ एक गाँव दो भागो में विभक्त हो जाता था। एक भाग में ज़मीन व्यक्तिगत अधिकार मे और दूसरे में सामुदायिक अधिकार में रह जाती थी। यह स्थिति तबतक बनी रहती थी, जब तक दोनों भाग एक समुदाय में शामिल नहीं हो जाते थे, अन्यथा अन्त में गाँव विभाजित दशा में ही रहे। मध्य रूस के सम्बन्ध में यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि अनेक गांवों में जो पहले ज़मीन पर व्यक्तिगत अधिकार क़ायम रखने की ओर झुक रहे थे, सन् १८८० से ग्राम-समुदाय पुनः स्थापित करने का व्यापक आन्दोलन शुरू हुआ। यहाँ तक कि जो किसान वर्षो से व्यक्तिगत पद्धति का अनुसरण कर रहे थे, वे भी इकट्ठे के इकट्ठे सामुदायिक संस्थाओं की शरण में आ गये।

इस प्रकार ऐसे किसान काफी संख्या में मिलते हैं, जो पहले गुलामी में रह चुके हैं और जिन्हे जमीन के क़ानूनी विभाजन का केवल एक चौथाई हिस्सा ही मिला है। किन्तु जमीन के इस हिस्से के लिए उन्हे कोई मुआविजा नही देना पड़ा और वह उन्हें व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में मिला। इन किसानों में भी सन् १८९० मे अपनी-अपनी जमीनों को एक साथ मिलाने और ग्राम-पंचायत की पद्धति जारी करने के लिए व्यापक आन्दोलन हुआ। 'बेगारी किसान', जो सन् १८०३ के क़ानून के अनुसार गुलामी से मुक्त हुए थे और जिन्होंने अलग-अलग जमीन खरीदी थी, करीब-करीब सभी अब ग्राम-पंचायत पद्धति का अनुसरण कर रहे है! उसे उन्होने जारी भी अपने आप किया था। इन सब आन्दोलनो की हाल ही की उत्पत्ति है। रूसी लोगों के अलावा दूसरी कौम भी उनमें शामिल होती है। तिरसपोल जिले के बलगेरियनों ने ६० वर्ष तक व्यक्तिगत संपत्ति की पद्धति का अनुसरण कर चुकने के बाद सन्१८७६-८२ में ग्राम-पंचायतें क़ायम कीं। बरडियान्सक के जर्मन मेनोनाइट ग्राम-पंचायतें क़ायम करने के लिए सन् १८९० में लड़े, और जर्मन वेप्टिस्टों में से थोड़ी जमीनो वाले किसान इसी दिशा में अपने गाँवो में आन्दोलन कर रहे थे। एक उदाहरण और लीजिए। समारा प्रान्त में रूसी सरकार ने सन् १८४० मे परीक्षण के तौर पर व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार पर १०३ गाँव स्थापित किये। हर एक कुटुम्ब को १०५ एकड़ जमीन मिली। यह सम्पत्ति किसी तरह नगण्य न थी। किन्तु सन् १८९० में, इन १०३

गाँवों में से ७२ गाँवों के किसानों ने ग्राम-पंचायतें स्थापित करने की इच्छा प्रकट की। मैं ने ये सब अंक भी वी. वी. के उत्तम ग्रन्थ से संग्रह किये हैं, जिन्होंने उपर्युक्त जाँच में मालूम की गई बातों को केवल सिलसिलेवार लिख दिया है।

आजकल जो नैतिक सिद्धान्त प्रचलित हैं, उनके अनुसार यह माना जाता है कि सामुदायिक पद्धति पर थोड़ी जमीन पर अधिक उत्पत्तिवाली खेती नहीं हो सकती, इसलिए जमीन को सामुदायिक सम्पत्ति बनाने का यह आन्दोलन उन सिद्धान्तों के बिलकुल विपरीत जाता है। किन्तु इन आर्थिक सिद्धान्तों के बारे में सबसे अधिक उदार बात जो कही जा सकती है वह यह है कि उनके अनुसार कभा व्यवहार नहीं किया गया, वे केवल राजनैतिक कल्पनाओं से सम्बन्ध रखते हैं। इसके विपरीत जो प्रमाण हमारे सामने हैं, वे सिद्ध करते हैं कि जहाँ कहीं अनुकूल परिस्थितियाँ मिल जाने के कारण रूसी किसान सामान्यतः कम दुःखी हैं और जहाँ कहीं उन्हें अपने पड़ोसियो मे ज्ञान और सूक्त-वाले व्यक्ति मिल जाते हैं, वहीं कृषि और ग्राम्य जीवन में नाना प्रकार के सुधार जारी करने का सामुदायिक पद्धति एक मात्र साधन बन जाती है। अन्य स्थानों की भांति यहाँ भी जैसा कि निम्नलिखित उदाहरणों से पता चलेगा आपसी संघर्ष की अपेक्षा पारस्परिक सहयोग उन्नति का अधिक अच्छा मार्ग है।

सहयोग की भावना

निकोलस प्रथम के शासन में अनेक सरकारी कर्मचारी और गुलामो के मालिक गाँवों की जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों में सामुदायिक रूप से खेती करने के लिए किसानों को विवश किया करते थे । इस प्रकार जो उपज होती थी, उसमें से सम्मिलित खेती करने वाले दरिद्र किसानो को नाज उधार दिया जाता था और इसके बाद जो बच रहता, वह सामुदायिक संग्रहालयों मे जमा कर दिया जाता था । ज्योंही गुलामी की प्रथा उठाई गई, त्यों ही इस तरह से खेती करना भी बन्द कर दिया गया, कारण कि किसान समझते थे कि गुलामों के कष्टो और सम्मिलित खेती का घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु थोड़े समय पीछे उन्होने अपने-आप सामुदायिक खेती का आश्रय लेना शुरू कर दिया । एक जिले मे (ओस्ट्रोगोजस्क में) एक आदमी का इस ओर क़दम बढ़ाना उस जिले के चार पंचमांश—⅘—हिस्से के लोगो को उसी दिशा में प्रेरित करने के लिए काफी था । यही स्थिति दूसरे कई प्रदेशों में भी मिलती है । एक निश्चित तिथि को शामलात में खेती करने वाले सब किसान काम करने के लिए घर से बाहर निकलते हैं । जो धनी होते है, वे हल या गाड़ी साथ में लेते है और जो ग़रीब होते हैं, वे खाली हाथ ही जाते हैं, किन्तु हरएक के काम में भेद-भाव करने की कोई कोशिश नहीं की जाती । यह फ़सल बाद में या तो दरिद्र किसानों को उधार दे देने में या अनाथो, विधवाओं, गाँव के गिरजाघरो, स्कूलों आदि की सहायता मे खर्च की जाती है । सामुदायिक क़र्जा भी उसी मे से अदा किया जाता है ।

पद्धति के अनुकूल हो सके।

मास्को, टवेर, स्मोलेन्स्क, व्याटका और स्कोव के सैकड़ों ही गाँवों में अब यह पद्धति प्रचलित है। जहाँ जमीन उपलब्ध होती है वहाँ समुदाय अपनी मिल्कियत (जमीन) का कुछ हिस्सा फलदार वृक्ष लगाने के लिए मुकर्रर कर देते हैं। अन्त में यह सामुदायिक सहयोग का ही फल है कि अभी-अभी रूस में छोटे-छोटे आदर्श खेत, फल-फूल तथा शाक-भाजी के बगीचे और रेशम के कीड़े पालने के खेत एकाएक इतनी अधिक मात्रा में दिखाई देते हैं। ये सब पाठशाला के शिक्षक अथवा किसी ग्राम्य स्वयंसेवक की देखरेख में पाठशाला-भवन में जारी किये जाते हैं।

अन्य सुधार

इसके अलावा नालियाँ बनाने, सिचाई करने-जैसे स्थायी सुधार तो बहुधा हुआ ही करते हैं। उदाहरण के लिए मास्को प्रान्त के तीन जिलों में, जो एक बड़े हद तक औद्योगिक हैं, गत दस वर्षों में एक बड़े पैमाने पर नालियाँ बनाई गई हैं। कम से कम १८० से २०० विभिन्न गाँवों में यह काम हुआ होगा। ग्राम-वासियों ने फावड़े, कुदालियाँ लेकर स्वयं इस काम को पूरा किया। रूस के एक दूसरे कोने में यानी नोवोजेन की खुश्क तराइयों में ग्राम्य समुदायों ने तालाबों के लिए हजार से अधिक बाँध बाँधे और सौ गहरे कुएँ खोदे। इसी प्रकार दक्षिण-पूर्व की घनी जर्मन बस्ती में स्त्री और पुरुष दोनों ने सिंचाई के लिए दो मील लम्बा एक बाँध बाँधने के लिए लगातार पाँच सप्ताह तक काम किया। खुश्क आबहवा से पार पाने के लिए अलग-अलग यानी एकान्तिक जीवन बिताने

वाले लोग क्या कर सकते हैं ? जब दक्षिण रूस में प्लेग का दौरदौरा था और जमीन पर गुजर करने वाले सब लोगों को, चाहे वे धनी हों अथवा ग़रीब, सामुदायिक जीवन बिताते हों अथवा व्यक्तिगत, प्लेग को शान्त करने के लिए हाथो से परिश्रम करना पड़ता था, उस समय व्यक्तिगत प्रयत्नों से क्या हो सकता था ? पुलिस की मदद माँगने से कोई नतीजा नही निकल सकता था, उस समय तो सहयोग ही एक मात्र सम्भव उपाय था।

'सभ्य' देशों में किसान किस क़दर पारस्परिक सहयोग और सहायता से काम लेते हैं, उसके बारे में इतना अधिक कह चुकने के बाद आज मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मैं उन करोड़ो मनुष्यो के जीवन से उदाहरण दे कर एक बड़ी सारी पुस्तक लिख दे सकता हूँ जो कम या अधिक केन्द्रीभूत सरकारो की अधीनता मे रहते हैं, किन्तु जो आधुनिक सभ्यता और आधुनिक विचारो के संसर्ग में नही आये हैं। मैं एक तुर्की गांव के भारतीय जीवन तथा उस में फैले हुए पारस्परिक सहयोग के प्रशंसनीय रीति-रिवाजों का वर्णन भी लिख सकता हूँ। जब मैं अपनी पुस्तिकाओं के पन्ने उलटता हूँ, जिनमें काकेशिया के कृषक-जीवन संबन्धी उदाहरण भरे पड़े हैं, तो मुझे पारस्परिक सहयोग की हृदयस्पर्शी बातें मिलती हैं। मुझे अरब और अफ़ग़ानिस्तान की ग्राम-पंचायतो में, फारस, भारत और जावा के गाँवों में चीनियों के संयुक्त कुटुम्ब में, मध्य एशिया के और सुदूर उत्तर के पशु चरानेवालो की अस्थायी बस्तियो में वही रिवाज दृष्टिगोचर होते हैं। अफ्रिका-संबन्धी

अन्य देशों एव जातियों के उदाहरण

साहित्य में मैंने अपनी सूचना के लिए कभी-कभी जो सामग्री इकट्ठी की है, उसमें इस तरह के उदाहरण भरे पड़े हैं कि फ़सल को खेतों पर से घरों पर लिवा लेजाने के लिए लोगों को बुलाया जाता है, सब ग्राम-वासी मिलकर मकान बनाते हैं, दुर्घटना के अवसर पर सब लोग एक दूसरे को सहायता देते हैं, यात्रियों की रक्षा करते हैं, आदि-आदि सभ्य आक्रमणकारी जो तबाही ढाते हैं उसका परिमार्जन भी कभी-कभी इसी प्रकार सम्मिलित प्रयत्नो-द्वारा किया जाता है। और जब मैं अफ्रीका के परम्परागत क़ानून के पोस्ट-लिखित संक्षिप्त वर्णन को पढ़ता हूँ तो यह बात मेरी समझ में आजाती है कि हर प्रकार के अत्याचार और दमन, डकैतियों और धावों, जातीय युद्धों, मनुष्य-भक्षक राजाओं, धोखेबाज जादूगरों, पुजारियों, गुलामों के शिकारियों के होते हुए भी क्यों ये बस्तियां जंगलों में इधर-उधर नहीं चली गईं, क्यों कर उन्होंने एक विशेष प्रकार की सभ्यता को क़ायम रखा है और कैसे ये बोर्नियो और सुमात्रा के नष्ट होते जाने वाले वन-मानुषों के एकान्तिक कुटुम्बों की सतह तक न पहुँच कर मनुष्य बने रहे हैं। बात यह है कि गुलामों के शिकारी, हाथीदांत के लुटेरे, लड़ाकू राजा, इस दुनिया से गुजर जाते हैं और आग तथा रक्त-रंजित अपने चिन्ह पीछे छोड़ जाते हैं, किन्तु जाति और ग्राम-समुदाय में पैदा हुई पारस्परिक सहयोग की संस्थाओं और रीति-रिवाजों का मूल तत्त्व क़ायम रहता है, वह मनुष्यों को समाजों में संगठित रखता है। सभ्यता की प्रगति के लिए उनके द्वार खुले रखता है

यह तत्त्व स्थायी है

और उन्हें इस बात के लिए तैयार रखता है कि जब गोलियों के बजाय सभ्यता का स्वागत करने का अवसर आवे तो वे उसका स्वागत करें।

यही बात हमारे सभ्य संसार पर भी लागू होती है। प्राकृतिक और सामाजिक संकट बीत जाते है। सारी की सारी बस्तियाँ समय-समय पर दरिद्रता के सागर में डूब जाती हैं, भूखों मरने लगती हैं; लाखो आदमियों का जीवन-स्रोत ही सूख जाता है, उनकी स्थिति वैसी हो जाती है जैसी शहरी कंगालों की होती है; लाखों ही लोगों की बुद्धि और भावनायें उन शिक्षाओं के कारण पंगु हो जाती हैं जिनका लक्ष्य चन्द व्यक्तियों की हित-रक्षा करना होता है। निस्सन्देह यह हमारे जीवन का अंग है। फिर भी पारस्पारिक सहयोग की संस्थाओं, रीति-रिवाजों का मूल तत्त्व लाखो मनुष्यों में जीवित रहता है, वह उनको एक सूत्र में बाँधे रखता है। वे पारस्परिक संघर्ष की शिक्षाओं को स्वीकार करने की अपेक्षा अपने रिवाजो, विश्वासो और परम्पराओं का साथ देना अधिक पसन्द करते हैं। पारस्परिक संघर्ष की शिक्षायें विज्ञान के नाम पर दी जाती हैं, किन्तु वास्तव में उनका विज्ञान से कोई सम्बन्ध नही है।

[८]

वर्तमान समाज में पारस्परिक सहयोग

(उत्तरार्द्ध)

जब हम युरोप के गांवों की जनता के दैनिक जीवन का अध्ययन करते हैं तो हमें पता चलता है कि आधुनिक राज्यों में गाँवों के सामुदायिक संगठन को तोड़ने के लिए हर प्रकार की चेष्टायें होने पर भी किसानों का जीवन पारस्परिक सहयोग और सहायता के रीति-रिवाजों से सना हुआ है; जमीन पर सामुदायिक अधिकार के महत्वपूर्ण चिन्ह अब भी विद्यमान हैं और हाल में ज्योंही ग्राम्य संस्थाओं के माँग की क़ानूनी रुकावटें हटाई गईं, त्योंही किसानों में हर प्रकार के आर्थिक कार्यों के लिए स्वतन्त्र संघों का जाल बिछ गया है। नवजात आन्दोलन की चेष्टा प्राचीन ग्राम-पंचायत जैसे ही कोई नये संगठन की रचना है। पिछले अध्याय में हम इन्हीं परिणामों पर पहुँचे हैं। अब हमें यह सोचना है कि इस समय औद्योगिक आबादियों में पारस्परिक सहयोग के लिए कैसी संस्थायें मिल सकती हैं

गत तीन सौ वर्षों में गाँवों की भांति क़स्बों में भी पारस्परिक सहयोग की संस्थाओं को विपरीत परिस्थितियों का सामना करना पड़ा है। निस्सन्देह यह किसी से छिपा नहीं है कि जब सोलहवीं शताब्दी में बढ़ते हुए सैनिक राज्यों ने मध्यकालिक नगरों को अपने अधीन कर लिया तो वे सब संस्थायें बलपूर्वक नष्ट कर दी गईं जो कारीगरों, कला-विशेषज्ञों और व्यापारियो को व्यवसाय-संघों और नगरों में संगठित रखती थीं। व्यवसाय-संघ और नगर-संघ दोनो की अपने क्षेत्र में स्वयं व्यवस्था करने और न्याय करने की स्वतन्त्रता छीन ली गई, व्यवसाय-संघ के सदस्यों में आपस में एक-दूसरे का साथ देने की शपथ लेना राज्य के प्रति विद्रोह का कार्य माना जाने लगा; व्यवसाय-संघो की सम्पत्ति उसी प्रकार जब्त कर ली गई जिस प्रकार कि ग्राम-पंचायतों की जमीन जब्त की गई थी और हरएक व्यवसाय का भीतरी और यान्त्रिक संगठन राज्य-संस्था ने अपने हाथ में ले लिया। कारीगर किसी भी रूप में संगठित न हो सकें, इसके लिए क़ानून बनाये गये, जिनकी कड़ाई धीरे-धीरे बढ़ती गई। थोड़े समय तक प्राचीन व्यवसाय-संघो को किसी न किसी रूप में अपना अस्तित्व क़ायम रखने दिया गया। व्यापारियो के संघ इस शर्त पर बने रहने दिये गये कि वे राजाओ को निश्चित रक़म देते रहें और कुछ दस्तकारों के संघ राजकीय संस्थाओ के रूप में जीवित रखे गये। उनमे से कुछ अब भी अपना अर्थ-शून्य जीवन बिता रहे हैं। किन्तु जो संस्था पहले मध्यकालिक जीवन और व्यव-

विपरीत परिस्थिति के बीच

साय की अत्यन्त आवश्यक शक्ति थी, वह केन्द्रीभूत सरकार के भारी बोझे के नीचे, बहुत अर्सा हुआ लुप्त हो चुकी है।

ब्रिटेन आधुनिक राज्यों की औद्योगिक नीति का सब से अच्छा उदाहरण है। वहाँ १५ वीं शताब्दी से ही पार्लियामेण्ट ने व्यवसाय-संघों का नाश करना शुरू कर दिया था किन्तु इसके लिए विशेष रूप से आगामी शताब्दी में निश्चयात्मक साधन इख्तियार किये गये। टोलमिन स्मिथ ने लिखा है कि हेनरी आठवें ने न केवल व्यवसाय-संघों के संघटन को ही बर्बाद किया, बल्कि उनकी सम्पत्ति भी जब्त कर ली। पादरियों की जायदाद जब्त करने के लिए उसने जो कारण बताये, और तरीक़े निकाले, व्यवसाय-संघों की जायदाद जब्त करते समय उसने उतना भी नहीं किया। एडवर्ड छठें ने हेनरी आठवें के इस काम को पूरा किया और सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में व्यापारियों और कारीगरों के बीच के सब झगड़े पार्लियामेंट निबटाने लगी जो पहले हरएक नगर में अलग-अलग फ़ैसल होते थे। पार्लियामेण्ट और बादशाह इस प्रकार के सभी झगड़ों के सम्बन्ध में न केवल क़ानून ही बनाने लगे, बल्कि निर्यात् में बादशाह के हितों को ध्यान में रखते हुए शीघ्र ही हरएक व्यवसाय में काम सीखने वालों की संख्या भी निश्चित करने लगे तथा हर एक वस्तु की बनावट-सम्बन्धी बड़ी से बड़ी बातों का सूक्ष्म रूप से नियमन करने लगे। उदाहरण के लिए कपड़े के थान में कितना वजन हो, एक गज कपड़े में सूत के कितने तार हों आदि का वे ही निश्चय करते थे। किन्तु यह कहना पड़ेगा कि

ब्रिटेन में

इसमें उन्हे बहुत सफलता नहीं मिली। इसका कारण यह था कि पहले एक-दूसरे पर आश्रित व्यवसाय-संघों और एक दूसरे से सम्बन्धित नगरों ने आपसी समझौतों-द्वारा लगातार शताब्दियों तक जिन संघर्षों और यांत्रिक कठिनाइयो की व्यवस्था की थी, वह व्यवस्था कर सकना केन्द्रीभूत सरकार की शक्ति के के सर्वथा बाहर की बात थी। राज्यकर्मचारियों के लगातार हस्तक्षेप ने व्यवसायो को पगु बना दिया, बहुत से व्यवसाय तो बिल्कुल ही बर्बाद हो गये। गत शताब्दी के अर्थशास्त्रियो ने राज्य-द्वारा उद्योग-धन्धों के नियमन करने के विरोध मे जब अपनी आवाज उठाई तो उन्होने केवल उस असन्तोष को ही प्रकट किया जो सर्वव्यापक हो रहा था। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने जब इस हस्तक्षेप का खात्मा किया तो उसका इस तरह स्वागत किया गया जैसे किसी मुक्ति दिलाने वाले कार्य का किया जाता है। अन्य स्थानो मे भी शीघ्र ही फ्रांस के उदाहरण का अनुसरण किया गया।

मजदूरी के नियमन की असफल चेष्टा

मजदूरी के नियमन मे भी राज्य को इससे अधिक सफलता नही मिली। १५ वी शताब्दी में, मध्यकालिक नगरों में जब मालिको और काम सीखने वाले मजदूरों अथवा कारीगरों के बीच का भेद अधिकाधिक स्पष्ट हुआ, उस समय काम सीखने वाले मजदूरों के संघ मालिको और व्यापारियो के संघो के विरुद्ध हो गये। काम करने वाले मजदूरों के इन संघो का कभी-कभी तो अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप हो जाता था। अब राज्य ने इन संघों की

शिकायतों को निपटाने का काम अपने हाथ में लिया और सन् १५६३ के एलिजाबेथीय क़ानून के अनुसार न्यायाधीश (Justices of Peace) को इस तरह मजदूरी निश्चित करनी पड़ती थी कि जिससे काम सीखने वाले मजदूरों और कारीगरों के लिए सुविधा-जनक जीवन को गारण्टी हो सके किन्तु ये न्याया-धीश विरोधी स्वार्थों में सामंजस्य स्थापित करने में असफल सिद्ध हुए, अपने निर्णयों के अनुसार मालिकों से अमल करवाने में तो उन्हे और भी कम सफलता मिली। अतः उक्त क़ानून धीरे-धीरे मुर्दा (अर्थहीन) क़ानून वन गया और १८ वीं शताब्दी के अखीरमें वह रद्द कर दिया गया। किन्तु इस प्रकार जहाँ एक ओर राज्य ने मजदूरी के नियमन का कार्य त्याग दिया, वहाँ दूसरी ओर उसने मजदूरों और कारीगरों के उन सभी संघों को कड़ाई के साथ दवाने का काम जारी रक्खा जो मजदूरी में वृद्धि कराने अथवा उसको एक निश्चित मात्रा में स्थिर रखने के उद्देश्य से वनते थे। १८ वीं सदी में शुरू से लगाकर अखीर तक मजदूर-संघो के विरुद्ध उसने क़ानून बनाये और सन् १७९९ में तो उसने इस सम्वन्ध के हर क़िस्म के संगठन को कड़ा दण्ड देने की धमकी के साथ रोक दिया। वास्तव में ब्रिटिश पार्लियामेंएट ने इस झमेले में फ्रांस की क्रान्तिकारिणी परिषद् का अनुसरण किया जिसने मजदूरों के पारस्परिक सम्मिलन के खिलाफ अत्यंत कड़ा क़ानून जारी किया था। कुछ थोड़े से नागरिकों का सम्मि-लन भी राज्य की उस सर्वोपरि सत्ता का विरोधी प्रयत्न समझा गया,जिसका कि समस्त प्रजाजनों का समान रूप से रक्षण करना

कर्त्तव्य माना जाता था। इस प्रकार मध्यकालिक संघो के विनाश का कार्य पूर्ण रूप से सम्पादित हुआ। गाँवों और क़स्बों दोनों ही जगह के व्यक्तियो के असंगठित समुदायो पर राज्य का शासन होने लगा। यदि वे आपस में किसी भी प्रकार का स्वतन्त्र संगठन फिर से बनाने की कोशिश करते, तो राज्य उसके विरुद्ध कड़े उपायों का आश्रय लेने के लिए सदा तत्पर रहता था। ये थी वे परिस्थितियाँ, जिनके बीच से पारस्परिक सहयोग की प्रवृत्ति को १९ वी शताब्दी में अपना रास्ता तय करना पड़ा

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सब उपाय इस प्रवृत्ति को नष्ट नही कर सके। सारी १८ वीं शताब्दी में मजदूरों के संघ बराबर बनते रहे। सन् १७९७ और १७९९ के क़ानूनों के अनुसार जो निर्दयतापूर्ण मुक़दमे चले, वे भी उनका बनना न रोक सकें। देख-भाल में कोई त्रुटि होती, अथवा मजदूर-संघों के खिलाफ़ मालिक लोग कोई कार्रवाई करने में देर करते कि झट उसका लाभ उठा लिया जाता। मैत्रीपूर्ण संस्थाओं, अंत्येष्टि क्रिया-क्लबो अथवा गुप्त भ्रातृ-संघो की ओट मे कपड़ो के व्यवसायियों मे, शेफील्ड के चाकूफरोशो में, खनिकों में, मजदूर-संघों का विस्तार हुआ और हड़तालों और मुकदमो के दौरान मे शाखा-संघो को सहायता देने के लिए जोरदार संयुक्त संगठन क़ायम ए।

सन् १८२५ से संगठन-विरोधी क़ानूनों के रद्द होने पर मजदूर संघों के आन्दोलन को एक नई प्रेरणा मिली। सभी व्यवसायों में संघों और संयुक्त संघों की स्थापना हुई और जब राबर्ट ओवन ने अपना महान् राष्ट्रीय व्यवसाय-संघ जारी किया तो थोड़े ही महीनों में उसके कोई पांच लाख सदस्य हो गये। यह सही है कि अपेक्षाकृत स्वतंत्रता का यह काल अधिक अर्से तक न बना रहा। सन् १८३० से फिर नये सिरे से मजदूर-संघों के खिलाफ़ मुक़द्दमे चले और उसके बाद सन् १८३२-४४ में भीषण सजायें दी गईं जो इतिहास में भलीभाँति प्रसिद्ध हैं। महान राष्ट्रीय व्यवसाय-संघ तोड़ दिया गया और सारे देश में कारखानेदार और सरकार दोनों ही अपने-अपने कारखानों में मजदूरों को इस बात के लिए विवश करने लगे कि वे मजदूर-संघों के साथ कोई सम्बन्ध न रक्खें और इसी आशय का प्रतिज्ञा-पत्र लिख दें। मजदूर-संघों के सदस्यों के समूहों के समूहों पर 'मालिक और नौकर क़ानून' के अनुसार मुक़दमे चलाये गये। मालिक की दुर्व्यवहार की शिकायत मात्र पर मजदूरों को तुरन्त गिरफ्तार कर के सजा ठोक दी जाती थी; हड़तालों का स्वेच्छाचारितापूर्ण ढंग से दमन किया गया हड़ताली दङ्गों को दबाने के लिए सैनिक बल के प्रयोग का अथवा बार-बार होने वाले हिंसात्मक कृत्यों के परिणाम-स्वरूप दी जाने वाली सजाओं का तो जिक्र ही क्या, केवल हड़ताल करने का निश्चय प्रकट करने अथवा उसमें प्रतिनिधि का काम करने मात्र पर अत्यन्त आश्चर्यजनक सजायें दी गईं। ऐसी परिस्थितियों में

नवीन प्रेरणा

पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्त पर अमल करना कोई सरल काम न था। हम इस समय उन सब बाधाओं की ठीक-ठीक कल्पना नहीं कर सकते, जिनका मजदूर-संघों को सामना करना पड़ा। फिर भी सन् १८४१ मे इन संघों का पुनः निर्माण प्रारम्भ हुआ और तब से मजदूरों का सगठन के सूत्र में बँधना दृढ़ता-पूर्वक जारी रहा। मजदूरो ने एक दीर्घकालिक लड़ाई के बाद संगठित होने का अधिकार प्राप्त किया। यह लड़ाई सौ वर्ष से भी अधिक चली। इस प्रकार सन् १९०२ में नियमित रूप से काम करने वाले मजदूरो का क़रीब एक चौथाई भाग अर्थात् लगभग १५ लाख मजदूर व्यवसाय-संघों के सदस्य बन गये थे।

अन्य युरोपीय राष्ट्रों के सम्बन्ध मे इतना ही कह देना काफी होगा कि थोड़े अर्से पहले तक किसी भी प्रकार का मजदूर-संघ क़ायम करना षड्यन्त्र करने के समान माना जाता था और उसके खिलाफ मुक़दमा चलाया जाता था। किन्तु यह सब कुछ होने पर भी सर्वत्र मजदूर-संघों का अस्तित्व क़ायम रहा, चाहे उन्हे बहुधा गुप्त-संस्थाओं का स्वरूप ही क्यो न इख्तियार करना पड़ा हो। मजदूर-संगठनों, विशेषतः अमेरिका के संयुक्त राज्यों व बेल्जियम के श्रमिक-संघों के विस्तार और उनकी ताक़त का परिचय तो सन् १८९० से १९०० तक की हड़तालों से काफी मिल जाता है। यह बात भी ध्यान में रखना चाहिए कि किसी मजदूर-संघ का सदस्य होने मे मुक़द्दमे-बाजी के अलावा रुपया समय और निःशुल्क श्रम के रूप में काफी त्याग करना पड़ता है और नौकरी से अलग होने का सदा

मजदूरों की कठिनाइयाँ

खतरा बना रहता है। इसके अतिरिक्त हड़ताल एक ऐसी चीज़ है जिसका मज़दूर-संघ के सदस्यों को बराबर सामना करना पड़ता है और हड़ताल की भयोत्पादक वास्तविकता यह है कि मोदी और साहूकार के यहाँ मज़दूर-कुटुम्ब की साख जल्दी ही उठ जाती है। हड़ताल के दिनो में मिलने वाला वेतन क्षुधा-निवारण के लिए भी काफी नहीं होता और बच्चों के चेहरो पर भूख के चिन्ह दिखने लगते हैं। जो मज़दूरों के निकट सम्पर्क में रहता है, वही जानता है कि दीर्घकालिक हड़ताल कितना हृदयद्रावक दृश्य नेत्रों के सम्मुख उपस्थित कर देती है। इस देश (इंग्लैण्ड) में चालीस वर्ष पहले हड़ताल करने के क्या परिणाम होते थे और युरोप के कुछ धनी भागों को छोड़कर शेष सब जगह आज भी क्या परिणाम होते हैं, इसकी आसानी से कल्पना की जा सकती है। आज भी हड़ताल के फल-स्वरूप जहाँ एक ओर सारी की सारी आबादी बिल्कुल तबाह हो जाती है और दूसरी जगह जाकर बस जाती है, वहां दूसरी ओर युरोप में थोड़ी-सी उत्तेजना पर अथवा बिना किसी उत्तेजना के भी हड़तालियों को गोलियों से भून देना बिल्कुल साधारण-सी बात है।

सहयोग की भावना

फिर भी युरोप और अमेरिका में हर साल हज़ारों हड़तालें होती रहती हैं। सब से अधिक कठोर और दीर्घकालिक संघर्ष आम तौर पर सहानुभूति-सूचक हड़तालों के रूप में प्रकट होता है। ये हड़तालें अपने बेकार मजदूर भाइयो की सहायता करने अथवा मज़दूर-संघों के अधिकार क़ायम रखने के लिए होती हैं। यद्यपि कुछ समाचार-

पत्र सदा हड़तालो को एक प्रकार की धमकी बताने की चेष्टा करते हैं, किन्तु जो लोग हड़तालियो के बीच में रहे हैं, उन्होंने हड़तालियों के पारस्परिक सहयोग और सहायता की तारीफ़ की है। लन्दन के बन्दरगाही मजदूरो की हड़ताल के जमाने में मज़-दूर स्वयंसेवकों ने पीड़ितो को सहायता पहुँचाने का बड़ा भारी काम किया; खनिक कई सप्ताह बेकार रहे, किन्तु जब वे काम पर गये तो उन्होने प्रति सप्ताह चार शिलिङ्ग हड़ताल-कोष मे जमा कराये; सन् १८९४ के यार्कशायर श्रमिक-युद्ध के समय एक खनिक विधवा ने अपने पति की जीवन भर की कमाई हड़-ताल-कोष में दे डाली; रेडस्टोक के खनिकों के अधिकार में शाक-भाजी के बड़े-बड़े बग़ीचे थे, अतः उन्होने ब्रिस्टल के चार सौ खनिकों को गोबी, आलू आदि चीजें खाने के लिए निमन्त्रित किया-इन बातों को कौन नहीं जानता? सन् १८९२ में, यार्कशायर के खनिकों की व्यापक हड़ताल के समय इस प्रकार के ढेरों उदाहरण सभी सामाचारपत्र-संवाददाताओं को विदित हुए थे, किन्तु उनमें से सभी ने ऐसी 'असगत' बातों की रिपोर्ट अपने-अपने समाचारपत्रो को नहीं भेजी।

किन्तु केवल मज़दूर-संघो द्वारा ही मजदूरों की पारस्परिक सहयोग की प्रवृत्ति का प्रदर्शन नही होता है। इनके अलावा राजनैतिक संस्थाये भी है जिनकी हलचलो को बहुत से मजदूर व्यावसायिक संघों की अपेक्षा सामुदायिक भलाई के लिए अधिक उपयोगी समझते हैं, कारण कि व्यवसाय-संघों का उद्देश्य मर्या-दित होता है। निश्चय ही, किसी राजनैतिक संस्था का सदस्य

हो जाना ही पारस्परिक सहयोग की प्रवृत्ति का प्रदर्शन नहीं माना जा सकता। हम सब जानते हैं कि राजनीति एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें समाज के बिल्कुल अहम्मन्य तत्त्व परोपकारी आकांक्षाओं के साथ इस तरह मिल जाते हैं कि उनको एक दूसरे से अलग करना अत्यन्त कठिन होता है। किन्तु प्रत्येक अनुभवी राजनीतिज्ञ जानता है कि सभी राजनैतिक हलचलें व्यापक और बहुधा दूरवर्ती कारणों को लेकर चलाई गई और इन हलचलों में वे ही सब से अधिक शक्तिशाली बनीं जो सब से अधिक निःस्वार्थ उत्साह पैदा कर सकीं। सभी बड़ी ऐतिहासिक हलचलों का यह स्वरूप रहा है और आधुनिक युग में समाजवाद की गणना भी उसी श्रेणी में की जा सकती है। निस्सन्देह जो लोग उसके (समाजवाद) विषय में कुछ जानते नहीं हैं, उनका 'वेतन-भोगी आन्दोलक' प्रिय सङ्गीत है। वे सच्चे सेवकों को इसी नाम से पुकारते हैं। किन्तु सच्चाई तो यह है—मैं उसी का जिक्र कर रहा हूँ जिसका मुझे व्यक्तिगत अनुभव है—कि यदि मैंने पिछले चौबीस वर्षों की डायरी रक्खी होती और समाजवादी आन्दोलन में मुझे जो एकनिष्ठा और त्याग देखने को मिला इसका मैं अपनी डायरी में उल्लेख करता तो उस डायरी के पाठक की जबान पर 'बहादुरी' शब्द सदा बना रहता। किन्तु जिन व्यक्तियों का मैंने जिक्र किया होता, वे बहादुर न थे, वे सामान्य व्यक्ति थे, जिन्हें विशाल विचार ने प्रेरित किया था। अकेले युरोप में ही सैकड़ों समाजवादी समाचारपत्र हैं। इनमें से प्रत्येक समाचारपत्र ने बिना

समाजवादियों का त्याग

किसी पुरस्कार की आशा के वर्षों त्याग का जीवन बिताया है, अधिकांश समाचारपत्रों के जीवन में तो व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा तक को स्थान न मिला। मैंने ऐसे कुटुम्ब देखे हैं जिन्हें यह भी पता न होता था कि कल वे क्या खायेंगे, समाचारपत्र में भाग लेने के कारण एक छोटे-से क़स्बे मे पति का चारों ओर से बहिष्कार हुआ, पत्नी ने सीने का काम करके कुटुम्ब का निर्वाह किया—वर्षों ऐसी अवस्था रही, अन्त मे उस कुटुम्ब को काम से हट जाना पड़ा पर आत्म-ताड़ना का एक शब्द भी उसके मुँह से न निकला। उसने केवल यही कहा —"काम को जारी रक्खो, हम में डटे रहने का अब सामर्थ्य नहीं रहा है।" मैंने आदमियों को तपेदिक़ से मौत के शिकार होते हुए देखा है। यह जानते हुए भी कि तन्दुरुस्ती जवाब दे चुकी है वे मृत्यु के कुछ ही सप्ताह पहले तक बर्फ और कुहरे में भटके, उन्होंने सभाओं की योजना की और उनमें भाषण दिये और अख़ीर में यह कहते हुए अस्पताल में जा पड़े—"मित्रो, अब शक्तिहीन हो गया, डाक्टरों का कहना है कि मुझे कुछ सप्ताह इस दुनिया में और रहना है। साथियों से कहना कि यदि वे मुझसे मिलने आवेंगे तो मैं सुखी होऊँगा।" मैंने ऐसी घटनायें देखी हैं जिनका यदि मैं यहाँ जिक्र करूँ तो लोग कहने लगेंगे कि मामूली घटनाओं को आदर्श रूप दे दिया गया है। मित्रों के सकुचित दायरे के बाहर मुश्किल से उन व्यक्तियों का कोई नाम भी जानता होगा और जब ये मित्र भी इस दुनिया से चल बसेंगे तो उसके साथ-साथ उन स्वार्थ-त्यागी आत्माओं का नाम भी सदा के लिए लुप्त हो जायगा। वास्तव में, मैं स्वयं

नहीं जानता कि मैं किसकी अधिक प्रशंसा करूँ—इन थोड़े से लोगो की असीम एकनिष्ठा की, अथवा जन-साधारण की एकनिष्ठा के द्वारा होने वाले छोटे-छोटे कार्यों के सामुदायिक फल की। किसी समाजवादी व्यक्ति के चुनाव के प्रसंग पर हर एक अखबार के पुलिंदे की विक्री, हर एक सभा की आयोजना और हर सौ वोटो (मतो) की प्राप्ति मे कितनी शक्ति खर्च करनी पड़ती है, कितनी कुर्बानी करनी पड़ती है, इसकी कोई बाहरी व्यक्ति ठीक-ठीक कल्पना नहीं कर सकता। समाजवादी आज जो कुछ कर रहे हैं, वही भूतकाल मे राजनैतिक हो या धार्मिक हरएक प्रगतिशील और लोक-हितैषी दल को करना पड़ा है। भूत काल में जो भी प्रगति हुई है, उसके मूल मे ऐसे ही आदमियो ने और ऐसी ही एकनिष्ठा ने काम किया है।

खास कर ब्रिटेन में सहयोग को बहुधा संयुक्त व्यक्तिवाद के नाम से पुकारा जाता है। इस समय उसका रूप है भी ऐसा ही, अतः वह निश्चित रूप से न केवल सारे समुदाय के प्रति, बल्कि एक संगठन के भीतर सहयोग के सिद्धान्तानुसार आचरण करने वालों मे सहयोगात्मक अहम्मन्यता को जन्म देता है। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पारस्परिक सहयोग इस आन्दोलन का आवश्यक लक्षण था। आज भी उसके अत्यन्त उत्साही संचालकों का विश्वास है कि सहयोग मनुष्य जाति को आर्थिक सम्बन्धों की उच्चतर शान्तिपूर्ण स्थिति की ओर ले जाने वाला है और यही अनुभव उत्तरीय देशो के सहयोग-केन्द्रो मे थोड़े दिन रहने

आवश्यक लक्षण

पर भी हुए बिना नहीं रहता। यदि यह विश्वास ही चला गया तो उनमें से अधिकांश की इस आन्दोलन मे दिलचस्पी ही न रह जायगी और यह स्वीकार करना होगा कि गत कुछ वर्षों से सहयोगियो में सार्वत्रिक भलाई और माल पैदा करने वालों की एकता के व्यापक आदर्शों का प्रचार होने लगा है। अब सह-योग—समितियो के कारखानों के मालिको और मजदूरो में अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने की ओर निश्चित रूप से प्रवृत्ति हो रही है।

सहयोग सस्थाओं की व्यापकता

इस देश में, हालैण्ड और डेन्मार्क में सहयोग का कितना महत्व है, यह सब जानते है। जर्मनी में और विशेषतः राइन प्रदेश में सहयोग-संस्थायें औद्योगिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग बन चुकी हैं। किन्तु रूस में हमें सहयोग की प्रवृत्तियो का विभिन्न रूपों में अध्ययन करने का सबसे अच्छा क्षेत्र मिलता है। रूस में इनकी स्वाभाविक वृद्धि हुई है, ये मध्ययुग की वर्तमान युग को देन है और यद्यपि नियमित रूप से स्थापित सहयोग-संस्था को अनेक क़ानूनी कठिनाइयो और सरकारी शङ्काओ का सामना करना पड़ता है, किन्तु अनियमित सहयोग तो रूसी कृषक-जीवन का मुख्य तत्त्व ही वना हुआ है। 'रूसनिर्माण' और साइबेरिया को बसाने का इतिहास शिकारी और व्यवसायी संघो का इतिहास है। इन संघो के पीछे-पीछे ग्राम समुदाय वने और इस समय हमें सर्वत्र सहयोग-संस्थायें मिलती हैं। एक ही गांव से जाकर किसी कारखाने मे काम करने वाले मजदूरो के दस से

पचास तक के गिरोह में, सभी इमारती व्यवसाय में, मछुओं और शिकारियो में, साइबेरिया जाने और वहाँ रहने वाले कैदियो में, रेलवे के कुलियो में, माल इधर-उधर ले जाने वालो में, चुङ्गीघर के मजदूरों मे, ग्राम-उद्योगो मे जहां ७० लाख आदमी काम करते है-श्रमिक दुनिया में नीचे से लगाकर ऊपर तक सर्वत्र स्थायी और अस्थायी सहयोग-संस्थायें मिलेंगी जो हर सम्भव दशा में माल खपाने और पैदा करने का काम करती है। अब तक केस्पियन समुद्र की सहायक नदियो में मछली पकड़ने की बहुत-सी जगहो पर अनेक संघों का अधिकार है, यूरल नदी पर सारे यूराली कज्जाको का क़ब्जा है जो मछली पकड़ने की जगहों को गाँवो के बीच में विभाजित और पुनर्विभाजित करते रहते है। उनके इस काम में अधिकारी कुछ भी हस्तक्षेप नही करते। यूरल, वोल्गा, और उत्तरी रूस की सभी झीलो मे मछली पकड़ने का काम हमेशा सहयोग-संस्थाओं द्वारा होता है। इन स्थायी संघों के अलावा हरएक ख़ास-ख़ास काम के लिए असंख्य अस्थायी संघ विद्यमान है। जब दस या बीस किसान किसी स्थान-विशेष से एक बड़े क़स्बे में बुनने का, खाती का, इमारत बनाने का, नाव बनाने आदि का काम करने जाते हैं तो वे सदा एक संघ बना लेते है। वे कमरे किराये पर लेते हैं, रसोइया नियुक्त करते है (बहुधा उनमें किसी की पत्नी यह काम कर लेती है) अपना नेता चुनते हैं, साथ भोजन करते है और हर एक आदमी अपने खाने और रहने का ख़र्च संघ में जमा करा देता है। साइबेरिया जाने वाले कैदियो के दल में भी सदा ऐसा ही होता है। उस

दल का निर्वाचित नेता क़ैदियों और सैनिक अध्यक्ष के बीच में मध्यस्थ का काम करता है। जिन क़ैदखानो में कठोर परिश्रम करवाया जाता है, वहां भी यह संगठन विद्य-

साख

मान है। रेलवे-कुलियो, विनिमय-वाहकों, चुंगीघर के मजदूरो, राजधानियो में रहने वाले क़स्बों के सन्देश-वाहकों की इतनी साख जमी हुई है कि व्यापारी लोग इन संघों के किसी भी सदस्य के हाथ में चाहे जितना रुपया अथवा बैंक नोट सौंप देते हैं। ये लोग हरएक सदस्य के लिए सामूहिक जिम्मे-दारी समझते हैं। इमारती व्यवसाय में १० से २०० सदस्यों तक के संघ बनते हैं और बड़ी इमारतें बनाने वाले तथा रेलवे ठेकेदार हमेशा स्वतंत्र मजदूरों की अपेक्षा संघो की मार्फ़त काम करवाना अधिक पसन्द करते हैं। युद्ध-विभाग ने माल तैयार करने वाले संघों से सीधा सम्पर्क स्थापित करने की चेष्टा की जो घरेलू व्यवसायो में व्यवसाय-विशेष का काम करने के लिए बने थे। उसने सभी किस्म के बूट बनाने और पीतल और लोहे का सामान तैयार करने के आर्डर दिये। इसका बहुत सन्तोष-जनक परिणाम हुआ बताते हैं। सन् १८९० के लगभग सरकारी लोहे का कारखाना एक मजदूर-संघ को किराये पर दिया गया और इसमें निश्चित रूप से सफलता मिली।

इस प्रकार हमें पता चलता है कि रूस में प्राचीन मध्य-कालिक संस्था का (जिसके कार्य में, अनियमित प्रदर्शन के समय, राज्य ने हस्तक्षेप नहीं किया) इस समय तक अस्तित्व कैसे विद्यमान है और आधुनिक उद्योग और व्यवसाय की आव-

श्यकताओं के मुताबिक़ वह नानाभांति के स्वरूप इख्तियार करती है। बाल्कनद्वीप, तुर्की साम्राज्य और काकेशिया में प्राचीन व्यवसाय-संघ पूर्णरूप से क़ायम है। सर्विया की एसनफ नामक सहयोग-संस्था ने अपने मध्यकालिक स्वरूप को पूरी तरह से सुरक्षित रक्खा है। उनमें मालिक और मज़दूर दोनो ही शामिल होते है, वे व्यापार का नियमन करते हैं तथा श्रम और बीमारी के प्रसंगो मे पारस्परिक सहयोग की संस्थायें है। काकेशिया की और खासकर तिफलिस को आमकारी नामक संस्थाये इन कामो के अलावा म्युनिसिपल जीवन पर भी गहरा असर डालती है।

अन्य उदाहरण

सहयोग के सम्बन्ध में सम्भवतः मुझे मित्र-समाजो, डाक्टरों के बिल अदा करने के लिए संगठित ग्राम और नगर-क्लबो, पोशाकों और अन्त्येष्टि क्रिया-सम्बन्धी क्लबों, कारखाने की लड़कियो में बहुतायत से मिलने वाले छोटे-छोटे क्लबों आदि का भी उल्लेख करना चाहिए। कारखानो की लड़कियाँ प्रति सप्ताह कुछ पेंस अपनी संस्था में जमा कराती रहती हैं और बाद में बारी-बारी से एक-एक लड़की एक-एक पौण्ड उस कोष में से ले लेती है जिससे कि वह काफी परिमाण में खरीदारी कर सके। यद्यपि प्रत्येक सदस्य के जमा-खर्च के हिसाब पर भलीप्रकार निगरानी रक्खी जाती है, फिर भी ऐसी सभी संस्थाओं और क्लबों मे सामाजिक यानी हर्षो-त्पादक भावना कुछ कम मात्रा में नहीं मिलती। किन्तु बहुत-सी ऐसी संस्थायें भी हैं, जो आवश्यकता पड़ने पर समय, स्वास्थ्य और जीवन तक की कुर्बानी करने को तैयार रहती हैं। इन

संस्थाओं—हलचलों से हम उच्च से उच्च श्रेणी के पारस्परिक सहयोग के अनेक उदाहरण पेश कर सकते हैं।

सबसे पहले इस देश की जीवन-रक्षक नाविक संस्था (Life Boat-Association) का और युरोप की इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं का उल्लेख करना चाहिए। इंग्लैण्ड की जीवन-रक्षक नाविक संस्था के संगठन के भीतर समुद्री किनारो पर तीन सौ से अधिक नावें काम करती है और यदि मछुवे लोग दरिद्र न होते तो यह संख्या कई गुना अधिक होती। दरिद्रता के कारण वे जीवन-रक्षक नावें नहीं खरीद सकते। किन्तु नाविकों में स्वेच्छापूर्वक काम करने वाले लोग हैं जो अपने जीवन का बलिदान करके भी सर्वथा अपरिचितों को बचाने में तत्पर रहते हैं। उनकी इस तत्परता की प्रतिवर्ष कठोर परीक्षा होती रहती है। हर सर्दी के मौसम में कई बहादुर नाविक बलिदान हो जाते है। यदि हम इन आदमियों से पूछें कि सफलता की जरा भी सम्भावना न होने पर भी वे किसलिए अपने जीवन को खतरे में डालते है तो वे कुछ इस तरह से उत्तर देते हैं—केण्ट में एक छोटे से गाँव के चपटे, रेतीले समुद्री किनारे पर खाड़ी के उस तरफ से भयावह बर्फीला तूफान आया और नारङ्गियों से भरा हुआ एक छोटा-सा जहाज पास की रेत मे जा फँसा। ऐसे उथले पानी में सीधे-सादे प्रकार की और चपटे पैंदे की जीवन-रक्षक नाव रक्खी जा सकती है, किन्तु ऐसे तूफान के मौक़े पर उस नाव को पानी में ले जाना क़रीब-क़रीब निश्चित रूप से संकट को निमन्त्रण देना होता है। फिर भी रेत में फँसे जहाज की सहायता के लिए नाविक गये, वे घण्टों हवा के विरुद्ध

लड़े और दो बार उनकी नाव उलट गई। एक आदमी डूब गया और दूसरा समुद्र के किनारे जा पड़ा। इनमें से समुद्री किनारे का एक भला चौकीदार वर्फ के मारे अध-मरा हो गया था, उसकी चमड़ी भी बुरी तरह छिल गई थी। मैंने उस आदमी से पूछा कि तुम लोगों ने जीवन की भी परवाह न करके ऐसा प्रयत्न क्यों किया ? उसने जवाब दिया—"मैं स्वयं नहीं जानता, क्यों किया ? जहाज नष्ट होने जा रहा था; गाँव के सब लोग किनारे पर खड़े थे—सब का यही कहना था कि इस समय उसकी मदद को जाना निरी मूर्खता होगी, फेन के समय समुद्र में कभी न उतरना चाहिए। हमने जहाज पर पाँच-छः आदमियों को देखा। वे मस्तूल से चिपटे हुए थे और इस प्रकार इशारे कर रहे थे मानो वे जीवन से निराश हो गये हों। हम सब यह अनुभव कर रहे थे कि हमें कुछ-न-कुछ करना चाहिए, किन्तु हम क्या कर सकते थे ? एक घण्टा बीता, दूसरा घण्टा बीता, हम वहाँ ज्यों के त्यों खड़े थे। हम सब अपने दिल में एक प्रकार की बेचैनी अनुभव कर रहे थे। इतने में एकाएक तूफान के भीतर से हमें ऐसा प्रतीत हुआ मानो हम उसकी चिल्लाहट सुन रहे हैं—उनके साथ एक बालक भी था। हम उनकी चिल्लाहट को और अधिक देर तक सहन न कर सके। हमने तुरन्त ही कहा—"हमें जाना ही चाहिए।" स्त्रियों ने भी ऐसा कहा—यद्यपि दूसरे दिन हमें मूर्ख बताया किन्तु यदि उस दिन हम न जाते तो वे ही हमें कायर समझतीं। एक होकर हम सब नाव की ओर झपटे और जहाज को बचाने के

मानवी प्रेरणा

लिए गये। नाव उलट गई किन्तु हमने उसको हाथ से न जाने दिया। किन्तु सबसे बुरा दृश्य वह था, जब हमारा एक साथी नाव के पास ही डूब रहा था और हम उसको बचाने के लिए कुछ भी न कर सके। इसके बाद फिर एक भीषण लहर आई, नाव दुबारा उलट गई और हम किनारे पर फेंक दिये गये। फिर भी डी नाव ने आदमियों को बचाया, हमारी नाव मीलों दूर पकड़ी गई। मैं दूसरे दिन सवेरे बर्फ में पाया गया।

राण्डा घाटी के खनिकों ने भी इसी भावना से प्रेरित होकर खान के भीतर दबे हुए अपने साथियों को बचाने की कोशिश की थी। अपने साथियो तक पहुँचने के लिए उन्होंने ३२ गज कोयले के ढेर को हटाया, लेकिन जब केवल १ गज ढेर और हटाना बाकी रह गया तो वे आग की गरम-गरम लपटों से घिर गये। दीपक बुझ गये और बचाने वाले खनिक-मजदूर लौट आये। ऐसी दशा में खान में जाने में प्रति क्षण प्राणो से हाथ धो लेने का खतरा था। किन्तु खान के भीतर दबे हुए खनिकों की दर्दभरी पुकार फिर भी सुनाई दे रही थी, वे अभी तक जीवित थे और सहायता की याचना कर रहे थे। फलतः कई खनिक सब कुछ खतरे के रहते हुए भी अपने साथियो को बचाने को तैयार हुए। जब वे खान के भीतर जाने लगे तो उनकी पत्नियों की आँखो मे से आँसू बह रहे थे, किन्तु उन्होंने अपने पतियों को रोकने के लिए एक शब्द भी मुँह से नहीं निकाला।

इन घटनाओं में मानव-स्वभाव का सार निहित है। युद्ध-क्षेत्र में तो मनुष्य पागल बन जाता है, अन्यथा सहायता की

पुकार सुनकर वह चुपचाप नहीं बैठा रह सकता—ऐसा नहीं हो सकता कि वह कुछ जवाब न दे। वीर पुरुष जाता है और वह जो कुछ करता है सब लोग अनुभव करते हैं कि हमें भी वैसा ही करना चाहिए था। मस्तिष्क की भ्रान्तिपूर्ण विचार-धारा पारस्परिक सहयोग की भावना को नहीं रोक सकती। कारण कि पारस्परिक सहयोग की भावना का लालन-पालन न मालूम कितने प्राचीन काल से हो रहा है। मनुष्य का सामाजिक जीवन शुरू हुए हजारों वर्ष हो चुके, इस अर्से में तो पारस्परिक सहयोग की भावना का प्रचार रहा ही है, किन्तु मानव-जीवन शुरू होने के लाखों वर्ष पहले भी उसका अस्तित्व क़ायम रहा है।

किन्तु सर्पेण्टाइन नामक स्थान में भीड़ की मौजूदगी में आदमी डूब गये, किसी ने उन्हें बचाने की चेष्टा नहीं की, इसका क्या जवाब है? रीजेण्ट पार्क की नहर में एक बालक गिर पड़ा, छुट्टी मनाने वालों की भीड़ वहाँ मौजूद थी, किन्तु केवल एक कुमारी ही ऐसी निकली जिसे सुधि रही और उसने अपने न्युफाउण्डलैण्ड के कुत्ते को नहर में छोड़ कर उस बालक को बचाया—यह क्यों? उत्तर बिल्कुल स्पष्ट है। मनुष्य को अपने आस-पास के वातावरण से जैसी मनोवृत्ति प्राप्त होती है, उसे जैसी शिक्षा मिलती है, वैसा ही वह बनता है। खनिकों और समुद्री मल्लाहों का पेशा ही ऐसा है कि वे हर रोज एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, जिससे उनमें आपस में एकता की भावना पैदा होती है। साथ ही वे ख़तरों से भी घिरे रहते हैं, जिससे उन्हें साहस और वीरतादि

संस्कार की भित्ति

गुण प्राप्त हो जाते हैं। इसके विपरीत शहरों में स्वार्थों की समानता का अभाव होता है, जिससे उपेक्षा बढ़ती रहती है और साहस और वीरत्व के प्रदर्शन के लिए तो शायद ही कभी सुयोग मिलता है। इससे या तो इन गुणों का लोप हो जाता है या वे दूसरी दिशा में प्रधावित होने लगते हैं। इसके अलावा खान और समुद्र के वीर की परम्परा खनिकों और मछुओं के गाँवों में कविता के प्रकाश में सज्जित होकर जीवित रहती है। किन्तु लन्दन की गंगा-जमनी आबादी की परम्परा ही क्या है? उसकी यदि कोई सामान्य परम्परा हो सकती है तो वह साहित्य के द्वारा पैदा की जाती है, किन्तु ऐसा साहित्य, जिसकी तुलना ग्रामो की वीरता और काव्यमयी गाथाओं से की जा सके, कहाँ मिलता है? मानव-स्वभाव के जरिये जो भी काम होता है, वह पाप है और मनुष्य में जो अच्छाई का अंश है, यह दैव-योग का फल है, यह सिद्ध करने के लिए धर्माध्यक्ष (पादरी लोग) इतने अधिक उत्सुक रहते हैं कि वे प्रायः उन प्रमाणों की उपेक्षा करते हैं जो उच्चतर प्रेरणा या कृपा के उदाहरण-स्वरूप, या दैवयोग से पैदा नहीं हो सकते। और साधारण लेखकों का जहाँ तक सम्बन्ध है, उनका ध्यान तो एक विशेष प्रकार की वीरता पर ही केन्द्रित रहता है—वह वीरता जो राज्यसत्ता की कल्पना को जन्म देती है और उसे बढ़ाती है। इसीलिए जहाँ एक ओर वे समुद्री धीवर की वीरता की उपेक्षा कर देते हैं, उसकी ओर क्वचित ही ध्यान देते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे रोमन वीर या युद्ध में लड़ने वाले सिपाही की प्रशंसा करते हैं। निस्सन्देह कवि और

चित्रकार मानव-हृदय की सुन्दरता पर मुग्ध हो सकता है, किन्तु दोनों ही दरिद्रतर जातियों के जीवन से कदाचित ही परिचित होते हैं, अतः जहाँ वे रोमन या सैनिक वीर की परम्परागत वातावरण में कविता अथवा चित्रों द्वारा प्रशंसा कर सकते हैं, वहाँ वे दरिद्र वातावरण में रहने वाले वीरों की वीरता पर न तो प्रभावशाली कविता बना सकते हैं, न चित्र ही, कारण कि उस वातावरण की वे उपेक्षा करते हैं। यदि वे ऐसा करने का साहस भी करते हैं तो उनकी रचना भाव-शून्य केवल शुष्क रचना होती है।×

× फ्रांस के कारागार से निकल भागना अत्यन्त दुष्कर काम है। फिर भी सन् १८८४ या १८८५ में फ्रांस के किसी जेलखाने से एक क़ैदी भाग गया। दिन भर उसने अपने-आप को छिपाये रक्खा, हालाँकि ख़तरे की घण्टी बजाई जा चुकी थी और आस-पास के किसान उसकी तलाश कर रहे थे। दूसरे दिन वह कैदी एक छोटे-से गाँव के पास, खाई में जा छिपा। शायद वह कुछ भोजन चुराना चाहता था या अपनी जेल की पोशाक बदलने के लिए कुछ कपड़े हासिल करने का उसका इरादा रहा होगा। वह इस प्रकार खाई में छिपा बैठा था कि इतने में गाँव में आग लगी, उसने देखा कि एक स्त्री जलते हुए घर से भाग कर बाहर निकल रही है। उस स्त्री का बच्चा जलते हुए मकान की दूसरी मंजिल में था। कैदी ने स्त्री की करुण किन्तु नैराश्यपूर्ण पुकार सुनी किन्तु उसकी मदद करने को, बच्चे को बचा लाने को कोई आगे न बढ़ा। तब भागा हुआ कैदी अपनी जगह से लपका; आग के भीतर घुसकर वह बच्चे को साफ़ बचा लाया और उस स्त्री को सौंप दिया। परन्तु इस साहस का नतीजा यह हुआ कि उसका मुँह झुलस गया और जब वह वापस लौटा तो उसके कपड़े में आग लगी हुई थी। किन्तु आग से बाहर आते ही वह पुलिस के सिपाहियों-द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया, जो अब घटनास्थल

जीवनोपभोग, अध्ययन, अन्वेषण, शिक्षा आदि के लिए इधर इतनी अधिक तादाद में संस्थायें, क्लब और संघ बने हैं कि उनकी व्यवस्थित सूची तैयार करने में भी कई वर्ष लगेंगे। ये सब संस्थायें पारस्परिक सहयोग की उसी सतत क्रियाशील प्रवृत्ति का प्रदर्शन मात्र हैं। इन में से कुछ तो केवल सामुदायिक जीवन का आनन्द उठाने के उद्देश्य से बनी हैं। इनकी उपमा विभिन्न क़िस्मों के पक्षियों के छोटे-छोटे झुण्डों से दी जा सकती है जो बसन्त ऋतु में आनन्द मनाने के लिए एक स्थान-विशेष पर एकत्र होते हैं। इग्लैण्ड, जर्मनी, स्वीजरलैण्ड आदि देशों के

सामुदायिक जीवन का आनन्द

प्रत्येक गाँव में क्रिकेट, फुटबाल, टेनिस, नाइन-पिन (एक प्रकार का खेल) कबूतरबाजी, संगीत आदि के लिए क्लब बने हुए हैं। दूसरी संस्थाओं की संख्या भी बहुत अधिक है और उनमें से कुछ का तो साइक्लिस्ट अलायन्स (साइकिलबाजों की जमात) की भाँति

पर आ मौजूद हुए थे। अभागा कैदी पुनः जेलखाना ले जाया गया। इस घटना की रिपोर्ट फ्रांसीसी समाचारपत्रों में पहुँची, किन्तु किसी ने भी उसे छुडाने की चेष्टा न की। यदि इस कैदी ने किसी वार्डर की अपने साथी कैदी के मुक्के से रक्षा की होती तो उसे एक बहादुर व्यक्ति बना दिया जाता। किन्तु उसका काम तो केवल मनुष्यता-पूर्ण था, राज्य सता के आदर्शों की उसमे वृद्धि न होती थी. स्वयं उस कैदी ने भी यह नहीं बताया कि उसे एकाएक दैवी प्रेरणा हुई, जिससे उसने यह काम किया। अतः उसे अन्धकार में गिरने देने के लिए ये कारण काफी थे। शायद उसकी सजा में छः या बारह महीने की अवधि इस अपराध पर बढा दी गई कि उसने 'राज्य की सम्पत्ति'—जेलखाने की पोशाक (वर्दी) चुराई थी।

बड़े दृढ़ पाये पर विकास हुआ है । यद्यपि इस जमात के सदस्यों में साइकिल-प्रेम के अलावा और कोई समानता नहीं है, फिर भी उनमें पारस्परिक सहयोग के लिए, विशेषतः देश के दूरवर्ती भागो में, जहाँ साइकिल वाले बहुतायत से नहीं हैं, एक प्रकार के मित्र-समाजों की स्थापना हो चुकी है । इस समुदाय वाले किसी गाँव के साइकिल क्लब को एक प्रकार से अपना घर समझते हैं और वार्षिक साइकिल कैम्प में अनेक अस्थायी मित्रतायें क़ायम होती हैं । जर्मनी में केगेलब्रुडर नाम की संस्था भी इसी प्रकार की संस्था है, जो नाइन-पिन खेल के लिए बनी है । इसके अलावा व्यायाम शालाओं, (जर्मनी में इस संस्था के ३ लाख सदस्य हैं), फ्रांस के बेक़ायदा तैराक़ भ्रातृ-संघों, सैलानी नाविक-संघों आदि का भी यही हाल है । निश्चय ही ऐसी संस्थायें समाज के आर्थिक विभाजन में परिवर्तन नहीं कर सक़तीं, किन्तु ख़ासकर छोटे क़स्बों में वे सामाजिक भेदभाव को सरल बनाने में सहायता देती हैं और चूँकि उनका झुकाव राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संघों में शामिल होने की ओर रहता है, इसलिए वे दुनिया के विभिन्न भागों में फैले हुए सभी प्रकार के व्यक्तियों में व्यक्तिशः मित्रतापूर्ण व्यवहार बढ़ाने में मदद देती हैं ।

जर्मनी के एलपाइन क्लबों में एक लाख से भी अधिक सदस्य हैं। इनमें शिकारी, शिक्षित जंगल-विशेषज्ञ, प्राणी-विशेषज्ञ और विशुद्ध प्रकृति-प्रेमी शामिल हैं। और अन्तर्राष्ट्रीय पक्षी-विज्ञान विशेषज्ञ समाज (Ornithological Society) में, जर्मनी में, प्राणी-विशेषज्ञ, पशु-पक्षी पालक और किसान सभी शामिल होते हैं। इन संस्थाओं का भी वही स्वरूप है। इन्होंने थोड़े से वर्षों में न केवल एक बड़े परिमाण में बहुत लाभ-दायक काम किया है। बल्कि मनुष्यो में नवीन सम्बन्ध पैदा किये हैं। नक़शे तैयार करने, आश्रय-गृह और पहाड़ी सड़कें बनाने, पशु-जीवन, हानिप्रद कीड़ो, पक्षियों के प्रवास आदि का अध्ययन करने का इन संस्थाओं ने काम किया है। काकेशश के आश्रय-गृह में आकर टिकनेवाले दो विभिन्न क़ौमों के एलपाइनी अथवा पक्षी-विशेषज्ञ प्रोफेसर और किसान अब एक दूसरे से अपरिचित नही रहते। न्यू कैसेल (इंग्लैण्ड) की श्री टोवी की संस्था ने २ लाख ६० हजार लड़के और लड़कियों से कभी भी पक्षियों के घोंसले नष्ट न करने और सभी जानवरों के प्रति दया प्रदर्शित करने की प्रतिज्ञा कराई है। इस प्रकार उसने मानवी भावनाओं के विकास के लिए, प्राकृतिक-विज्ञान में रुचि पैदा करने के लिए अनेक नीति-वादियों और हमारे बहुत से स्कूलो की अपेक्षा अधिक काम किया है।

जर्मनी के एलपाइन क्लब

इस सरसरी आलोचना में भी हजारों वैज्ञानिक, साहित्यि तथा कला-कौशल और शिक्षण-संस्थाओं का उल्लेख किये बिना नहीं रहा जा सकता। अब तक तो वैज्ञानिक संस्थायें राज्य द्वारा नियंत्रित और बहुधा उसकी सहायता पर आश्रित रही हैं, अतः साधारणतः उन्होंने बहुत ही संकुचित दायरे में काम किया है। इन संस्थाओं को बहुधा राजकीय नौकरियाँ प्राप्त करने का जरिया समझा गया और कार्य-क्षेत्र संकुचित होने के कारण उनमें ईर्षा-द्वेष का पोषण हुआ। फिर भी यह सही है कि इस प्रकार की संस्थाओं ने एक हद तक जन्मजात और राजनैतिक दलों तथा मतों के भेद-भावों को सरल बनाया है। किन्तु छोटे और एकांतिक क़स्बों में वैज्ञानिक, भौगौलिक अथवा संगीत-संस्थायें जो कला-प्रिय व्यक्तियों के विस्तृत समुदाय को अपनी ओर आकर्षित करती हैं, बौद्धिक जीवन के छोटे-छोटे केन्द्र बन जाती हैं, वे छोटे से क़स्बे का विस्तृत संसार के साथ सम्बन्ध स्थापित करती हैं जहां विभिन्न सामाजिक स्थिति के लोग बराबरी के दर्जे पर मिलते हैं। ऐसे केन्द्रों का पूरा मूल्य आँकने के लिए, साइबेरिया के किसी ऐसे ही केन्द्र की जानकारी हासिल करना चाहिए। और उन असंख्य शिक्षण-संस्थाओं के बारे में जो अभी-अभी शिक्षा के विषय में राज्य और गिरजे के एकाधिकार को नष्ट करने लगी हैं, यही कहा जा सकता है कि शीघ्र ही वे अपने क्षेत्र में अग्रगामी शक्ति बन जावेंगी। किण्डर्गार्टन पद्धति 'फ्रोबेल यूनियन' ने ही हमको प्रदान की है और रूस में स्त्री-शिक्षा का

सामुदायिक संस्थाओं से लाभ

जो ऊँचा दर्जा है, वह बहुत-सी नियमित और अनियमित शिक्षण-संस्थाओं के प्रयत्नों का ही फल है, हालांकि इन संस्थाओं को सदा शक्तिशाली सरकार के कड़े विरोध के नीचे काम करना पड़ा है। जर्मनी की अध्यापक-संस्थाओं के बारे में तो यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने आम स्कूलों में विज्ञान की शिक्षा देने का आधुनिक तरीक़ा ढूँढ़ निकालने में सबसे अच्छा भाग लिया है। इन संस्थाओं को शिक्षक अपना सर्वोत्तम सहारा समझता । बिना इनकी सहायता के बहुपरिश्रमी और अल्प वेतन-भोगी शिक्षक की कितनी कष्टमय अवस्था होती ?

सहयोग की वही वृत्ति

ये सब संस्थायें, समाज, भ्रातृ-संघ, सम्मेलन आदि क्या हैं, जिनकी अब अकेले युरोप में ही हजारों की तादाद में गिनती की जा सकती है और जिनमें स्वेच्छापूर्वक, बिना किसी महत्वाकांक्षा के, निःशुल्क अथवा कम वेतन पर, बड़े परिमाण में काम होता है ? इन सबमें पारस्परिक सहयोग की उसी अमर प्रवृत्ति का नानाभांति से प्रदर्शन हुआ है। एक समय था कि लगभग तीन शताब्दी तक तो साहित्य, कला, और शिक्षा के प्रसार के लिए भी मनुष्यों को संगठित होने ही नहीं दिया गया। उस वक्त या तो राजा अथवा गिरजे के संरक्षण में ही संस्थायें क़ायम हो सकती थीं, या 'फ्री मेसनरियों' की भाँति गुप्त भ्रातृ-संघ ही बन सकते थे। किन्तु अब जब कि इस विरोध की कमर तोड़ दी जा चुकी है, सब दिशाओं में बड़ी तादाद में संस्थायें बन रही हैं, उनका मानवी हलचलों की सभी विविध शाखाओं में विस्तार हो रहा

है, उनका स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय हो जाता है और राज्य-संस्थाओं ने विभिन्न जातियों में जो भेद की दीवार खड़ी कर दी है, उसको गिराने में वे इस हद तक काम करती हैं, जिसका अभी हम ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा सकते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा के कारण ईर्षा-द्वेष का अस्तित्व है और पुराने जमाने के 'भूत' घृणा भाव को उत्तेजन देते है, फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय एकता की भावना नष्ट नहीं हुई है। दुनिया के प्रमुख-प्रमुख व्यक्तियों और जन-साधारण में उसकी वृद्धि हो रही है, कारण कि उन्होंने भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का अधिकार प्राप्त कर लिया है। और गत २५ वर्षों में युरोपीय युद्ध को रोकने में निश्चय ही इस भावना का भी भाग रहा है।

इस स्थान में धार्मिक परोपकारी संस्थाओं का भी अवश्य उल्लेख होना चाहिए, जिनका एक अलग अस्तित्व है।

परोपकारी संस्थायें

इसमें तनिक भी सन्देह नही है कि इन संस्थाओ के अधिकांश सदस्य उसी भावना से प्रेरित होते हैं, जो अन्य मानव-समुदायों में पाई जाती है। दुर्भाग्य-वश धर्माचार्य यह बताते हैं कि इस प्रकार की भावना का दैवी कृपा से उदय होता है। उनमें से बहुत से यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि जिस धर्म-विशेष को हम मानते हैं, उसकी शिक्षाओं की जानकारी प्राप्त किये बिना मनुष्य पारस्परिक सह-योग की प्रेरणा का बुद्धिपूर्वक अनुसरण नहीं करता। और सेण्ट आगस्तीन के मतानुसार इनमें अधिकांश तो यह तक नहीं मानते कि 'मूर्ति पूजक जंगली' जातियों में इस तरह की कोई

भावना होती है। इसके अलावा, अन्य सब धर्मों की भाँति जहां प्रारम्भिक ईसाई धर्म ने पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति की व्यापक मानवी भावनाओ को जागृत किया था, वहां ईसाई गिरजाघरो ने पारस्परिक सहयोग की उन सभी विद्यमान संस्थाओ को नष्ट करने में राज्य को मदद दी है जो उनकी अधीनता में नहीं आईं या जिनका उनके क्षेत्र के बाहर विकास हुआ। पारस्परिक सहयोग के बजाय उन्होने परोपकार वृत्ति का उपदेश दिया। जहां प्रत्येक जंगली कहलाने वाला मनुष्य अपने सजातीय व्यक्तियो की सहायता करना अपना कर्त्तव्य मानता है, वहाँ परोपकार करने में ऐसा समझा जाता है कि यह ऊपरी (दैवी) प्रेरणा का फल है जिसके अनुसार कि लेने वाले पर देने वाले की एक खास उच्चता प्रकट होती है। इस मर्यादा के साथ और परोपकार करके अपने को उच्च समझने वाले लोगों को नाराज करने का कोई भी इरादा न रखते हुए हम निश्चय ही इन बहुसंख्यक धार्मिक और परोपकारी संस्थाओ को भी उसी पारस्परिक सहयोग की प्रवृत्ति का फल समझ सकते है।

इन सब बातों से पता चलता है कि दूसरे लोगो की आवश्यकताओं की जरा भी परवा न करते हुए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की जैसे-तैसे पूर्ति करना ही आधुनिक जीवन का लक्षण नहीं है। स्वार्थ-साधन की इस चेष्टा के साथ-साथ हम देखते हैं कि ग्रामीण और औद्योगिक बस्तियों में पारस्परिक सहयोग और सहायता की विद्यमान संस्थाओं को पुनः जारी करने के लिए घोर संघर्ष होता है। हमें यह भी पता

स्वार्थ और सहयोग

चलता है कि समाज की सभी श्रेणियों में उसी उद्देश्य (पारस्परिक सहयोग) को लेकर नाना भाँति की कम-ज्यादा मात्रा में स्थायी संस्थायें स्थापित करने के लिए व्यापक आन्दोलन चल रहा है। किन्तु जब हम आधुनिक मनुष्य के सार्वजनिक जीवन को छोड़ कर व्यक्तिगत जीवन में प्रवेश करते हैं तो वहाँ हमें पारस्परिक सहयोग की नई ही दुनिया दिखाई देती है। अधिकांश समाजवेत्ताओं का ध्यान इस ओर नहीं जाता, कारण कि उसका दायरा कुटुम्ब और व्यक्तिगत मित्रों तक ही सीमित रहता है।

टूटे बधनों के बीच—

वर्तमान समाज-व्यवस्था में एक ही गली या पड़ोस में रहने वालों की एकता के बन्धन भी टूट चुके हैं। बड़े शहरों की घनी बस्तियों में लोग अपने पड़ोसियों तक को नहीं जानते। किन्तु घनी आबादी वाली गलियों में वे एक-दूसरे को भली प्रकार से पहचानते हैं, उनमें आपस में बराबर व्यवहार होता रहता है। अवश्य ही दूसरे स्थानों की भांति गलियों में भी झगड़े होते हैं किन्तु जिन-जिन व्यक्तियों के स्वभाव में समानता होती है, उनके समुदाय बनते हैं और ऐसे समुदायों के भीतर पारस्परिक सहयोग का इस हद तक व्यवहार होता है कि जिसकी धनी लोगों को कल्पना भी नहीं है। उदाहरण के लिए यदि हम एक दरिद्र पड़ोस की किसी गली, गिरजाघर के चौक अथवा, हरे मैदान में खेलने वाले बच्चों को ही ले लें, तो हमें उनमें अस्थायी लड़ाइयाँ होते रहने पर भी घनिष्ट एकता दिखाई देगी। यह एकता ही उनकी हर प्रकार के संकटों से रक्षा करती है। ज्यों ही कोई बच्चा खाई के मुहाने पर उत्सु-

कता से देखने के लिए झुकता है त्यों ही दूसरा बच्चा चिल्ला उठता है—"वहाँ मत ठहरना, गड्ढे में बुखार बैठा है।" "दीवार पर मत चढ़ना, कहीं गिर जाओगे तो गाड़ी के नीचे आकर मर जाओगे!" "खाई के नजदीक मत आओ!" "इन फलों को खाना—जहर है! मर जाओगे!" जब कोई नया लड़का अपने साथियों के साथ घर के बाहर खेलने जाता है, तो पहले-पहल उसे इन वाक्यों-द्वारा शिक्षा दी जाती है। यदि इन में पारस्परिक सहयोग न होता तो न मालूम कितने लड़के बैलगाड़ियों के नीचे आकर अथवा दलदल में फँस कर मर गये होते क्योंकि खेलने के स्थान भी या तो 'मजदूरो की आदर्श बस्ती' के आसपास की सड़कें अथवा नहर के घाट और पुल होते हैं। यदि कोई लड़का ग्वालिये के चौक के पीछे अरक्षित खाई में फिसल पड़ता है अथवा रोकने के प्रयत्न करने पर भी नहर में गिर पड़ता है तो उसके साथी इतने जोर की चिल्लाहट मचाते हैं कि सारा पड़ोस चौकन्ना होकर उसे बचाने के लिए दौड़ पड़ता है।

माताओं का संगठन

अब माताओं के संगठन का जिक्र सुनिए। एक स्त्री डाक्टर ने जो कि एक ग़रीब पड़ोस में रहती है, थोड़े दिन पहले मुझसे कहा था—"तुम इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि वे आपस में एक-दूसरे की कितनी मदद करती हैं। यदि किसी स्त्री ने अपने पैदा होने वाले बच्चे के लिए खान-पान की कुछ भी सामग्री तैयार नहीं की, या वह न कर सकी (ऐसा कितनी बार नहीं होता?) तो पड़ोस की सब स्त्रियां उस बच्चे के लिए कुछ-न-कुछ लेकर आती हैं। जब-

तक माता बिस्तर में रहती है पड़ोस की एक स्त्री बच्चे की हमेशा देख-भाल रखती है और दूसरी स्त्रियों में से कोई-न-कोई प्रति दिन घर का काम कर जाती हैं।" यह आम रिवाज है। जो लोग भी गरीबों के बीच में रहे हैं, उन सभी ने इसका उल्लेख किया है। हजारों छोटे-छोटे तरीकों से ये मातायें एक दूसरे की सहायता करती हैं और उन बच्चों की देख-भाल रखती हैं जो उनके नहीं होते। धनिक वर्गों की स्त्रियों को तो कुछ शिक्षा ही ऐसी मिलती है जिससे वे सड़क पर सर्दी से ठिठुरते और भूखे बच्चे की ओर से निगाह फेर अपने रास्ते जा सकें। यह शिक्षा अच्छी है या बुरी, इसका निर्णय स्वयं उन्हें ही करने देना चाहिए। किन्तु ग़रीब वर्गों की माताओं को ऐसी शिक्षा नहीं मिलती। एक भूखे बालक को देख कर वे चुप नहीं रह सकतीं, उन्हें उसको खिलाना ही पड़ता है। एक महिला, जिसने व्हाइटचैपेल में, मजदूर-संघ के सिलसिले में कई वर्ष तक काम किया है, मुझे लिखती हैं—"जब स्कूल के बालक रोटी मांगते हैं तो उन्हे निराशा क्वचित ही मिलती है, या यों कहना चाहिए कि कभी नहीं मिलती।" मैं उसी महिला के पत्र से नीचे कुछ और अंश देता हूँ—

"बीमारी की दशा में बिना किसी पुरस्कार की आशा के पड़ोसियों की सेवा-शुश्रूषा करना मजदूरों में बिलकुल साधारण बात है। इसी प्रकार छोटे बच्चों वाली कोई स्त्री काम पर जाती है तो पड़ोस की दूसरी स्त्री हमेशा उस स्त्री के बच्चों की निगरानी रखती है।

"मजदूरपेशा जातियों में यदि वे एक दूसरे की सहायता न करें तो वे जीवित भी नहीं रह सकते। मैं ऐसे कुटुम्बों को जानती हूँ जो रुपये से, भोजन से, जलाने की लकड़ी से और बीमारी की दशा में या मौत हो जाने पर छोटे बच्चों का पालन-पोषण कर-कर के आपस में एक दूसरे की मदद करते हैं।

" 'मेरे' और 'तेरे' का भेद धनिकों की अपेक्षा ग़रीबों में बहुत कम पाया जाता है। जूते, पोशाक, टोप आदि जिस किसी चीज की स्थान विशेष पर आवश्यकता पड़ जाती है, वही एक दूसरे से बराबर उधार ले ली जाती है, घर-गृहस्थी की सभी प्रकार की चीजें भी इसी तरह ली जा सकती हैं।

"पिछले सर्दी के मौसम में युनाइटेड रेडिकल क्लब के सदस्यों ने कुछ रुपया इकट्ठा किया था। बड़े दिनों के बाद उस रुपये से वे स्कूल जाने वाले बच्चों को शोरबा और रोटी मुफ्त में बांटने लगे। धीरे-धीरे उनके पास १८०० लड़के आने लगे। रुपया बाहर वालों से मिला था, किन्तु सब काम क्लब के सदस्य ही करते थे। उनमें से कुछ, जो काम नहीं करते थे, सुबह चार बजे शाक-भाजी को धोने और काटने के लिए आते, पांच स्त्रियां अपने घर के काम-काज से निबट कर ९-१० बजे उसे पकाने को आतीं और थालियां धोने के लिए ६-७ बजे तक ठहरतीं। और भोजन के समय बाहर से १॥ बजे के बीच में २० से ३० मजदूर शोरबा परोसने में मदद देने के लिए आते, और हर एक अपने भोजन के समय में से जितना समय बचा पाता, उतनी देर वहां ठहरता। यह काम दो महीने तक चला।

किसी को एक पैसा भी नहीं दिया गया।"

मेरी महिला दोस्त ने कुछ व्यक्तिगत उदाहरण भी दिये हैं, उनमें से ये विशेष उल्लेखनीय हैं:—

कुछ और उदाहरण

"एनी डब्ल्यु को उसकी माता ने विलमोट स्ट्रीट की एक वृद्धा के यहां रक्खा। जब उसकी माता मर गई, तो उस वृद्धा ने, जो स्वयं बहुत दरिद्र थी, उस बच्चे को बिना एक भी पैसा मिले अपने पास रक्खा। जब यह वृद्धा भी मर गई तो उस बच्चे को तुरन्त एक जूतेफ़रोश की स्त्री श्रीमती एस अपने यहां लिवा ले गईं, जिसके खुद छः बच्चे थे। इस स्त्री का पति, कुछ दिन हुए, बीमार हो गया था तब घर के सभी लोगों को काफ़ी भोजन भी नसीब नहीं होता था।

"उस दिन की बात है श्रीमती एस० ने जो कि छः बच्चों की माता हैं, श्रीमती एम० जी की उसकी बीमारी-भर सेवा की और उसके बड़े बच्चे को अपने घर लिवा ले गईं।......किन्तु क्या तुम्हें ऐसे उदाहरणों की आवश्यकता है ? वे तो आम तौर पर पाये जाते हैं। मैं श्रीमती डी० को जानती हूं, जिनके पास सीने की मशीन है। वह बिना कुछ लिये सदा दूसरों के कपड़े सीती रहती हैं हालांकि उसके खुद के पाँच बच्चे हैं और उसे अपने पति की भी देख-भाल करनी पड़ती है।........."

श्रमिकों में पारस्परिक सहयोग

श्रमिक जातियों के जीवन में जरा भी परिचित प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि यदि उनमें व्यापक रूप से पारस्परिक सहयोग न होता हो तो वे अपनी कठिनाइयों से पार नहीं पा सकतीं। श्री० जोसेफ़ गटेरीज फ़ीतेसाज्ञ ने अपने जीवनचरित्र में जिन संकटपूर्ण परिस्थियों का जिक्र किया है, क्वचित ही कोई ऐसा मजदूर कुटुम्ब होता है, जिसे अपने जीवन-काल में उनका मुक़ाबला न करना पड़ा हो। और ऐसी परिस्थितियों में यदि सभी नष्ट नहीं हो जाते तो इसका कारण पारस्परिक सहयोग ही है। श्री गटेरीज का कुटुम्ब जब काल के मुँह में जाने ही वाला था, उस समय एक वृद्ध परिचारिका ने, जो स्वयं अत्यधिक दरिद्र थी, थोड़ी रोटी, कोयला और बिस्तर लाकर उस कुटुम्ब की रक्षा की। वृद्धा ये चीजें दूसरी जगह से उधार लाई थी। दूसरे उदाहरणों में वृद्धा परिचारिका नहीं तो और कोई अथवा पड़ोस वाले ही पीड़ित कुटुम्ब की सहायता कर देते हैं। किन्तु यदि दरिद्र लोग दरिद्रों की थोड़ी-बहुत मदद न करें तो पता नहीं प्रति वर्ष कितने दरिद्र घर बिलकुल तबाह हो जायँ। X

X बहुत से धनी यह नहीं समझ सकते कि अत्यधिक दरिद्र आपस में एक दूसरे की किस प्रकार सहायता कर सकते हैं। कारण कि वे यह नहीं जानते कि दरिद्रतम जातियों के कुटुम्ब का जीवन-मरण बहुधा कितने थोड़े भोजन या पैसे पर निर्भर रहा करता है। लार्ड शेफ्ट्सबरी ने जब फल-फूल बेचने वाली लड़कियों के लिए एक फण्ड खोला तो उन्होंने इस भीषण सत्य को समझ लिया था। सर्दी का मौसम आने पर ये लड़कियाँ बड़े कष्ट में होती हैं। इस फण्ड से उन्हें एक पौण्ड और कभी कभी

श्री प्लिमसोल को ७॥ शिलिंग प्रति सप्ताह पर कुछ अर्से तक ग़रीबों के बीच में रहने के बाद यह स्वीकार करना पड़ा कि अपने जीवन के प्रारम्भ में उसने जिन दया की भावनाओं को अपने हृदय में स्थान दिया, वही उस समय 'हार्दिक आदर और प्रशंसा' के रूप में बदल गई, जब उसने देखा कि दरिद्रों के पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार पारस्परिक सहयोग और सहायता के भावों से परिपूरित हैं और यह पारस्परिक सहयोग कितने सीधे-सादे ढंग से किया जाता है।

सहयोग का आम नियम

अनेक वर्षों के अनुभव के बाद प्लिमसोल इस नतीजे पर पहुँचा था कि "जैसा इन आदमियों का व्यवहार था, वैसा ही अधिकांश श्रमिक जातियों का भी व्यवहार होना चाहिए।" दरिद्र से दरिद्र कुटुम्बों द्वारा भी अनाथ बच्चों के पालन-पोषण करने की प्रथा इतनी व्यापक है कि उसे एक आम नियम ही कहना चाहिए। वारेनवेल और लण्डहिल के खानों में दो विस्फोट हुए।

दो पौण्ड क़र्ज दिया जाता ताकि वे टोकरी और फूल ख़रीद सकें। ये कर्ज ऐसी-ऐसी लड़कियों को दिये जाते थे, जिनके पास ६ पैस जितनी रक़म भी न होती थी। फिर भी इन लड़कियों को कोई अन्य दरिद्र जामिन मिलने में कठिनाई न होती थी। लार्ड शेफ्ट्सबरी ने लिखा है—"जिन हलचलों से मेरा सम्बन्ध रहा है, उन सब में मैं अपनी इस हलचल को सबसे अधिक सफल मानता हूँ।.........यह सन् १८७२ में शुरू की गई थी, और ८०० से हजार तक कर्जे दिये गये, किन्तु इस सारे अर्से में ५० लायर भी नहीं डूबे।.........जो रक़म डूबी, हालात को देखते हुए बहुत थोड़ी थी और धोखादेही नहीं, बीमारी अथवा मौत ही उसका क़ारण था।" (लार्ड शेफ्ट्सबरी के श्री एडविनहोडर लिखित जीवनचरित्र से)

जाँच-कमिटियों का निर्णय है कि इनमें एक तिहाई मजदूर मारे गये। इन मजदूरों के परिवारों का भरण-पोषण शेष खनिकों ने किया। श्री प्लिमसोल कहते हैं—"क्या आपने सोचा है, यह है क्या? धनी, यहाँतक कि आराम से रहनेवाले लोग भी ऐसा करते है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इसमें और उसमें कितना अन्तर है, जरा इस पर तो विचार कीजिए।" एक आदमी है, जो प्रति सप्ताह १६ शिलिंग कमाता है। उसे अपनी बीबी और पाँच-छः बच्चों का पेट पालना होता है। यह आदमी अपने साथी की विधवा की सहायता के लिए १ शिलिङ्ग देता है अथवा किसी मजदूर भाई को अपने रिश्तेदार के अन्त्येष्टि संस्कार के अतिरिक्त खर्च के लिए ६ पैंस देता है तो जरा सोचिए कि इसका क्या अर्थ है? × किन्तु दुनिया में सभी जगह के मजदूरों में

× श्री प्लिमसोल ने लिखा है—"मैं धनिकों की निन्दा नहीं करना चाहता, किन्तु मेरा खयाल है यह शङ्का उठाई जा सकती है कि क्या इन गुणों का उनमें इतनी पूरी तरह विकास हुआ है? कारण कि अपने दरिद्र रिश्तेदारों की उचित अथवा अनुचित आवश्यकताओं से अपरिचित न होने पर भी धनवानों में उन गुणों का इस इस प्रकार बराबर व्यवहार नहीं होता। जो धनवान हैं, उनमें से बहुतों की मनुष्यता का धन ने गला घोंट दिया है और कहना चाहिए कि उनकी सहानुभूति की भावना जितनी संकुचित नहीं होती, उतनी कुन्द हो जाती है। अपनी श्रेणी के लोगों के कष्टों के लिए वे अपनी सहानुभूति सुरक्षित रखते हैं या अपने से बड़ों की भी मदद करते हैं। वे नीचे की ओर क्वचित ही झुकते हैं। साहस के एक काम की तारीफ करना उन्हें अधिक भाता है, परन्तु गरीबों के कष्टमय जीवन की दिन-रात की बहादुरी और हृदय की कोमलता की कदर करना उन्हें नहीं आता।

इस प्रकार सहायता देना आम रिवाज है। कुटुम्ब में मृत्यु हो जाने के अलावा बिलकुल साधारण परिस्थितियों में भी सहायता दी जाती है। और काम में मदद देना तो उनके जीवन में बहुत ही साधारण से साधारण बात है।

धनिक वर्ग में भी पारस्परिक सहयोग की प्रथा का अस्तित्व न हो, सो बात नहीं है। अवश्य ही जब धनी मालिक अपने नौकरों के साथ कड़ाई का व्यवहार करता है और ऐसा बहुधा होता है तो मानव-स्वभाव से निराशा होने लगती है। सन् १८९४ की यार्कशायर की हड़ताल के जमाने में कोयले की खानों के मालिकों ने कुछ वृद्ध खनिकों पर इसलिए मुकदमा चलाया था कि उन्होंने परित्यक्त गड्ढों से कुछ कोयला उठा लिया था। इस घटना पर जो रोष प्रकट किया गया, उसे बहुत से लोग अब भी न भूले होंगे। और यदि हम संघर्ष और समाज—युद्ध कालिक भीषणताओं(बर्बरताओं)का जिक्र एक ओर छोड़ भी दें--फ्रांस के जनतन्त्र के पतन के बाद ऐसा ही हुआ था कि हजारों मजदूर कैदियों को तलवार के घाट उतार दिया गया—तो भी सन् १८४० में हुई श्रम-सम्बन्धी जाँच में जो बातें प्रकट हुईं अथवा लार्ड शेफ्ट्सबरी ने कारखानों में होने वाली मनुष्यों की भयङ्कर बर्बादी के बारे में जो कुछ लिखा × उसको पढ़ कर कौन ऐसा होगा

धनिकों की निष्ठुरता

× इन कारखानों में काम करने के लिए बच्चे या तो मजदूरों के घरों (Work houses)से जाते थे या देश के सभी हिस्सों में से खरीदे जाते थे। इन बच्चों को कारखानों में गुलामों की तरह बेचा जा सकता था।

जिस पर यह स्पष्ट असर नहीं पड़ेगा कि जब उसके स्वार्थ पर कुठाराघात होने का प्रश्न आता है तो मनुष्य कितनी नीचता पर उतारू हो सकता है। किन्तु यह भी कहना होगा कि इस प्रकार के व्यवहार के लिए सारा दोष मानव-स्वभाव की दुष्टता पर ही नहीं मढ़ना चाहिए। क्या कुछ दिन पहले तक विज्ञान-वादियों और पादरियों के एक खास हिस्से ने भी दरिद्र वर्ग के प्रति अविश्वास, अपमान और घृणा की शिक्षा नहीं दी है? क्या विज्ञान ने यह नही सिखाया है कि गुलामी की प्रथा उठा देने के बाद अब यदि कोई दरिद्र है तो इसका कारण स्वयं उसके दुर्गुण ही हैं? और पादरियों में से कितने ऐसे हैं जो बाल-हत्यारों को दोष देने का साहस रखते हैं? हाँ, उनमें ऐसे लोगों की संख्या तो बहुत है जो गरीबों के कष्टो और यहाँ तक कि हबशियो की गुलामी को भी दैवी योजना बताते है। गिरजाघरों की परम्परा के विरुद्ध जो विद्रोह हुआ, क्या वह गिरजाघरो के हाथों ग़रीबों के साथ होने वाले कठोर व्यवहार का व्यापक विरोध न था?

समाज के इस प्रकार के आध्यात्मिक नेता होने के कारण धनिकवर्ग की भावनायें, जैसा कि श्री प्लिमसोल ने कहा है, अनिवार्यतः कुण्ठित होने की अपेक्षा सीमाबद्ध अधिक हो गई। धनी लोग अपने रहन-सहन के ढंग के कारण ग़रीबों से अलग हो गये हैं; वे उनकी खूबियों को नहीं पहचानते, उनकी दैनिक अच्छाइयों को नहीं जानते और इसलिए वे ग़रीबों की ओर क्वचित ही देखते हैं। किन्तु अपने आपस में, कुटुम्ब और मित्रो के दायरे में ग़रीबों की भाँति धनी भी उसी

पारस्परिक सहयोग का अनुसरण करते हैं। हाँ, इसमें धन-संग्रह करने की वासनाओं के परिणामों, और धन संग्रह हो जाने के बाद उसके, परिणाम-स्वरूप होने वाले व्यर्थ के खर्चों का तो हमें लिहाज रखना ही होगा। डा० इहेरिङ्ग और एल डेर गुप्त ने बिलकुल ठीक कहा है कि दोस्ताना फर्ज और सहायता के रूप में जो रुपया एक हाथ से दूसरे हाथ में जाता है यदि उसका तालिकायुक्त हिसाब इकट्ठा किया जा सके, तो कुल जोड़ दुनिया के व्यापार में लगे हुए रुपये की अपेक्षा भी अधिक होगा। यदि इस रकम में, आतिथ्य-सत्कार, छोटी-मोटी पारस्परिक सेवाओं, दूसरे लोगों के मामलों की व्यवस्था, भेंट, दान आदि में खर्च होने वाली रकमें भी शामिल कर ली जायं, जैसा कि हमें करना चाहिए, तो हमें राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में ऐसे आदान-प्रदानों का जो महत्व है, उसका पता लग जावेगा। उस दुनिया में भी जहाँ व्यापारिक स्वार्थ का ही राज्य है, ये उद्गार प्रचलित हैं—"उस दुकान ने हमारे साथ कठोर व्यवहार किया।" इससे पता चलता है कि उसमें कठोर व्यवहार यानी क़ानूनी व्यवहार के मुक़ाबले में मैत्रीपूर्ण व्यवहार का भी अस्तित्व है। और यह तो हर व्यापारी जानता है कि दूसरी फर्मों के मैत्रीपूर्ण सहयोग से प्रति वर्ष कितनी फर्में दिवालिया बनने से बच जाती हैं।

सहयोग की प्रेरणा

भली प्रकार से जीवन-यापन करने वालों, कार्यकर्त्ताओं और खासकर पेशेवर व्यक्तियो के द्वारा सार्वजनिक हित का स्वेच्छा-पूर्वक जो काम होता है, उसके तथा दानादि के सम्बन्ध में हरएक आदमी जानता है कि आधुनिक जीवन में परोपकार की इन दोनों श्रेणियो का क्या स्थान है। यद्यपि ख्याति, राजनैतिक शक्ति और सामाजिक विशिष्टता प्राप्त करने की इच्छा बहुधा उस प्रकार के परोपकारी कृत्य के असली स्वरूप को बिगाड़ देती है, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अधिकांश उदाहरणो में उसी पारस्परिक सह-योग की भावना से प्रेरणा मिलती है। बहुत से मनुष्य धनवान बन जाने के बाद भी वांछित सन्तोष नहीं अनुभव करते। अर्थ-शास्त्री सम्पत्ति के बारे में भले ही कहा करें कि वह तो उसीके पास जाती है, जिसमें क्षमता होती है, किन्तु अनेक धनवान यह अनुभव करने लगते है कि उनका खुद का पुरस्कार बहुत बढ़ाकर आँका जाता है। इस प्रकार मानवी एकता की भावना का असर होने लगता है और यद्यपि समाज का जीवन इस प्रकार निर्मित है कि उस भावना को कुचलने की हजारों चतुराई-पूर्ण ढंगों द्वारा कोशिश होती रहती है, फिर भी वह प्रबल हो ही जाती है। और तब वे अपनी धन-दौलत, अथवा शक्तियाँ एक ऐसी योजना में लगा कर उस मानवी आवश्यकता की पूर्ति के लिए क्षेत्र ढूंढ़ते है, जो उनकी राय मे सार्वजनिक हित की वृद्धि करने वाली हो।

संक्षेप में, न तो केन्द्रीभूत सरकार को कुचल डालने वाली शक्तियाँ और न पारस्परिक घृणा और निर्दयी संघर्ष की शिक्षायें (जिनको विज्ञान का जामा पहनाकर उपकारी तत्ववेत्ताओं ने फैलाया है) मनुष्य की बुद्धि और हृदय में बैठी हुई मानवी एकता की भावना को नष्ट कर सकीं, कारण कि उस भावना का हमारे अबतक के सारे विकास-काल में पालन-पोषण हुआ है। शुरू से लगा कर अब तक के विकास का जो परिणाम हुआ, उस पर उसी विकास का एक पहलू विजयी नहीं हो सकता था। और पारस्परिक सहयोग और समर्थन की आवश्यकता, जिसने अभी कुछ अर्से से कुटुम्ब के संकुचित दायरे अथवा गाँव के एक मुहल्ले या मजदूरों के गुप्त संघों में आश्रय लिया है, हमारे आधुनिक समाज में भी पुनः अपने अस्तित्व पर जोर देने लगी है। जैसा कि हमेशा से होता चला आ रहा है, वह भावना भावी उन्नति की मुख्य सूत्रधार बनने का दावा कर रही है। पिछले दो अध्यायों में जो बातें लिखी गई हैं उनपर ध्यानपूर्वक विचार करने पर हम अनिवार्यतः इन्हीं परिणामों पर पहुँचते हैं।

एकता की भावना अमर है

[९]

उपसंहार

प्राणी-ससार और मानव-जाति के विकास में पारस्परिक सहयोग का कितना महत्व है, इस विषय के प्रमाणों के साथ अब यदि हम उन शिक्षाओ पर विचार करें जो आधुनिक समाज के विश्लेषण से प्राप्त की जा सकती हैं, तो हम अपनी जांच का सार इस प्रकार निकाल सकते है।

प्राणी-जगत में—

प्राणी-संसार में हम देख चुके हैं कि अधिकांश प्राणियों की क़िस्में समुदाय बना कर रहती हैं और इसी में उन्हे जीवन-संघर्ष के लिए सर्वोत्तम हथियार प्राप्त होते हैं। अवश्य ही, यहाँ जीवन-संघर्ष का वही अर्थ होना चाहिए, जो डार्विन के सिद्धान्तों का व्यापक अर्थ है—अर्थात् जीवन-संघर्ष का अथ उस संघर्ष से नहीं है जो कि अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए ही होता है, बल्कि उस संघर्ष से है जो प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियो के विरुद्ध होता है। प्राणियो की जिन क़िस्मो में वैयक्तिक संघर्ष कम से कम हो गया है। और पारस्परिक सहयोग की प्रथा का अधिक से अधिक विकास हुआ है, निश्चित रूप से वे क़िस्में सबसे अधिक बहुसंख्यक और समृद्ध हैं और उनकी भावी उन्नति का दर्वाजा खुला है। ऐसी दशा में जो पारस्परिक संरक्षण मिलता है, दीर्घायु होने और अनुभव एकत्र करने की सम्भावना रहती है और सामाजिक आदतो मे और भी वृद्धि होती है उसके कारण प्राणियों की किस्में बनती रहती हैं,

उनका विस्तार और भावी क्रमिक विकास होता है। इसके विपरीत जो क़िस्में मिल कर नहीं रहतीं, उनका ह्रास निश्चित है।

इसके बाद जब हमने मानव-प्राणी का अध्ययन किया तो हमें पता चला कि पत्थर युग के शुरू में भी मनुष्य खानदानों (वंशों) और जातियों में रहता था। इन खानदानों और जातियों में, निम्न प्राकृत अवस्था में ही हम अनेक प्रकार की सामाजिक संस्थाओं का विकास देख चुके है। हम यह भी देख चुके हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल के जातीय रिवाजों और प्रथाओं के द्वारा ही मानव-जाति को उन संस्थाओं का प्रारम्भिक ढाँचा प्राप्त हुआ जिसने आगे चलकर भावी उन्नति के प्रमुख पहलुओं का निर्माण किया। प्राकृत जातियों में बर्बरकालिक ग्राम-समुदायो का जन्म हुआ और सामाजिक रीति-रिवाजों और संस्थाओ के एक नवीन तथा और भी व्यापक क्षेत्र का विकास हुआ। इन रीति-रिवाजों और संस्थाओं में से अनेक इस समय भी हमारे बीच में विद्यमान हैं। उनका विकास इन सिद्धान्तो के अनुसार हुआ था कि इस क्षेत्र-विशेष पर सामुदायिक अधिकार रहे और सब मिलकर उस क्षेत्र की रक्षा करें। उनपर ग्राम-पंचायतों तथा एक ही वंश की विभिन्न शाखाओ के ग्राम-संघों की सत्ता थी। और जब नई आवश्यकताओं ने मनुष्यों को नवीन व्यवस्था का निर्माण करने को प्रेरित किया तो उन्होने नगरो के संगठन को जन्म दिया। यह संगठन प्रादेशिक संस्थाओं (ग्राम-समुदायो) के दुहरे जाल का द्योतक था, जिसके साथ भ्रातृ-संघ सम्बन्धित थे। किसी कला-

मानव प्राणी में—

विशेष या दस्तकारी के सुचारु रूप से करने अथवा पारस्परिक समर्थन और आत्मरक्षा के लिए इन भ्रातृ-संघों का जन्म हुआ।

अन्त में, पिछले दो अध्यायों में यह बताया गया है कि यद्यपि रोम-साम्राज्य के नमूने पर बननेवाले राज्यों ने पारस्परिक सहयोग की सभी मध्यकालिक संस्थाओं को पूर्णतः बलपूर्वक नष्ट कर दिया था, फिर भी सभ्यता का यह नवीन पहलू नष्ट न हो सका। असंगठित जन-समूहों के आधार पर निर्मित और उनको एक सूत्र में रखने का अकेले अपने ही ऊपर भार ले लेने वाली राज्य-संस्थायें सभ्यता के उस पहलू की उद्देश्य-पूर्ति न कर सकीं। अन्त में पारस्परिक सहयोग की प्रवृत्ति ने राज्य-संस्थाओं के फौलादी नियमों को तोड़ डाला; वह पुनः प्रकट हुई और उन असंख्य संस्थाओं में उसने अपने अस्तित्व को सिद्ध किया जो अब जीवन की सभी दिशाओं तथा मनुष्य-जीवन के लिए आवश्यक सभी वस्तुओं पर अपना अधिकार जमाने की कोशिश कर रही हैं और जो जीवन की हलचल के कारण नाश होने वाली सामग्री को पुनः पैदा करने के लिए कायम हुई हैं।

सभ्यता का नवीन पहलू

यहाँ सम्भवतः यह कहा जायगा कि मान लिया पारस्परिक सहयोग विकास का एक कारण हो सकता है फिर भी मानवी सम्बन्धों के केवल एक ही पहलू पर तो उसका अधिकार है। यह भी माना कि पारस्परिक सहयोग की धारा शक्तिशाली हो सकती है, किन्तु उसके साथ ही दूसरी धारा भी तो है जो व्यक्ति के अधिकारों पर ही जोर

व्यक्तिगत आग्रह

देती है। इस धारा का अस्तित्व सदा बना रहा है। यह आर्थिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में व्यक्तिगत अथवा जातिगत उच्चता प्राप्त करने के प्रयत्नों में ही नहीं प्रकट हुई है, बल्कि उसका एक और काम रहा है जो कहीं अधिक महत्वपूर्ण होते हुए भी इतना प्रकट नहीं है। वह काम यह है कि जाति, ग्राम्य-समुदाय, नगर और राज्य-संस्था के संगठनों ने व्यक्ति पर जो बन्धन लगाये, उनको उस धारा ने बराबर तोड़ने की चेष्टा की, उसका झुकाव सदा व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करने की ओर रहा। दूसरे शब्दों में यों कह लीजिए कि व्यक्तिगत आग्रह को एक प्रगतिशील तत्त्व माना गया है।

सहयोग तत्त्व की उपेक्षा

यह प्रकट है कि जब तक इन दो प्रधान धाराओं का विश्लेषण नहीं किया जाय, तब तक विकास की कोई आलोचना पूरी नहीं हो सकती। किन्तु व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूहों के आग्रहों, प्रभुत्व-प्राप्ति के लिए होने वाली उनकी लड़ाइयों और उनके फलस्वरूप पैदा होने वाले संघर्षों का विश्लेषण, वर्णन और गुण-गान पहले ही खूब हो चुका है। वास्तव में अबतक चारण-भाटों, इतिहास-कारो और समाजवेत्ताओं का ध्यान केवल इसी धारा की ओर गया है। इतिहास, जैसा कि इस समय तक लिखा गया है, उसमें प्रायः उन विधि-विधानों का ही वर्णन है जिनके जरिये से पोप की सत्ता, सैनिक सत्ता, एकतन्त्री सत्ता और बाद में धनिक वर्गों के शासन की स्थापना और विस्तार हुआ। असल में, इन शक्तियों के पारस्परिक संघर्षों का वर्णन ही उस इतिहास का

सार है। इस प्रकार हम मानव-इतिहास में व्यक्ति-प्रधान अंग के ज्ञान का अस्तित्व है, यह मान ले सकते हैं, हालांकि हाल में वर्णित ढंग पर इस विषय के नये सिरे से अध्ययन करने के लिए पूरे कारण मौजूद हैं। लेकिन दूसरी ओर पारस्परिक सहयोग के तत्त्व की अबतक बिल्कुल उपेक्षा ही की गई है। वर्तमान और भूतकाल के लेखकों ने उसके अस्त्वित्व से इन्कार किया है अथवा उसका तिरस्कारपूर्वक मजाक भी उड़ाया है। इसलिए सबसे पहले यह बतलाना आवश्यक प्रतीत हुआ कि पशु-संसार और मानव-समाजों दोनो के विकास में पारस्परिक सहयोग का यह तत्त्व कितना अधिक हिस्सा लेता है। जब इस बात को पूरी तरह स्वीकार कर लिया जायगा, तभी इन दो तत्त्वो की तुलना कर सकना सम्भव हो सकता है।

दोनों तत्त्वों के अपेक्षाकृत महत्व का ऐसे किसी उपाय से जो कम या ज्यादा आङ्किक (Statistical) हो, मोटे तौर पर अन्दाजा लगा सकना भी स्पष्टतः असम्भव है। हम सब जानते हैं कि सैकड़ो वर्षों तक पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्त के अबाधित अमल से जितनी भलाई हो सकती है, उसकी अपेक्षा अकेले एक युद्ध से ही अधिक तात्कालिक और दूरवर्त्ती बुराई पैदा हो सकती है। किन्तु जब हम देखते है कि पशु-संसार में प्रगतिशील विकास और पारस्परिक सहयोग का घनिष्ट सम्बन्ध है और प्राणी-जातियो मे भीतरी संघर्ष का परिणाम उन जातियो की अवनति के रूप में प्रकट होता है तथा साथ ही जब हम यह भी देखते हैं कि

संघर्ष में भी सहयोग

मानव-संघर्षों और युद्धों में सफलता उसी हद तक मिलती है जिस हद तक हर दो विरोधी राष्ट्रों, नगरों, दलों अथवा जातियों में पारस्परिक सहयोग का विकास हो चुका होता है और यह भी कि विकास-क्रम में स्वयं युद्धों को राष्ट्र, नगर अथवा जाति के अन्दर पारस्परिक सहयोग की उन्नति के लिए अस्त्र बनाया गया है, तो हमें प्रगति के एक तत्त्व की हैसियत से पारस्परिक सहयोग के जबर्दस्त असर का पता लग जाता है। किन्तु हम यह भी देखते हैं कि पारस्परिक सहयोग के व्यवहार और उसके सतत विकास ने उस सामाजिक जीवन की रचना की जिसमें मानव-प्राणी अपनी कलाओं, ज्ञान और बुद्धि का विकास करने में समर्थ हुआ। इसके अलावा जिस जमाने में पारस्परिक सहयोग की प्रवृत्ति के आधार पर बनी संस्थाओं का सबसे अधिक विकास हुआ उसी जमाने में कला, उद्योग और विज्ञान की सबसे अधिक तरक्की हुई। वास्तव में मध्यकालिक नगरों और प्राचीन यूनानी नगरों के भीतरी जीवन के अध्ययन से पता चलता है कि मानव-जाति को अपने इतिहास में जो दो सब से बड़े जमाने प्राप्त हुए, उनका श्रेय पारस्परिक सहयोग के संगठन को ही है। इन जमानों में से एक प्राचीन युनानी नगरों का जमाना और दूसरा मध्यकालिक नगरों का जमाना कहलाता है। उस समय के भ्रातृ-संघों और यूनानी जातियों में पारस्परिक सहयोग का इस प्रकार व्यवहार किया जाता था कि संघ-सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति-समूहों को काम करने की व्यापक स्वतंत्रता रहती थी। इसके विपरीत जब राज्य-संस्थाओं

के युग में उपर्युक्त संस्थाओं का ह्रास हुआ तो दोनों ही युगों में शीघ्रता के साथ समाज का पतन हुआ।

वर्त्तमान शताब्दी में एकाएक जो औद्योगिक उन्नति हुई है, उसके लिए बहुधा कहा जाता है कि इसका श्रेय व्यक्तिवाद और प्रतिस्पर्द्धा को है; किन्तु वास्तव मे इसके मूल में कहीं अधिक गहरे कारण हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में बड़े-बड़े आविष्कार हुए। खास कर इस बात का पता चला कि वायु-मण्डल में भारीपन होता है। ये आविष्कार मध्यकालिक नगरो के संगठन की अधीनता में ही हुए थे और प्रकृति-विज्ञान में होने वाली उन्नति से उनका समर्थन होता था। जब एक बार ये आविष्कार हुए तो यह जरूरी था कि स्टीम मोटर (वाष्प-यन्त्र) का आविष्कार भी होता और वह सब क्रान्ति होती जिसकी एक नवीन शक्ति पर विजय प्राप्त कर लेने की अवस्था में कल्पना की जा सकती है। यदि मध्यकालिक नगर अपने आविष्कारों को उस हद तक ले जाने के लिए जीवित रहे होते तो सम्भव था कि वाष्प-द्वारा हुई क्रान्ति के नैतिक परिणाम कुछ दूसरी ही तरह के होते, परन्तु कला-कौशल और विज्ञान में तो वही क्रान्ति अवश्य होती। निस्सन्देह, यह प्रश्न रह ही जाता है कि स्वतन्त्र नगरों के ह्रास के बाद आम तौर पर जो औद्योगिक अवनति हुई और १८ वीं शताब्दी के प्रथम भाग में जो विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती थी, उसने वाष्प-एंजिन के आविर्भाव को और उसके बाद कला-कौशल में होने वाली क्रान्ति को बहुत हद तक रोका अथवा नहीं। जब हम आर-

हवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक होने वाली बुनने, धातुओं के उपयोग करने, भवन-निर्माण करने और जहाजी विद्या में औद्योगिक उन्नति की आश्चर्यजनक तेज रफ्तार पर विचार करते हैं और उन वैज्ञानिक आविष्कारों के विषय में चिन्तन करते हैं जो पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में औद्योगिक उन्नति के कारण हुए तो हमें अपने मन से यह प्रश्न करना चाहिए कि मध्यकालिक सभ्यता के ह्रास के बाद युरोप केउद्योग-धन्धो में जो आम अवनति हुई उसकी वजह से तात्कालिक सफलताओं से पूरा-पूरा लाभ उठाने में मानव-जाति को देर हुई अथवा नहीं ? निश्चय ही चतुर कारीगरों का लोप, बड़े-बड़े नगरों की बर्बादी और उनके पारस्परिक व्यवहार का स्थगित हो जाना औद्योगिक क्रान्ति में सहायता नहीं पहुँचा सकता था। हमें इस बात का खूब पता है कि जेम्स वाट को बीस या बीस से अधिक वर्ष तक इसलिए इधर-उधर भटकना पड़ा कि उसने जो आविष्कार किया था, उसको कार्य-रूप में परिणत किया जा सके। जेम्स वाट को जो चीज मध्यकालिक फ्लोरेंस अथवा ब्रुगेस नगरों में आसानी से मिल जाती, वह अठारहवीं शताब्दी में नहीं मिली। कहने का मतलब यह कि उस समय ऐसे कारीगर नहीं थे, जो उसकी योजना के अनुसार कला-युक्त और बिल्कुल ठीक धातुओं के यन्त्र बना देते।

अतः वर्तमान शताब्दी की औद्योगिक उन्नति का श्रेय समष्टि के विरुद्ध होने वाले व्यक्ति के संघर्ष को देना ठीक उस आदमी की तरह तर्क करना है जो वर्षा होने के असली कारणों को तो

नहीं जानता और कहता है मिट्टी की मूर्ति के आगे मैंने जो बलिदान चढ़ाया है, उसके फल-स्वरूप वर्षा होती है। बात यह है कि प्रकृति को वश में करने के हर दूसरे प्रयत्न की भाँति औद्योगिक उन्नति के लिए भी पारस्परिक संघर्ष की अपेक्षा पारस्परिक सहयोग और घनिष्ठ सम्पर्क कहीं अधिक लाभदायक होता है। इस कथन की सत्यता का पता मानव-जाति के अब तक के इतिहास से भलीभाँति लग जाता है।

नैतिक क्षेत्र में

परन्तु यदि पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्त का पूरे अंशों में सर्वोपरि महत्व कहीं दिखाई देता है तो वह विशेषतः नैतिक क्षेत्र ही है। यह स्वयंसिद्ध है कि हमारे नैतिक विचारों का वास्तविक आधार-स्तम्भ पारस्परिक सहयोग है। पारस्परिक सहयोग की भावना या प्रवृत्ति के मूल उद्गम के सम्बन्ध में लोगो की चाहे कैसी भी राय क्यों न हों, चाहे प्राकृतिक कारणो को अथवा दैवी कारणों को उसका श्रेय दिया जाय, हमें उस भावना का प्राणी-संसार की निम्नतर अवस्थाओं तक में अस्तित्व दिखाई देता है। उन अवस्थाओं से लगाकर इस समय तक की मानव-विकास की सभी सीढ़ियों में विरोधी कारणों के काम करते रहने पर भी इस भावना के अबाधित विकास को हम देख सकते हैं। समय-समय पर जिन नवीन धर्मों की उत्पत्ति हुई, उन धर्मों ने भी केवल पारस्परिक सहयोग के उसी सिद्धान्त का फिर से समर्थन किया है। इन धर्मों को उत्पत्ति सदा ऐसे समय मे हुई जब कि रोम-सम्राज्य का सूर्य अस्त हो रहा था अथवा पूर्वीय धर्म-सत्ताओं

और एकतंत्री शासन पद्धतियों की अधीनता में पारस्परिक सह-योग के सिद्धान्त का ह्रास हो रहा था। इन धर्मों के सबसे पहले अनुयायी समाज के विनीत, निम्न और पददलित हिस्सों में पैदा हुए, जहाँ कि पारस्परिक सहयोग का सिद्धान्त दैनिक व्यवहार का आवश्यक आधार-स्तम्भ होता है। अत्यन्त प्राचीन बौद्ध और ईसाई समुदायों तथा मोरैवियन भ्रातृ-संघों आदि में संगठन के जो नये प्रकार जारी हुए, उन्होंने प्राचीन जातीय जीवन में प्रचलित पारस्परिक सहयोग के सर्वोत्तम स्वरूप को अपनाया।

साथ ही, हर बार जब कभी इस प्राचीन सिद्धान्त की ओर लौट जाने के प्रयत्न हुए, तभी उसके मूलभूत विचार को व्यापक बनाया गया। कुटुम्ब से जाति, जाति-संघों, राष्ट्रों और अन्त में, आदर्श के तौर पर ही सही, समस्त मानव-जाति तक पर यह सिद्धान्त लागू किया जाने लगा। साथ ही उसको सुसंस्कृत भी बनाया गया। प्रारम्भिक बौद्ध और ईसाई मजहब में, कुछ मुसलमान धर्म-गुरुओं के लेखों में, प्राचीन सुधार-आन्दोलनों और खास कर १८ वीं शताब्दी और वर्तमान समय के नैतिक और दार्शनिक आन्दोलनों में प्रतिशोध, या भलाई के बदले भलाई और बुराई के बदले बुराई के विचार को बिल्कुल त्याग देने के लिए अधिकाधिक जोर के साथ कहा गया है। बुरे कर्मों का बदला न लिया जाय और अपने पड़ोसियों से जितना मिलने की आशा हो, उससे भी अधिक स्वेच्छापूर्वक पड़ोसियों को देने की प्रवृत्ति रहे—इस तरह के उच्चतर विचार को नीति का सच्चा सिद्धान्त घोषित

नीति का आधार

किया जा रहा है। यह सिद्धान्त केवल समानता अथवा न्याय के सिद्धान्त की अपेक्षा कहीं उच्च और कल्याणकारी है। यह अपील की जाती है कि मनुष्य अपने व्यवहार में प्रेम का ही सहारा न ले जो कि सदा व्यक्तियों तक अथवा अधिक से अधिक जाति तक ही सीमित रहता है, बल्कि वह हरएक मानव-प्राणी को अपने ही समान समझे और तदनुसार आचरण करे। इस प्रकार पारस्परिक सहयोग के व्यवहार में, जिसका अस्तित्व विकास के प्राचीनतम काल में भी मिलता है, हमें नैतिक सिद्धान्तों का निश्चयात्मक और असन्दिग्ध मूल मिलता है। हम यह दावे के साथ कह सकते हैं कि मनुष्य की नैतिक उन्नति में पारस्परिक संघर्ष ने नहीं, बल्कि पारस्परिक सहयोग ने प्रमुख हिस्सा लिया है। इस समय भी हमें उसके व्यापक विस्तार में ही मानव-जाति के और भी उच्चतर विकास की सर्वोत्तम गारण्टी दिखाई देती है।

सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर के प्रकाशन

१—दिव्य-जीवन ।=)
२—जीवन-साहित्य (दोनों भाग) १)
३—तामिलवेद ।।।)
४—शैतान की लकड़ी अर्थात् व्यसन और व्यभिचार ।।।=)
५—सामाजिक कुरीतियाँ ।।।)
६—भारत के स्त्री-रत्न (दोनों भाग) १।।।-)
७—अनोखा ! १।=)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान ।।।-)
९—यूरोप का इतिहास (तीनों भाग) २)
१०—समाज-विज्ञान १।।)
११—खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र ।।।≡)
१२—गोरों का प्रभुत्व ।।।=)
१३—चीन की आवाज़ ।-) (अप्राप्य)
१४—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह (दो भाग) १।)
१५—विजयी बारडोली २)
१६—अनीति की राह पर ।≡) (गांधीजी) ।≡)
१७—सीताजी की अग्नि-परीक्षा ।-)
१८—कन्या-शिक्षा ।)
१९—कर्मयोग ।=)
२०—कलवार की करतूत =)
२१—व्यावहारिक सभ्यता ।)।।
२२—अँधेरे में उजाला ।≡)
२३—स्वामीजी का बलिदान ।-)
२४—हमारे ज़माने की गुलामी ।)
२५—स्त्री और पुरुष ।।)
२६—घरों की सफाई ।) (अप्राप्य)
२७—क्या करें ? (दो भाग) १।।=)
२८—हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य) ।।=)
२९—आत्मोपदेश ।)
३०—यथार्थ आदर्श जीवन (अप्राप्य) ।।-)

३१—जब अंग्रेज नहीं आये थे— ।)
३२—गंगा गोविन्दसिंह ॥=) (अप्राप्य)
३३—श्रीरामचरित्र १।)
३४—आश्रम-हरिणी ।)
३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)
३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त ॥)
३७—महान् मातृत्व की ओर— ।॥=)
३८—शिवाजी की योग्यता ।=) (अप्राप्य)
३९—तरंगित हृदय ,, ॥)
४०—नरमेध १॥)
४१—दुखी दुनिया ॥)
४२—जिन्दा लाश ॥)
४३—आत्म-कथा (गांधीजी) दो खण्ड सजिल्द १॥)
४४—जब अंग्रेज आये (जब्त) १।=)
४५—जीवन-विकास अजिल्द १।) सजिल्द १॥)
४६—किसानों का बिगुल =) (ज़ब्त)
४७—फाँसी ! ॥)
४८—अनासक्तियोग तथा गीताबोध ।=)
अनासक्तियोग =)
गीताबोध—(श्लोक-सहित) -)॥
४९—स्वर्ण-विहान (नाटिका) (ज़ब्त) ।=)
५०—मराठों का उत्थान और पतन २॥) स०जि० ३)
५१—भाई के पत्र १॥) सजिल्द २)
५२—स्व-गत— =)
५३—युग-धर्म (जब्त) १=)
५४—स्त्री-समस्या १॥) सजिल्द २)
५५—विदेशी कपड़े का मुक़ाबला ॥=)
५६—चित्रपट ।=)
५७—राष्ट्रवाणी ॥=)
५८—इंग्लैण्ड में महात्माजी १)
५९—रोटी का सवाल १)
६०—दैवी सम्पद् ।=)
६१—जीवन-सूत्र ॥)
६२—हमारा कलंक ॥=)
६३—बुद्बुद ॥)
६४—संघर्ष या सहयोग? १॥)